

आचार्य श्री १०८ विशुद्धसागर जी कृत

॥ स्वरूप देशना ॥

स्वरूप देशना विमर्श

आचार्य श्री भद्र अकलंकदेव विरचित

स्वरूप-सम्बोधन



(स्वरूप देशना)

आचार्य विशुद्धसागर

कृतियाँ

- बोधि-संचय
- अमृत-बिन्दु
- अर्हत्-सूत्र
- देशना-बिन्दु
- देशना-संचय
- तत्त्व-बोध
- आइना
- विशुद्ध मुक्ति पथ
- विशुद्ध काव्याञ्जलि
- विशुद्ध वचनमृत
- अध्यात्म प्रमेय
- आत्मारधना

साहित्य पर आधारित अन्य कृतियाँ

- समाधितंत्र इष्टोपदेश समीक्षा
- पुरुषार्थ देशना अनुशीलन
- अध्यात्म देशना अनुशीलन
- तत्त्व देशना समीक्षा
- स्वरूप सम्बोधन परिशीलन विमर्श
- सर्वोदयी देशना समीक्षा
- समय देशना मीमांसा
- स्वरूप देशना विमर्श

जीवन-वृत्त

- आदर्श-श्रमण
- अध्यात्म का सरोवर
- प्रत्यग्-आत्मदर्शी
- अध्यात्म योगी
- स्वसंवेदी-श्रमण
- विशुद्ध-दर्शन

आचार्य श्री १०८ विशुद्धसागर जी कृत

॥ स्वरूप देशना ॥

स्वरूप देशना विमर्श



कृति : **स्वरूप देशना विमर्श**
(परम पूज्य आचार्य श्री विशुद्ध सागर जी कृत
स्वरूप देशना पर आयोजित संगोष्ठी में
उपस्थित विद्वानों के विचार-विमर्श पर संयोजित ग्रंथ)

सम्पादक : एड. अनूपचन्द जैन, फिरोजाबाद

प्रकाशक : अखिल भारतीय श्रमण संस्कृति सेवा समिति

मूल्य : स्वाध्याय

पुण्यार्जक : नागेन्द्र कुमार सन्दीप कुमार पाटनी
पाटनी निवास, 6/94 बेलनगंज, आगरा

एड. कमल कुमार ऋषभ कुमार गोधा
06/101, बेलनगंज, आगरा

विजय कुमार संजय कुमार बैनाड़ा
21/12, फ्रीगंज, आगरा

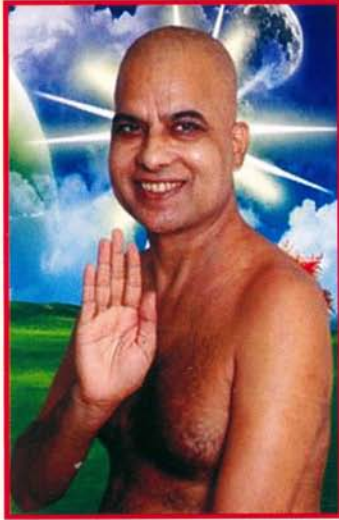
एड. राजेन्द्र कुमार सौरभ जैन
06/363, बेलनगंज, आगरा

प्राप्ति स्थान : 1. राजेन्द्र कुमार जैन एडवोकेट
6/363 बेलनगंज, आगरा (उ.प्र.) मो. 9412300059

2. यतेन्द्र कुमार जैन (सी.ए.)
संजय प्लेस, आगरा (उ.प्र.) मो. : 9997773338

मुद्रक : अनिल कुमार जैन
चन्द्रा कॉपी हाउस,
हॉस्पिटल रोड, आगरा (उ.प्र.)
मो० 9412260879

मंगलाशीष



परम पूज्य न्याय चूड़ामणि, न्यायाचार्य श्री भट्ट अकलंक देव ने 'स्वरूप-सम्बोधन' कृति के द्वारा जो आत्म सम्बोधन के साथ न्याय दर्शन को समझाते हुए गागर में सागर भरा है, वह अद्वितीय है।

आचार्य श्री विशुद्धसागर जी ने अपनी सरल शैली में इसे आबाल-गोपाल को परोसा है, वह प्रशंसनीय है। वे पर हितकारी न्याय को टंकोत्कीर्ण बनाते हुए जनमानस में व्याप्त अज्ञान-तिमिर को दूर करते रहें, यही मेरा उन्हें शुभाशीष है।

-गणाचार्य विरागसागर

सानिध्य



परम पूज्य आचार्य श्री 108 विशुद्ध सागर जी महाराज

चित्रमय झांकी



परम पूज्य आचार्य श्री 108 विशुद्ध सागर जी महाराज ससंघ मंच पर विराजमान



संगोष्ठी के अवसर पर पुस्तक का विमोचन करते विद्वतजन

चित्रमय झांकी

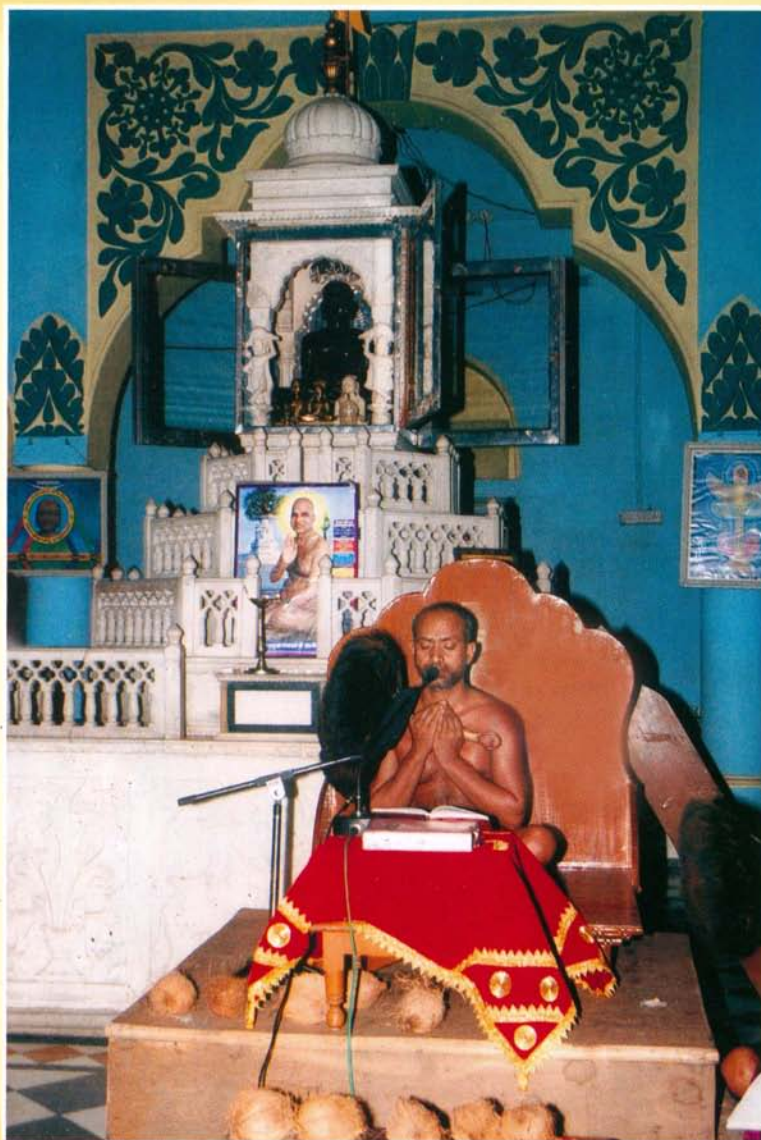


संगोष्ठी में उपस्थित विद्वानों को वक्तव्य देते प.पू. आचार्य श्री 108 विशुद्ध सागर जी मुनिराज



संगोष्ठी के अवसर पर पुस्तक का विमोचन करते विद्वतजन

चित्रमय झांकी



कचौड़ा बाजार, आगरा प्रवास में उपदेश देते परम पूज्य आचार्य श्री
(दिनांक 31.10.2012 से 01.11.2012 तक)



कचौड़ा बाजार, आगरा संसंघ प्रवास में उपदेश देते परम पूज्य आचार्य श्री विशुद्ध सागर जी मुनिराज
 (दिनांक 31.10.2012 से 01.11.2012 तक)

एक सफल सार्थक संगोष्ठी

स्वरूप देशना-मेरी दृष्टि में

बात 3-4 साल पुरानी है, झाँसी के पास स्थित जैन तीर्थ करगुवाँजी में आचार्य श्री विशुद्ध सागर जी के सानिध्य में एक विद्वत् संगोष्ठी आयोजित की गयी थी जिसका समाचार जैन पत्र में प्रकाशित हुआ था। आचार्य श्री आज के युग में रत्नत्रय के सफल साधक हैं। ऐसी चर्चा मैं स्व० नीरज जी से तथा अन्य विद्वानों से सुन चुका था। उनके यहाँ से प्राप्त साहित्य को भी पढ़ चुका था। इसलिए मन में यह भावना थी कि संगोष्ठी में श्रोता के रूप में अवश्य जाऊँ। लेकिन व्यस्तताओं के कारण यह सम्भव नहीं हो सका। अप्रैल-मई 2012 में आचार्य श्री विराग सागर जी मुनिराज की स्वर्ण जयंती जयपुर में आयोजित की गयी। जिसमें उनके सभी प्रमुख शिष्य एक साथ एकत्रित हुए थे और लगभग 200 पिच्छियों का समागम था। इस अवसर पर आयोजित विद्वत् संगोष्ठी में मैं भी आमंत्रित था और जब संगोष्ठी के तीनों दिन रात्रिकालीन सत्र की अध्यक्षता मैंने की तब अध्यक्षीय उद्बोधन के साथ ही आचार्य श्री विशुद्ध सागर जी को मैंने क़रीब से देखा। अगले दिन प्रातःकाल के सत्र में मैंने संक्षेप में अपने शोध पत्र का वाचन किया और जब मैं अपने स्थान पर बैठने जा रहा था तभी आचार्य श्री विशुद्ध सागर जी महाराज ससंध का दर्शन प्राप्त हुआ। मुझे ऐसा लगा कि कोई अमूल्य वस्तु प्राप्त हो गयी हो और उस दिन आहारचर्या के बाद उनके कक्ष में उनका वात्सल्य पूर्ण सानिध्य प्राप्त करने में मैं सफल रहा।

संयोग से आचार्य श्री विशुद्ध सागर जी का 2012 का वर्षायोग आगरा के प्रमुख जैन क्षेत्र छीपीटोला में स्थापित हुआ। प्राचार्य नरेन्द्र प्रकाश जी के साथ 2-3 बार जाने की भूमिका बनी और वहीं अक्टूबर में आयोजित संगोष्ठी का संयोजक मुझे मनोनीत कर दिया गया। पूज्य आचार्य श्री के सानिध्य में पिछले वर्ष में आयोजित संगोष्ठियाँ स्तरीय हुई थीं यह पता उन प्रकाशनों से लगा जो संगोष्ठियों के बाद प्रकाशित हुए। अतः मन में सहमा-सहमा सा किन्तु दृढ़तापूर्वक संयोजन को मैंने अपने हाथ में लिया और देश के लगभग 70-80 वरिष्ठ विद्वानों को विषय के साथ आमंत्रण पत्र भेजे। प्रसन्नता इस बात की है कि लगभग 50 विद्वानों की स्वीकृतियाँ हमें प्राप्त हुईं। दिनांक 13, 14, 15 अक्टूबर को आयोजित इस विद्वत् संगोष्ठी में देश के जिन प्रमुख विद्वानों ने भाग लिया उनमें प्राचार्य नरेन्द्रप्रकाश जैन, स्व० श्री नीरज जी जैन सतना, श्री निर्मल जैन सतना, डा० रतन चन्द्र जैन

भोपाल, डा० शीतल चन्द्र जैन जयपुर, पं० शिवचरन लाल मैनपुरी, डा० सुशील जैन मैनपुरी, डा० भागचन्द्र जैन भास्कर, डा० शेखर चन्द्र जैन अहमदाबाद, डा० श्रेयांश सिंघई जयपुर, डा० अनेकान्त जैन दिल्ली, डा० फूलचन्द्र प्रेमी दिल्ली, डा० नरेन्द्र कुमार जैन गाजियाबाद, पं० पवन कुमार दीवान मुरैना, डा० सुशील जैन एवं ब्रह्मचारी जयकुमार जैन निशांत सहित लगभग 40 शीर्षस्थ विद्वानों ने इस संगोष्ठी में सहभागिता की।

आचार्य विशुद्ध सागर जी महाराज अपनी तरह के अनूठे और अलबेले श्रमण हैं। इतनी कम उम्र में जैन दर्शन और सिद्धान्त में उनकी गहरी पैठ हो गयी है। प्रायः वे कहते हैं:-

**“कोई कहे कछु है नहीं, कोई कहत कछु है,
है न है के बीच में जो है, सो है।”**

आचार्य श्री जी की स्वरूप देशना पर आयोजित यह संगोष्ठी इतनी कमाल की हुई कि आगरा वालों को कहना पड़ा कि इतिहास में पहली बार ऐसी संगोष्ठी आयोजित की गयी है। 13 अक्टूबर को अखिल भारतवर्षीय धर्म संरक्षिणी महासभा के राष्ट्रीय अध्यक्ष निर्मल कुमार सेठी एवं आगरा के सुप्रसिद्ध उद्योगपति प्रदीप जैन ने चित्र अनावरण एवं दीप प्रज्वलन के साथ इस संगोष्ठी का उद्घाटन किया। 13, 14, 15 अक्टूबर में आयोजित 8 सत्रों की विशेषता यह थी कि श्रोताओं की उपस्थिति हॉल में खचाखच रहती थी। विषय पर गम्भीर मंथन हुआ और लगभग सभी विद्वानों ने अपने आलेखों का वाचन किया इस अवसर पर अकलंक ग्रंथ, त्रयम एवं योगसार “अध्यात्म देशना” अनुशीलन का विमोचन भी हुआ। पूज्य आचार्य श्री के सानिध्य में सम्पन्न हुई इस संगोष्ठी का संयोजन एवं संचालन मेरे द्वारा किया गया जिसे मैं अपने लिए एक उपलब्धि मानता हूँ। वर्षायोग समिति एवं छीपीटोला जैन समाज ने सभी विद्वानों का भावपूर्ण सत्कार किया।

संगोष्ठी में वाँचे गये आलेखों का यह संग्रह अब पुस्तिका के रूप में आपके सामने प्रस्तुत है। इससे संगोष्ठी का महत्व बढ़ेगा और संगोष्ठी यादगार बनेगी।

मैं आशा करता हूँ कि इन आलेखों से भविष्य में होने वाली संगोष्ठियाँ भी आगे का स्वर्णिम इतिहास लिखेंगी। इसी आशा और भावना के साथ मैं परम पूज्य आचार्य श्री के चरणों में अपना विनम्र प्रणाम निवेदित करता हूँ।

अनूपचन्द्र जैन (एडवोकेट)

सम्पादक

मनोभावना

—एड. राजेन्द्र कुमार जैन, आगरा

परम पूज्य गणाचार्य श्री 108 विराग सागर जी महाराज के परम शिष्य परम पूज्य आचार्य श्री 108 विशुद्ध सागर जी महाराज जो श्रमण संस्कृति के सम्प्रति साधकों में पंचाचार-परायण, शुद्धात्म-ध्यानी, स्वात्म-साधना के सजग प्रहरी, आलौकिक व्यक्तित्व एवं कृतित्व के धनी, आगमोक्त श्रमण-चर्या पालक, समयसार के मूर्त रूप, निष्पृह भावनाओं से ओतप्रोत, तीव्राध्यात्मिक-अभिरूचियों, वीतराग-परिणतियों एवं वात्सल्यमयी प्रवृत्तियों से परिपूरित, चलते-फिरते चैतन्य तीर्थ श्रेष्ठ, प्रातः स्मरणीय अध्यात्मयोगी, सिद्धांत तत्वेत्ता, तार्किक शिरोमणी का ससंघ वर्षायोग उत्तर प्रदेश के महानगर जो पं. बनारसीदास, पं. दानतराय जी, पं. दौलतरामजी व पं. भूधरदासजी आदि की नगरी आगरा में वर्ष-2012 में हुआ। आगरा का दिगम्बर जैन समाज धन्य हो गया।

आचार्य श्री का प्रथम दिन लघु उद्बोधन श्री 1008 शान्तिनाथ दि. जैन जिनालय, हरीपर्वत पर श्रवण कर श्रीसंघ के दर्शन कर मैं इतना प्रभावित हुआ कि नित्य दर्शन करने की भावना बना ली। कुछ दिन उपरांत पं. वीरेन्द्र शास्त्री मुझे आचार्य श्री की समयसार की नित्य वाचना में छीपीटोला ले गये। वहाँ पर आचार्य श्री का समयसार पर मूर्त रूप व तार्किक विश्लेषण सरल भाषा में सुना तथा वहाँ उपस्थित धर्मनिष्ठ एवं प्रबुद्ध लोगों को यह कहते हुए भी सुना कि हम लोग समयसार से बचते थे परन्तु आचार्य श्री के सानिध्य में हम लोगों का समयसार का वास्तव में सरलसार के रूप में अध्ययन हो रहा है। यह आचार्य श्री की विद्वता का परिचायक है। मैं भी स्वयं समयसार की वाचना में जाता रहा।

नगर के प्राचीन एवं यमुना तलहटी पर स्थित श्री पारसनाथ दिगम्बर जैन बड़ा मन्दिर व धर्मशाला, बेलनगंज में आचार्य श्री का ससंघ आगमन हुआ। यद्यपि कालांतर में यहाँ चारित्र चक्रवर्ती आचार्य श्री शांतिसागरजी, आचार्य श्री देशभूषणजी, आचार्य श्री महावीरकीर्ति जी, आ. श्री विमलसागर जी, आ. विद्यानंद जी, आ. तपस्वी सम्राट सन्मति सागर जी, आ. विद्यासागर जी, आ. कुन्धुसागर जी, आचार्य संभवसागरजी एवं अन्य सभी दिगम्बर जैन संघों का प्रवास हो चुका है। वर्तमान में पुराने शहर वासियों का नये क्षेत्रों में पलायन करने से व्यवस्थाओं के निर्वहन में कठिनाइयाँ आने लगीं मैं स्वयं व मेरे साथीगण इस बात को लेकर चिंतित थे कि इतने बड़े संघ की व्यवस्था कैसे होगी लेकिन आचार्य श्री के श्री चरणों के प्रभाव से व सभी धर्म प्रेमी बन्धुओं के सहयोग से सभी कार्य गौरवपूर्ण सम्पन्न हुए। महत्वपूर्ण है कि आचार्य श्री के प्रवास के दौरान स्वयं 19 परिवारों के द्वारा चर्या

(iii)

व्यवस्था की गयी। संघचर्या व प्रवचनों के समय समाज का उत्साह देखते ही बनता था, सही अर्थों में आचार्य श्री के अति अल्प प्रवास में श्री पारसनाथ दिगम्बर जैन मन्दिर, कचौड़ा बाजार एक पवित्र तीर्थ नजर आ रहा था। आचार्य श्री ने उक्त मन्दिर के नीचे रिक्त हुए स्थान की शुद्धि कराई जहाँ पर समाज द्वारा ध्यान केन्द्र बनाने की योजना है। जिसके लिए आचार्य श्री ने आशीर्वाद दिया। आचार्य श्री के संघ में मैंने जो धर्म अध्ययन, अनुशासन, समयबद्धता व आत्मा में लीन रहने की जो साधना देखी वह सदैव दर्शनीय अनुकरणीय है।

आचार्यश्री ने समाज के आग्रह पर दशलक्षण पर्व पर डा. हर्षवर्धन मेहता, सोलापुर व अन्य ब्रह्मचारियों को दश धर्मों पर प्रकाश डालने हेतु बेलनगंज चौराहा स्थित श्री पारसनाथ दिगम्बर जैन छोटा मन्दिर पर वाचना हेतु निर्देशित किया। समाज को विशेष धर्म लाभ हुआ।

आचार्य श्री सदैव प्रत्येक दिगम्बर जैन साधु की समर्पित भाव से बिना किसी भेदभाव के सेवा-सुश्रुषा करने के लिए समस्त समाज को प्रेरित करते हैं। यह श्रमणोत्तम आदर्श चरित्र का उत्कृष्ट उदाहरण है।

दिनांक 13,14,15 अक्टूबर 2012 में जो विद्वत् संगोष्ठी हुई और इस संगोष्ठी में विषय विशेष पर आचार्य श्री के सानिध्य में जो गंभीर मंथन व चिंतन हुआ ऐसा मैंने कभी नहीं देखा यह भविष्य में दिगम्बर जैन धर्म की रक्षा एवं एकरूपता हेतु प्रेरणादायक है।

आचार्य श्री एवं समस्त संघ के पावन चरणों में कोटि-कोटि नमोस्तु।

गणाचार्य 108 श्री विराग सागर जी	'मंगलाशीष'	
एड. श्री अनूप चन्द्र जैन	सम्पादकीय	
एड. राजेन्द्र कुमार जैन	मनोभावना	
पं० श्री रतनलाल शास्त्री, इन्दौर	"स्वरूप देशना"	1
1. प्रो. श्री श्रीयांश कुमार सिंघई, जयपुर		
"स्वरूप संबोधन परिशीलन के परिप्रेक्ष्य में द्रव्य स्वरूप की अवधारणा"		3-11
2. पं० श्री शिवचरन लाल जैन, मैनपुरी (उ० प्र०)		
"तत्त्व निर्णय में न्याय-शास्त्र की उपयोगिता: स्वरूप देशना के परिप्रेक्ष्य में"		12-23
3. प्राचार्य डा० श्री शीतल चन्द्र जैन, जयपुर (राज०)		
"स्वरूप देशना की विधि-निषेध शैली पर एक दृष्टि"		24-27
4. प्रो. डा० श्री रतनचन्द्र जैन, भोपाल (म० प्र०)		
"स्वरूप देशना के परिप्रेक्ष्य में विशुद्धभावों की उत्पत्ति में सम्यग्ज्ञान की भूमिका"		28-30
5. प्रो० डा० श्री फूलचन्द्र जैन, प्रेमी, दिल्ली		
"परभाव से भिन्न आत्मस्वभाव: स्वरूपदेशना के परिप्रेक्ष्य में"		31-36
6. पं० श्री निर्मल जैन, सतना (म० प्र०)		
"आचार्य श्री अकलंकदेव का व्यक्तित्व एवं कृतित्व"		37-42
7. एडवोकेट श्री अनूप चन्द्र जैन, फिरोजाबाद (उ० प्र०)		
"आचार्य श्री विशुद्ध सागर जी का व्यक्तित्व एवं कृतित्व"		43-54
8. डा० श्री नरेन्द्र कुमार जैन, गाजियाबाद		
"स्वरूप संबोधन का वैशिष्ट्य और स्वरूप देशना"		55-64
9. डा० श्री अनेकान्त कुमार जैन, नई दिल्ली		
"स्वरूप देशना में क्रांतिकारी आध्यात्मिक सूक्तियाँ"		65-69
10. डा० श्री सुशील चन्द्र जैन, मैनपुरी (उ० प्र०)		
"स्वरूप देशना में चेतन द्रव्य की स्वतंत्रता"		70-77
11. डा० श्री सुमत कुमार जैन, जयपुर		
"स्वरूप संबोधन में वर्णित आत्म स्वरूप की विभिन्न विवक्षा"		78-83

12. डा० श्री भागचन्द्र जैन 'भास्कर'
"स्वरूप देशना के परिप्रेक्ष्य में सिद्ध परमात्मा मुक्त हैं
या अमुक्त एक ऊहापोह" 84-89
13. श्रमण मुनिश्री सुप्रम सागर जी
"द्रव्य दृष्टि पर्याय-दृष्टि: स्वरूप देशना के परिप्रेक्ष्य में" 90-114
14. पं० डा० श्री रमेश चन्द्र जैन, मुरार (ग्वालियर)
"स्वरूप देशना में सुक्तियाँ एवं नीति वाक्य" 115-132
15. पं० श्री सोनल के. शास्त्री
"स्वरूप देशना में प्रमाण-प्रमेय व्याख्या" 133-140
16. डा० शेखर चन्द्र जैन, अहमदाबाद (गुजरात)
"मिथ्यात्व की कसमात: स्वरूप देशना के आलोक में" 141-150
17. पं० श्री राजेन्द्र कुमार 'सुमन' सागर (म० प्र०)
"स्वरूप देशना में द्वैत - अद्वैत भाव" 151-161
18. इंजी. श्री दिनेश जैन, भिलाई
"स्वरूप देशना में श्रावकाचार की व्यवस्था" 162-167
19. पं० श्री वीरेन्द्र कुमार जैन 'शास्त्री' आगरा (उ० प्र०)
"स्वरूप देशना में कषाय एवं परिणाम विशुद्धि एक दृष्टि" 168-177
20. डा० सनत कुमार जैन, जयपुर (राज०)-
"आचार्य अकलंक देव द्वारा रचित कृतियों में
स्वरूप-संबोधन का वैशिष्ट्य" 178-181
21. डा० सुशील जैन, कुरावली "द्रव्य स्वतंत्रता- अनुचिन्तन" 182-186
22. पं० श्री हजारि लाल जैन, आगरा (उ० प्र०)
"मोहाविष्ट एवं भूताविष्ट पर एक दृष्टि" 187-190
23. पं० श्री निहाल चन्द्र 'चन्द्रेश' ललितपुर (उ० प्र०)
"स्वरूप देशना में जिनशासन - नमोऽस्तु शासन" 191-195
24. श्री प्रदीप कुमार जैन, मुंबई (महाराष्ट्र)
"स्वरूप-देशना की जीवन में उपयोगिता एवं महत्त्व" 196-200
25. ब्र० श्री जयकुमार जी निशांत-
"स्वरूप देशना में- मंगलाचरण वैशिष्ट्य" 201-211
26. पं० श्री पवन कुमार जैन शास्त्री-
"स्वरूप-देशना मेरी दृष्टि में" 212-246

स्वरूप सठबोधन

(स्वरूप देशना)

ता. 22.05.2010 से 28.06.2010 तक

स्थान:

श्री दि० जैन उदासीन श्राविकाश्रम समवशरण जिन मंदिरजी,
तुकोगंज, इंदौर

मूल: आचार्य श्री भट्ट अकलंक देवजी

व्याख्याता: आचार्यश्री विशुद्ध सागरजी

यह ग्रंथ न्याय का अद्भुत ग्रंथराज है। गागर में सागर समान, अनंतधर्मात्मक आत्मा आदि द्रव्यों की विवेचना बहुत ही सरल दृष्टान्तों के द्वारा आचार्यश्री ने भव्यों को अमृत रूप में पान कराया है। यद्यपि वक्तृत्व शैली उत्तम होने पर भी श्रोता भव्यात्माओं को हृदयंगम करने हेतु ज्ञान को प्रशस्त करना परम आवश्यक है। ग्रंथराज में द्वादशांग का साद है। चारों अनुयोगों में प्रवेश की 'मास्टर की' है। अनेकानेक उदाहरणों द्वारा वस्तु स्वरूप को भलीभाँति समझाया गया है। फिर भी श्रोताओं को अपनी-अपनी पात्रतानुसार ही आत्मसात होगा। ग्रंथराज का आद्योपांत बारम्बार पठन और मनन करना जरूरी है। प्रत्येक श्लोक पर व्याख्या लगभग 15 पृष्ठों की तो है ही। "स्वरूप देशना" ग्रंथराज का प्रतिज्ञाबद्ध होकर अवश्य ही चिंतवन/मंथन निरन्तर करते रहने से ही आत्मशांति व कल्याण का मार्ग प्रशस्त होगा। स्याद्वाद के गुरुमंत्र से सम्पन्न श्रमणों का महान उपकार है। करुणा का ही प्रतिफल है कि ऐसी अद्भुत स्वरूप देशना स्व-पर कल्याण कारक कृति प्रस्तुत की गई। बारम्बार पठन, मनन, चिंतवन करना ही उन उपकारी ज्ञानी जीवों के प्रति विनयांजलि होगी, उपकार स्मरण होगा, कृतज्ञता ज्ञापित होगी।

सुखाभिलाषी,

—पं० रतनलाल शास्त्री
इन्द्र भवन, इन्दौर



णमोकार महामंत्र

णमो अरिहंताणं
णमो सिद्धाणं
णमो आयरियाणं
णमो उवज्झायाणं
णमो लोए सव्वसाहूणं

स्वरूप सम्बोधन परिशीलन के परिप्रेक्ष्य में द्रव्य स्वरूप की अवधारणा

—प्रो० श्रीयांशुकुमार सिंघई, जयपुर

“स्वरूप सम्बोधन पञ्चविंशतिः” आचार्य श्रीमद् भट्ट अकलंकदेव द्वारा रचित ऐसी कृति है जहाँ गागर में सागर समाया हुआ दिखाई देता है। जैनवाङ्मय बहुविध प्ररूपणाओं का वह विशाल आगर है जहाँ बहुविध प्राणियों के जीवन मूल्य इंगित हैं। यदि संकेत ग्राही कोई भी संज्ञी प्राणी सावधान होकर अपनी बुद्धि वहाँ केन्द्रित कर ले तो वह स्वरूपावबोधन के रास्ते पुरुषार्थ करके परमात्मा बन सकता है। मात्र पच्चीस लघु छन्दों में निबद्ध निज स्वरूप के अभिज्ञान की जिज्ञासा से सम्पन्न कोई भी विज्ञ श्रावक जब इस कृति को हृदयङ्गम करता है तो उसका मन मयूर नाचने लगता है और भौतिक चकाचौंध से परे होकर शास्त्रबोधजन्य पाण्डित्य के भार को उतार फेंकने की प्रेरणा पा जाता है। अपार शास्त्रज्ञान भी तभी सार्थक होता है जब लक्ष्य केन्द्रित निज आत्म तत्त्व का परिज्ञान संभव हो जाये। आचार्य अकलंक ने स्वरूप सम्बोधन के उपदेशामृत को इस लघु कृति में इस तरह से पुरुस्कृत किया है कि जिज्ञासु उसकी उपेक्षा कर ही नहीं सकता है। उपदेश का कलेवर इतना छोटा है कि समयाभाव का बहाना भी यहाँ ग्राह्य नहीं है। भाषा की दुरुहता का भी कोई कारण मौजूद नहीं है। सरलता एवं मिठास से भरे इस अमृतोपम उपदेश को हर सरल हृदय जन समझ सकता है।

उपदेश के प्रमेय का बीजारोपण, अंकुरण, विकास और फलागम बोध यहाँ उस चतुर चेता को अवश्य हो सकता है जो मोहन्धता, कर्तृत्वाहंकारिता, पराभिज्ञान की भ्रूच्छा, पराश्रित आनन्द लाभ की चाह आदि के बोझ को उतार कर फेंक दे और व्याकुल हुए बिना स्वयं निज स्वरूप को जान लेने के अभियान में आनन्दित होता चला जाये।

स्वरूप देशना आचार्यश्री विशुद्ध सागर जी के प्रवचनों का संकलन है। यहाँ उनके प्रवचनों का मुख्य प्रमेय स्वरूप सम्बोधन पञ्चविंशति का अमृतोपदेश ही है। आचार्य अकलंक का अमृतोपम उपदेश पाठक को स्वरूप सम्बोधन की सुध कराता हुआ और आचार्य विशुद्ध सागर जी की वाग् उपासना के परिणाम स्वरूप विशुद्ध होता हुआ मानो उनके श्रोताओं, पाठकों की विशुद्धि के लिए सशक्त निमित्त कारण बन गया है।

आचार्य अकलंक ने स्वयं स्पष्ट कर दिया है कि जो कोई भी प्रदत्त उपदेश के अनुसार स्वतत्त्व को जानने की भावना करके इस वाङ्मय को वाँचता है या

स्वरूप देशना विमर्श —————

उसका कथन करता है और आदर से सुनता है तो स्वरूप सम्बोधन पञ्चविंशति उसके लिए परमात्म सम्पदा को प्रगट कर देती है मानों परमात्मा बनने की सम्पदा उसे यहाँ परमात्मा बनने की भावना के रूप में सुलभ हो जाती है।

मंगलाचरण श्लोक में आचार्य अकलंक उपदेश का जो बीजारोपण करते हैं वह अपने आप में अत्यधिक महत्त्व संधारित किये हुए है। द्रव्य स्वरूप की सम्यक् जानकारी से ही वह हमें अभिज्ञात होकर स्वरूप सम्बोधन की भावना से भर देता है। आचार्य अकलंक लिखते हैं— ज्ञानावरणादिक द्रव्य कर्मों, शरीरादि नो कर्मों एवं मोहादिक भावकर्मों से छोड़ा गया (कर्मभिः मुक्तः) तथा ज्ञानादि गुणपर्यायधर्मों से कभी भी न छोड़ा गया (संविदादिनाऽमुक्तः) जो आत्मा है वह उभय परिस्थितियों में एक रूप ही है उसको ही ज्ञानमूर्ति अक्षय परमात्मा कहते हैं मैं ऐसे ज्ञानमूर्ति अक्षय परमात्मा स्वरूप अपने आत्मा को प्रणाम करता हूँ। यह ही यहाँ स्वरूप सम्बोधन लिए जिज्ञासु के मन में अपनी आत्मा को जानने रूप भावना का बौद्धिक बीजारोपण है।

आचार्यश्री विशुद्ध सागर जी ने भी अपने व्याख्यान में मङ्गलाचरण की यथार्थता को उजागर करने के बाद उपर्युक्त वैशिष्ट्य को समझाया है⁴ तथा जीव की मुक्त एवं अमुक्त दशा में व्यापृत द्रव्यों की स्वतंत्रता को उजागर करने के लिए वे कहते हैं— यहाँ पर यह विषय अच्छी तरह समझ में आ गया होगा कि जब पुद्गल (कर्म) का बन्ध दो ध्रुव भिन्न द्रव्यों के साथ है, जब दोनों का विभक्त भाव होगा तब दोनों का अभाव नहीं होगा वैसी अवस्था में दोनों द्रव्य पर सम्बन्ध से रहित होकर स्वतन्त्रपने को प्राप्त होते हैं। जड़मतियों ने मोक्ष का अर्थ अभाव समझकर स्वअज्ञता का परिचय दिया है, द्रव्य का अभाव होता ही नहीं, द्रव्य का लक्षण ही सत् है।⁴ यहाँ पंचास्तिकाय की निम्नगाथा उद्धृत करके द्रव्य स्वरूप को समझाने का उद्यम उन्होंने किया है—

“द्वं सल्लखणियं उप्पादव्यधुवत्तसंजुतं।

गुणपज्जयासयं वा जं तं भण्णाति सव्वण्हू॥”⁵

अर्थात् जो सत् लक्षणवाला है। उत्पाद, व्यय व ध्रौव्य से संयुक्त है अथवा जो गुण पर्यायों का आधार है उसे सर्वज्ञदेव द्रव्य कहते हैं। यथार्थ में द्रव्य की सत्ता ही द्रव्य का लक्षण है। जैसे आर्द्र दीवार पर रज कण लगे होते हैं, दीवार के सूखने पर रजकण स्वयमेव विगलित हो जाते हैं उसी प्रकार से आत्मा के राग की आर्द्रता से कर्मकण लग जाते हैं। वीतरागभाव यथाख्यात चारित्र के बल से वे कर्मकण पृथक् हो जाते हैं अथवा यों कहें कि जिस प्रकार अग्नि के माध्यम से स्वर्ण को पृथक्

कर लिया जाता है उसी प्रकार परम तपोधन वीतराग योगी ध्यानाग्नि के माध्यम से कर्मकिट्टिमा को पृथक् कर शुद्धात्म तत्त्व को प्राप्त कर लेते हैं ।

द्रव्य लक्षण की विवेचना आचार्यश्री विशुद्ध सागर जी ने आचार्य अकलंक के निम्न श्लोक के प्रवचन में प्रस्तुत की है—

“सोऽस्त्यात्मा सोपयोगेऽयं क्रमाद्धतुफलावहः।

यो ग्राह्योऽग्राह्यनाद्यन्तः स्थित्युत्पत्तिव्ययात्मकः॥”

यहाँ आत्मद्रव्य की विवेचना के क्रम में आत्मा को स्थिति (धौव्य), उत्पत्ति (उत्पाद) और व्यय स्वरूप वाला बताया गया है। जिसे समझाने का सार्थक प्रयत्न स्वरूप देशना में अभिलक्षित होता है। पंचास्तिकाय, तत्त्वार्थ सूत्र और सर्वार्थसिद्धि के वचनों से प्रभावक प्रवचनकार आचार्य विशुद्ध सागर जी कह रहे हैं—

“यहाँ वस्तु स्वरूप की गवेषणा से यह निष्कर्ष निकला कि आत्मा उभयधर्मी है— ग्राह्य भी है अग्राह्य भी है। यह नय सापेक्ष है निरपेक्ष रूप से नहीं है और वह आत्मा कैसी है। अनाद्यन्त है। द्रव्य की द्रव्यता त्रैकालिक है, द्रव्य का उत्पाद नहीं होता, व्यय नहीं होता जो उत्पाद व्यय होता दिखता है, वह पर्याय का होता है, द्रव्य की सत्ता प्रत्येक काल में विद्यमान रहती है, एक मात्र जीव द्रव्य की ही नहीं प्रत्येक द्रव्य की समझना। कहा भी है—

सत्ता सव्वपयत्थ सविस्सरूवा अणंपज्जाया।

मंगुप्पादधुवत्ता सप्पडिक्खा ह्वदि एक्का॥”

“सत्ता उत्पाद व्यय धौव्यात्मक, एक, सर्व पदार्थ स्थित सविश्वरूप अनंत पर्यायमय और सप्रतिपक्ष है, अस्तित्व अर्थात् सत्ता, सत् का भाव अर्थात् सत्त्व। विद्यमान वस्तु न तो सर्वथा नित्य रूप होती है न सर्वथा क्षणिक रूप ही होती है। वस्तु सर्वथा नित्य ही स्वीकारते हैं तो पर्याय का अभाव हो जाएगा। वस्तु को सर्वथा क्षणिक मानते हैं, तो प्रत्यभिज्ञान का अभाव हो जायेगा, नित्य एकान्त में सांख्य दर्शन का प्रसंग आता है, क्षणिक एकान्त में बौद्धदर्शन का प्रसंग आता है। प्रत्येक तत्त्व की प्ररूपणा सप्रतिपक्ष होती है। क्षणिक एवं नित्य दोनों ही एकान्तों के पक्ष को स्वीकार करने से वस्तु में क्रिया—कारण का अभाव दिखायी देता है। आत्मा अनादि और अनन्त रूप है। प्रत्येक द्रव्य स्वचतुष्टय में त्रिकाल से अवस्थित है, द्रव्य का लक्षण ही सत् है—

सद् द्रव्यलक्षणम्॥

जो सत् है, वह द्रव्य है— यह इस सूत्र का भाव है कि असत् का उत्पाद नहीं

होता, सत् का विनाश नहीं होता, द्रव्य-दृष्टि से यह सनातन क्रिया है। आत्मा कभी उत्पन्न नहीं हुई, कभी नष्ट भी नहीं होगी, अनादि से है और अनन्तकाल तक इसी प्रकार विद्यमान रहेगी। पूर्णतः विनाश नहीं होता, जिन शासन में तुच्छभाव को किञ्चित् भी स्वीकार नहीं किया गया। तुच्छभाव का अर्थ पूर्णतया-अभाव है, जब पूर्णतया अभाव ही हो जायेगा, तब द्रव्य का अस्तित्व ही समाप्त हो जायेगा। ऐसा होने से लोकालोक का भेद समाप्त हो जायेगा और तब लोक-अलोक में क्या अन्तर रहेगा?.....- जैसा - अलोकाकाश शुद्ध आकाश है, क्योंकि वहाँ पर शेष द्रव्य नहीं है, उसी प्रकार छः द्रव्यों के समूह को जो लोक संज्ञा प्राप्त है वह भी समाप्त हो जायेगी। संसार मोक्ष, पुण्य-पाप सब ही व्यर्थ हो जायेगा। सम्पूर्ण लोक में जड़ता-शून्यता का प्रसंग आएगा। अतः तत्त्वज्ञानियों! जिन-देव की देशना के अनुसार तत्त्व ज्ञान को प्राप्त करो। उत्पत्ति-विनाश द्रव्य में नहीं होता, उत्पाद-व्यय द्रव्य की पर्यायों में ही होता है, द्रव्य तो सद्भाव-रूप ही है-

**भावस्य णत्थि णासो णत्थि अभावस्य चेव उप्पादो।
गुण पज्जएसु भावा उप्पाद वए पकुव्वत्ति॥**

भाव 'सत्' का नाश नहीं होता तथा अभाव 'असत्' का उत्पाद नहीं है, भाव गुण पर्यायों में उत्पाद-व्यय करता है, इस प्रकार पूर्णरूप से समझना। आत्म-द्रव्य में अभाव-भाव का पूर्ण अभाव है, अतः आत्मा की अनाद्यन्तता स्वतः सिद्ध है। आत्मा की त्रैकालिकता पर सम्यग्दृष्टि जीव को किसी भी प्रकार के प्रश्न ही नहीं उठते। प्रत्येक मुमुक्षु का कर्तव्य है कि वह अपने आस्तिक्य गुण को पूर्णरूपेण सुरक्षित करके चले, आस्तिक्य गुण के अभाव में सम्पूर्ण गुणों का अभाव समझना चाहिए। अहो! उस व्यक्ति के यहाँ व्रत, नियम, तप, त्याग कहाँ ठहरता है, जहाँ आत्मा के प्रति आस्था नहीं है, आश्चर्य तो इस बात का है कि जब आत्मा को ही नहीं स्वीकारता तो फिर वह उपर्युक्त क्रियाएँ किस के लिए कर रहा है? लोक में मूढमतियों की कमी नहीं है, जिसके मध्य में से सम्पूर्ण लोक का वेदन कर रहा है, उसे ही नहीं वेद पा रहा..... क्या कहूँ..... प्रज्ञा की जड़ता को। जिसकी बुद्धि जड़ भोगों में लिप्त है, वह चैतन्य-धन भगवान्-आत्मा को क्या पहचान पाएगा?.... अहो प्रज्ञात्माओ! ध्रुव आत्म-द्रव्य को स्वीकार कर परम-तत्त्व को प्राप्त करने का पुरुषार्थ करना चाहिए। वह आत्मा और कैसी है?... "स्थित्युत्पत्तिव्यात्मकः" स्थिति ध्रौव्य उत्पत्ति/उत्पाद उत्पन्न होने योग्य, व्यय/विनाश होने योग्य, इस प्रकार ध्रौव्य, उत्पाद और व्यय जिसका स्वरूप है, वह आत्मा है। द्रव्य का लक्षण सत् है और वह सत् उत्पाद, व्यय ध्रौव्यात्मक है, द्रव्य की त्रि-लक्षण-अवस्था त्रिकाल है, - ऐसा एक क्षण भी नहीं होता, जब द्रव्य में त्रि लक्षण धारा का वियोग होता हो, वह तो प्रति क्षण प्रवहमान रहती है। शुद्ध द्रव्य में शुद्ध परिणामन होता है, अशुद्ध द्रव्य में अशुद्ध

रूप परिणमन होता है। जीव द्रव्य के साथ अनूठी व्यवस्था है; अशुद्ध जीव में एक साथ दो द्रव्यों में उत्पाद, व्यय, ध्रौव्यता घटित होती है। अशुद्ध जीव में एक साथ दो द्रव्यों में उत्पाद, व्यय, ध्रौव्यता घटित होती है। अशुद्ध जीव असमान जातीय कर्म, नोकर्म के साथ रहता है। जीव के कर्मों का परिणमन भिन्न चलता है, द्रव्य कर्मों का परिणमन भिन्न चलता है। अज्ञ प्राणी असमान जातीय पर्याय की भिन्नता को नहीं समझने के कारण क्लेश को प्राप्त होता है, जिसमें उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यात्मक द्रव्य होता है। द्रव्य का द्रव्यत्व-भाव त्रैकालिक ध्रौव्य है। यह जीव मोह के वश हुआ पर के परिणमन को स्व का परिणमन स्वीकार कर व्यर्थ में क्लेश का भाजन हो रहा है, थोड़ा भी स्व विवेक का प्रयोग कर ले, तो ज्ञानियो! लोक में कहीं भी जीव को कष्ट का स्थान नहीं है। अर्थ पर्याय का परिणमन षट् गुण हानि वृद्धि रूप प्रतिपल चल रहा है, इसे आगम प्रमाण से ही जाना जाता है, वचन अगोचर है। शरीर का परिणमन भिन्न है, आत्म गुणों का परिणमन भिन्न है, व्यक्ति कितना ही राग रूप पुरुषार्थ कर ले, परन्तु पुरुष (आत्मा) के द्रव्यत्व का जो परिणमन है, उसे नहीं रोक सकता। द्रव्य में जो सहज परिणमन है, ज्ञानी! वह किसी के प्रतिबन्धक की अपेक्षा नहीं रखता, जैसे- पुरुष का परिणमन निरपेक्ष है। ज्ञानियो! इस प्रकार को अच्छी तरह से समझना कि- उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य धर्म कभी किसी द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव की भी अपेक्षा नहीं रखता कि मैं अमुक द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव के होने पर परिणमन करूँगा। वह तो त्रिकाल सर्व-क्षेत्रादि में परिणमन-शील है, पदार्थ किसी भी अवस्था में हो, परिणामीपन से रहित कभी नहीं रहता। देखो! एक रागी पुरुष अपने वर्तमान शरीर को हृष्ट-पुष्ट रखने के लिए प्रतिदिन घृत-दुग्धादि पौष्टिक द्रव्यों का सेवन करता है, तथा अखाड़े में जाकर व्यायाम भी करता है, फिर भी ढलते शरीर को नहीं बचा पाता है, उसको भी देखते ही देखते मृत्यु का सामना करना पड़ता है, यानि कि राग के वश होकर कर्म-बन्ध ही कर पाता है, पर शरीर के परिणमन पर कोई पुरुषार्थ नहीं चलता। लोक में ऐसी कोई औषधि निर्मित नहीं हुयी, जिससे कि प्रकृति के इस ध्रुव धर्म को रोका जा सके।

आचार्य अकलंक देव ने श्लोक संख्या 3 में आत्मा को प्रमेयत्वादि धर्मों से अचित् अर्थात्/अचेतन रूप और ज्ञानदर्शन के कारण चिदात्मक अर्थात् चेतन बताकर उसे चेतनाचेतनात्मक प्ररूपित किया है।¹⁰

आचार्य विशुद्ध सागर जी अपने प्रवचन में उपर्युक्त श्लोक के मर्म को उजागर करते हुए द्रव्य के सामान्य - विशेष गुणों की चर्चा की है। अस्तित्व, वस्तुत्व, द्रव्यत्व, प्रमेयत्व, अगुरुत्व, अलघुत्व, प्रदेशत्व, चेतनत्व, अचेतनत्व, मूर्तत्व इत्यादि द्रव्यों के सामान्य गुणों को रेखांकित करते हुए उनकी विचारणा उन्होंने पंचास्तिकाय, अलाप पद्धति, प्रवचनसार, द्रव्यसंग्रह के आलोक में की है।¹¹

इसी प्रसंग में उनकी स्पष्ट प्रतिपत्ति का एक नमूना देखिए— जो भी परिणामन है वह पर्याय है द्रव्य की धौव्यता तो धौव्य है। अस्तित्व गुण द्रव्य की त्रैकालिकता का ज्ञापक है, आत्मा लोक के किसी भी प्रदेश में रहते हुए, किसी भी पर्याय में अवस्थित होकर भी अपने ज्ञान दर्शन—स्वभाव का त्याग नहीं करता; द्रव्य—व्यञ्जन पर्याय जो विभाव रूप है, वे सब पुद्गल रूप हैं, उनके मध्य रहते हुए भी आत्मा अपने जीवत्व भाव के अस्तित्व का अभाव नहीं कर सका, पुद्गल जीव के साथ कर्म रूप से अनादि से सम्बद्ध है, वह अपने पुद्गलत्व भाव के अस्तित्व का अभाव नहीं कर सका। लोक में छः द्रव्य अवस्थित हैं, एक दूसरे में मिले होने पर भी स्व अस्तित्व का विनाश नहीं होने देते, यह प्रत्येक द्रव्य का साधारण धर्म है, कहा गया है—

अण्णोण्णं पविसंता देत्ता ओगास मण्णमण्णस।

मेलंता वि य णिच्चं सगं सभावं ण विजहंति॥

—पंचास्तिकाय, गा. 7

अर्थात् वे द्रव्य एक—दूसरे में प्रवेश करते हैं, अन्योन्य को अवकाश देते हैं, परस्पर नीर क्षीर वत् मिल जाते हैं, तथापि सदा अपने—अपने स्वभाव को नहीं छोड़ते। एक द्रव्य दूसरे द्रव्य रूप लोक में कभी नहीं होते। अपने स्व चतुष्टय में ही निवास करते हैं। यह व्यवस्था अनादि से सहज है, किसी अन्य पुरुष कृत नहीं है, व्यक्ति व्यर्थ में मोह वश भ्रमित होकर जगत्कर्ता—हर्ता—रक्षक की कल्पना कर अपने सम्यक्त्व को मलिन कर मिथ्यात्व की गर्त में गिरता है। तटस्थ हुआ योगी लोक व्यवस्था को देखकर न हर्ष को प्राप्त होता है, न विषाद को। वह माध्यस्थ्य भाव से निज द्रव्य— गुण—पर्याय का अवलोकन कर असमान—जातीय—पर्याय से मोह घटाकर समान— जातीय अपने चैतन्य—धर्म का अवलोकन करता है। अन्य को अन्य भूत ही देखता है। अन्य में अन्य दृष्टि को नहीं डालता, अन्य तो अन्य ही रहते हैं, वे अन्यान्य तो नहीं हो सकते, क्योंकि भिन्न द्रव्य का भिन्न द्रव्य से अत्यन्ताभाव होता है। तत्त्व ज्ञानी यह समझता है कि लवण समुद्र का पानी ग्रीष्म काल में शुष्क होकर कठोर नमक के रूप में परिवर्तित हो जाता है। वह कठोर द्रव्य वर्षाकाल में तरल पानी के रूप में पुनः आ जाता है। यह तो हो सकता है, क्योंकि इनमें अन्योन्याभाव था, पर ऐसा जीवादि द्रव्यों के साथ नहीं होता, चाहे ग्रीष्म काल हो, चाहे शीत, एक द्रव्य दूसरे द्रव्य रूप कभी भी नहीं होता, अपनी— अपनी सत्ता में ही सद् रूप रहते हैं।

सद्—रूपत्व—अस्तित्व/स्वरूपास्तित्व—

अस्तीत्येतस्य भावोऽस्तित्वं सद् रूपत्वम्॥

—आलापपद्धति, सूत्र 94

अस्तित्व के भाव को अस्तित्व कहते हैं, अस्तित्व का अर्थ सत्ता है। जिस शक्ति के निमित्त से द्रव्य का कभी नाश नहीं होता, वह अस्तित्व है। वही निश्चय करके मूलभूत स्वभाव है, निश्चय करके अस्तित्व ही द्रव्य स्वभाव है, क्योंकि अस्तित्व किसी अन्य निमित्त से उत्पन्न नहीं है, अनादि—अनंत एक रूप प्रकृति से अविनाशी है। विभाव भाव रूप नहीं, किन्तु स्वाभाविक भाव है, और गुण रूप प्रकृति से अविनाशी है। विभाव भाव रूप नहीं, किन्तु स्वाभाविक भाव है, और गुण—गुणी के भेद से यद्यपि द्रव्य से अस्तित्व गुण पृथक् कहा जा सकता है, परन्तु वह प्रदेश भेद के बिना द्रव्य से एक रूप है, एक द्रव्य से दूसरे द्रव्य की तरह पृथक् नहीं है, क्योंकि द्रव्य के अस्तित्व से गुण पीतत्वादि का अस्तित्व है और गुण पर्यायों के अस्तित्व से द्रव्य का अस्तित्व है। जैसे— पीतत्वादि गुण तथा कुंडलादि पर्याय जो कि द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव की अपेक्षा सोने से पृथक् नहीं है, उनका कर्ता—साधन और आधार सोना है, क्योंकि सोने के अस्तित्व से उनका अस्तित्व है। जो सोना न होवे, तो पीतत्वादि गुण तथा कुंडलादि पर्यायें भी न होवें, सोना स्वभाववत् है और वे स्वाभावश्रित हैं। इसी प्रकार द्रव्य, क्षेत्र, काल भावों की अपेक्षा द्रव्य से अभिन्न जो उसके गुण पर्याय हैं, उनका कर्ता साधन और आधार द्रव्य है, क्योंकि द्रव्य अस्तित्व से ही गुण पर्यायों का अस्तित्व है। जो द्रव्य न होवे, तो गुण—पर्याय भी न होवे। द्रव्य—स्वभाव—वत् और गुण पर्याय स्वभाव है और जैसे द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावों से पीतत्वादि गुण तथा कुण्डलादि पर्यायों से अपृथक्भूत सोने के कर्म पीतत्वादि गुण तथा कुंडलादि पर्यायें हैं, इसलिए पीतत्वादि गुण और कुंडलादि पर्यायों के अस्तित्व से सोने का अस्तित्व है। यदि पीतत्वादि गुण तथा कुंडलादि पर्यायें न होवें, तो सोना भी न होवे। इसी प्रकार द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावों से गुण—पर्यायों से अपृथक्भूत द्रव्य के कर्म—गुण—पर्याय हैं, इसलिए गुण—पर्यायों के जैसे— द्रव्य, क्षेत्र, काल भावों से सोने से अपृथक्भूत ऐसा जो कंकण का उत्पाद, कुंडल का व्यय तथा पीतत्वादि का धौव्य— इन तीन भावों का कर्ता, साधन और आधार सोना है, इसलिए सोने के अस्तित्व से इनका अस्तित्व है, क्योंकि जो सोना न होवे, तो कंकण का उत्पाद, कुंडल का व्यय और पीतत्वादि का धौव्य — ये तीनों भाव भी न होवें। इसी प्रकार द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावों को करके द्रव्य से अपृथक्भूत ऐसे जो उत्पाद व्यय, धौव्य— इन तीन भावों का कर्ता, साधन तथा आधार द्रव्य है, इसलिए द्रव्य के अस्तित्व से उत्पादादि का अस्तित्व है। जो द्रव्य न होवे, तो उत्पाद व्यय, धौव्य— ये तीन भाव न होवें और जैसे द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावों से अपृथक्भूत जो सोना है, उसके कर्ता साधन और आधार कंकणादि, उत्पाद, कुण्डलादि, व्यय पीतत्वादि धौव्य— ये तीन भाव हैं, इसलिए इन तीन भावों के अस्तित्व से सोने का अस्तित्व है। यदि ये तीन भाव न होवें तो सोना भी न होवें, यदि ये तीनों भाव न होवे तो द्रव्य भी न होवें,— इससे

यह बात सिद्ध हुयी कि द्रव्य, गुण और पर्याय का अस्तित्व एक है और जो भी द्रव्य है, सो अपने गुण-पर्याय स्वरूप को लिए हुए हैं, अन्य द्रव्य से कभी नहीं मिलता, इसी को स्वरूपास्तित्व कहते हैं।

सादृश्यास्तित्व-

इह विविह लक्खणाणं लक्खमणमेगं सदिति सत्त्वगयं।

उवदिसदा खलु धम्मं जिणवणवसहेणपण्णत्तं॥

—प्रवचनसार, गा.5

इस श्लोक में वस्तु के स्वभाव का उपदेश देने वाले गणधरादि देवों में श्रेष्ठ श्री वीतराग सर्वज्ञ-देव ने ऐसा कहा है कि नाना प्रकार के लक्षणों वाले अपने स्वरूपास्तित्व से जुदा-जुदा सभी द्रव्यों में सामान्य रूप से रहने वाला "सद्-रूप" सामान्य-लक्षण है। स्वरूपास्तित्व विशेष-लक्षण रूप है, क्योंकि वह द्रव्यों की विचित्रता का विस्तार करता है तथा अन्य द्रव्यभेद करके प्रत्येक द्रव्य की मर्यादा करता है, और सत् ऐसा जो सादृश्यास्तित्व है, सो द्रव्यों में भेद नहीं करता, सब द्रव्यों में प्रवर्तता है, प्रत्येक द्रव्य की मर्यादा को दूर करता है और सर्व गत है, इसलिए सामान्य लक्षण रूप है। "सत्" शब्द सब पदार्थों का ज्ञान कराता है, क्योंकि यदि ऐसा न मानें, तो कुछ पदार्थ सत् हों, कुछ असत् हों और कुछ अव्यक्त हों, परन्तु ऐसा नहीं है। जैसे- वृक्ष अपने स्वरूपास्तित्व से वृक्ष जाति की अपेक्षा एक हैं, इसी प्रकार द्रव्य अपने-अपने स्वरूपास्तित्व से छः प्रकार के हैं, और सादृश्यास्तित्व से सत् की अपेक्षा सब एक हैं, सत् के कहने में छः प्रकार के हैं और सादृश्यास्तित्व से सत् की अपेक्षा सब एक हैं, सत् के कहने में छः द्रव्य गर्भित हो जाते हैं, जैसे- वृक्षों में स्वरूपास्तित्व से भेद करते हैं, तब सादृश्यास्तित्व-रूप वृक्ष-जाति की एकता मिट जाती है और जब सादृश्यास्तित्व-रूप वृक्ष-जाति की एकता करते हैं, तब स्वरूपास्तित्व से उत्पन्न नाना प्रकार के भेद मिट जाते हैं। इसी प्रकार द्रव्यों में स्वरूपास्तित्व की अपेक्षा सद्-रूप एकता मिट जाती है, और जब सादृश्यास्तित्व की अपेक्षा नाना प्रकार के भेद मिट जाते हैं। भगवान् का मत अनेकान्त-रूप है, जिसकी विवक्षा करते हैं, वह पक्ष मुख्य होता है और जिसकी विवक्षा नहीं करते वह पक्ष गौण होता है। अनेकान्त से नय सम्पूर्ण प्रमाण है, विवक्षा की अपेक्षा मुख्य-गौण है।

आचार्यश्री विशुद्ध सागर जी ने अपने प्रवचनों में पूर्वाचार्यों के शास्त्रों को दीपस्तम्भ के समान भरपूर प्रश्रय दिया है उनके आलोक में प्रमाणनिकष पर प्रामाण्यावबोधन कराने की कला उन्हें आती है। श्लोक संख्या 4 में वर्णित ज्ञानादि से आत्मा सर्वथा भिन्न और सर्वथा अभिन्न नहीं है अपितु कथंचित् भिन्न भी है और

अभिन्न भी है, को समझने समझाने में सप्तभङ्गी न्याय सम्मत स्याद्वाद की उपयोगिता को रेखांकित किया है। स्याद्वाद के नाम पर भ्रमित करने वालों को उन्होंने चेताया भी है वे कहते हैं कि वीतराग मार्ग से हटकर जो भी उपदेश करे उनकी बातों में नहीं आना, यदि स्व कल्याण की इच्छा है। ज्ञान से भिन्न है आत्मा, ज्ञान से अभिन्न है आत्मा इस विषय को अब स्याद्वाद सिद्धान्त से प्रतिपादित करते हैं तो गुण व गुणी सर्वथा एकत्व को प्राप्त हो जायेंगे और आत्मभूत लक्षण का अभाव हो जायेगा। गुण स्वभाव होता है, अतः संज्ञा, लक्षण व प्रयोजन की अपेक्षा दोनों में भिन्नत्व भाव है और प्रदेशत्व की अपेक्षा से अभिन्नत्व भाव है, इस प्रकार समझना। गुण-गुणी में अयुतभाव है, युतभाव नहीं है। अत्यन्त भिन्न भाव ज्ञान और आत्मा में नहीं है।¹²

अपने उपर्युक्त कथन की प्रमाणिकता को बोध कराने में उन्होंने आचार्य समन्तभद्र के निम्न श्लोकों को प्रस्तुत ही नहीं किया उनके यथार्थ को भी स्पष्ट रूप से समझाने का प्रयत्न भी किया है। श्लोक इस प्रकार है—

द्रव्यपर्याययोरैक्यं तयोरव्यतिरेकतः।
 परिणामविशेषाच्च शक्तिमच्छक्तिभावतः॥
 संज्ञासंख्याविशेषाच्च स्वलक्षणविशेषतः।
 प्रयोजनादिभेदाच्च तन्त्रानात्वं न सर्वथा॥
 (आप्त मीमांसा)

सन्दर्भोल्लेख—

2. मुक्तामुक्तैकरूपो यः कर्मभिः संविदादिना।
 अक्षयं परमात्मानं ज्ञानमूर्तिं नमामि तम ॥ 1 ॥ (स्वरूप संबोधन)
3. स्व० सं० परि० पृष्ठ - 13,
4. वही, पृष्ठ- 13
5. पंचस्थिकाय संग्रहो गाथा - 10
6. स्व० सं० परि० पृष्ठ - 13-14
7. तदेव पृष्ठ- 20
8. पंचस्थिकाय संग्रहो गाथा- 8
9. स्व० सं० परि० पृष्ठ - 28-31
10. वही पृष्ठ- 33
11. वही पृष्ठ-38-47
12. वही पृष्ठ- 53

— प्रो. श्रीयांश कुमार सिंघई
 अध्यक्ष, जैन दर्शन विभाग
 राष्ट्रिय संस्कृत संस्थान
 जयपुर परिसर, जयपुर

तत्त्व निर्णय में न्याय शास्त्र की उपयोगिता: स्वरूप देशना के परिप्रेक्ष्य में

—शिवचरन लाल जैन, मैनुपुरी

मंगलाचरण

येनेदमप्रतिहतं सकलार्थतत्त्व—

मुद्योतितं विमललोचनेन।

भक्त्या तमदभुतगुणं प्रणमामि वीर—

मारान्नसमरगणार्चितपादपीठम्॥

येन स्वरूपसम्बोधं देशनारूपेण बोधितम्।

विशुद्ध सूरिमकलङ्क विशुद्ध्यर्थन्नमामितम्॥स्वोपज्ञ॥

जिन्होंने निर्बाध रूप से निर्णीत सम्पूर्ण वस्तु तत्त्व को निर्मल केवल ज्ञान रूपी दृष्टि से प्रकाशित किया है उन नरामरों के समूह द्वारा जिनका पादपीठ पूजित है। ऐसे अतिशय अनन्त गुणों के धारी दिव्य देशनानायक भगवान महावीर को मैं प्रमाद हित होकर निरन्तर प्रणाम करता हूँ। जिनके द्वारा वचनामृत रूप देशना रूप से स्वरूप, शुद्ध आत्म तत्त्व का सम्बोधन किया गया है ऐसे विशुद्ध चारित्र से शुद्ध आचार्य अकलंक देव को (पक्ष में आचार्य विशुद्ध सागर जी को) मैं अपनी विशुद्धि हेतु प्रणाम करता हूँ।

देशना: तत्त्व निर्णय का साकार स्वरूप:

आचार्य श्री विशुद्ध सागर जी महाराज वर्तमान में ज्ञान – ध्यान – तप में लीन आध्यात्मिक संत हैं। वे अपनी कुशाग्र एवं बलवती क्रियावान चर्या के सशक्त हस्ताक्षर हैं। अन्त मोक्षमार्गी भाव विशुद्धि रूप परिणति उनके व्यक्तित्व में स्पष्ट दर्पणायित होती है। उनका साहित्य और विशुद्ध व्याख्यान तत्त्व निर्णय के क्षेत्र में उत्कृष्ट मानदण्ड हैं। अनेकों देशना रूप जिनवाणी पुष्पों में सर्वज्ञ स्वयं के साथ परहित की झलक-ललक स्पष्ट प्रकट है। यही रूप न्याय शास्त्र की सविधि से जैन वाङ्मय में प्रसिद्ध भट्ट अकलंक देव आचार्य की महनीय कृति स्वरूप सम्बोधन पर इसके तत्त्व निर्णयात्मक न्याय के स्वात्मतन व परिवेशीय रूप में प० पू० आचार्य विशुद्ध सागर जी महाराज कृत

‘स्वरूप देशना’ में प्रकाशित हो रहा है। वस्तुतः ‘स्वरूप देशना’ तत्त्व निर्णय की सर्वांगीणता का साकार स्वरूप है। इसके बिना अकेले रूप में अध्यात्म का अभ्यास असंभव है।

यहाँ हम विभिन्न दृष्टियों से ‘स्वरूप देशना’ के उपर्युक्त स्वरूप में तत्त्व निर्णय में न्याय शास्त्र की उपयोगिता पर दृष्टिपात करते हैं।

1. आगम पारम्परिक दृष्टि से देशना का अवतरण :-

ज्ञातव्य है कि दि० जैन आमनाय या निर्ग्रन्थ श्रमण परम्परा में आद्य आचार्य कुन्दकुन्द के द्वारा रचित द्रव्यानुयोग रूप अध्यात्म ग्रन्थ समयसार, प्रवचनसार आदि में न्याय शास्त्र, जैन न्याया के बीज सर्वत्र दृष्टिगोचर होते हैं। उन्होंने दर्शनान्तर सांख्य, बौद्ध, वेदान्त, चार्वाक आदि की ऐकान्तिक मान्यताओं का उल्लेख व निरसन करते हुए अनेकान्त प्रमाण की प्रतिष्ठा की है। उन्हीं के शिष्य आ० उमास्वामी ने सम्यक ज्ञान की प्रमाण कोटि में स्वीकृति हेतु “प्रमाणनयैरधिगमः” सूत्र को स्थापित किया है। आगे चलकर उक्त जैन न्याय के पुरोध आचार्य समन्तभद्र स्वामी ने तत्कालीन परिस्थिति में जैन दर्शन-न्याय को विशेष रूप से प्रतिपादित और व्याख्यायित कर अन्य दर्शनों के साथ शास्त्रार्थों में विजय प्राप्त की। उनके बाद तत्त्व निर्णय में प्रमाण, नय, स्याद्वाद, अनेकान्त, प्रत्यक्ष-परोक्षता, सप्तमंगी, द्रव्यों के सत्-असत्, नित्य-अनित्य रूपों की सापेक्षता, हेयोपादेयता रूप आदि महनीय अपेक्षित विषयों की समष्टि प्रकट होती है। उनके आप्त मीमांसा, स्वयंस्तोत्र आदि ग्रन्थों की भित्ति पर ही हम तक पहुँचा हुआ तत्त्वज्ञान रूपी महल सुशोभित है। उनका निम्न श्लोक बड़ा मार्गदर्शक है-

तत्त्वज्ञानं प्रमाणं ते, युगपत्सर्वभासनम्।

क्रमभावि च यज्ज्ञानं, स्याद्वादनयसंस्कृतम्॥१०१॥

परम्परा में आगे चलकर बड़ी क्रान्ति, न्याय शास्त्र विषयक क्षेत्र में आचार्य अकलंक देव के उद्भट व्यक्तित्व के नेतृत्व में सातवीं शताब्दी में हुयी। जैनतर दर्शनों, वैशेषिक, मीमांसक, नैयायिक, सांख्य, बौद्ध, चार्वाक आदि की प्रबलता के मध्य जैन दर्शन को उत्कृष्ट मान्य पद पर स्थापित करने के लिए आ० अकलंक देव ने प्रत्यक्ष, परोक्ष सम्यग्ज्ञान प्रमाण के विस्तार में

परोक्ष की सांव्यावहारिक प्रत्यक्षता को भी प्रस्तुत कर विश्व को चकित कर दिया। अग्रिम काल में अकलंक देव के ग्रन्थों और टीका साहित्य पर आचार्य विद्यानन्द, आ० प्रभाचन्द्र, आ० माणिक्यनन्दि आदि ने अष्टसहस्री, प्रमेय कमलामार्तण्ड, आप्त परीक्षा, परीक्षामुख सूत्र आदि ग्रन्थों की रचना की।

‘स्वरूप देशना’ आ० अकलंक की मात्र 25 श्लोकों की कृति है, जो ‘गागर में सागर’ की उक्ति को चरितार्थ करती है।

स्वरूप सम्बोधन पर आचार्य विशुद्ध सागर जी ने जो देशना का महत्कार्य किया है वह न्याय सम्मत तत्त्व निर्णयरूप ही है। उनका व्याख्यान जैन न्याय, जिसे अकलंक के नाम से प्रसिद्धि मिली के परिप्रेक्ष्य में तत्त्वों, आध्यात्मिक, आगमिक स्वरूप के उपादानों को सिद्ध करता हुआ, हमें पूर्वाचार्यों के निर्णयों को स्थापित करता हुआ प्रकट शोभायमाना है।

देशना में तत्त्व – निर्णय हेतु न्याय के प्रयोग :-

न्याय शास्त्र की परिपाटी का जो विवेचन किया है उसका उद्देश्य यह है कि आचार्य विशुद्ध सागर जी ने उसी के अनुसारी रूप में तत्त्व निर्णय की पद्धति में न्याय शास्त्र की उपयोगिता को प्रकट किया है। वे तो आध्यात्मिक तत्त्वगवेषणा में न्याय विद्या को अभिन्न अंग मानते हैं। वर्तमान में आध्यात्मिक विवेचनाओं के जो रूप अन्य पूज्य गुरुओं एवं अध्यात्म के अध्येताओं के लेखन, वाचन और प्रवचनों में दृष्टिगत होते हैं उनसे विशेषताओं को लिए हुए स्वरूप देशना में आचार्य का अभिमत, स्पष्टीकरण रूप में न्याय विद्या को पुरस्कृत करता हुआ अवगत होता है।

स्वरूप सम्बोधन मूल ग्रन्थ में प्रारम्भिक 10 श्लोकों में भट्ट अकलंक देव ने अनेकान्त प्रमाण, स्याद्वाद की विधि से जैन दर्शन के जो मूल तत्त्वों का उद्घाटन किया है वह सामान्य जनों की ग्रहण शक्ति से परे है। उसी को सर्व जनों के हृदय में सरल शैली में विशुद्ध सागर जी आगमिक शब्दों की समष्टिपूर्वक स्थापित करने का भगीरथ प्रयत्न किया है। उसमें भी मीठे सुपाच्य शब्द प्रयोग में रुक्ष और क्लिष्ट न्याय विषय को, कडुवी औषधि को मीठी चाशनी में मिलाकर देने के समान हितावह रूप में प्रस्तुत किया है। आगे के 15 श्लोकों में अंतरंग परिणति के मोक्षमार्गीय अवधारणा स्वरूप की

अकलंक स्वामी की श्लोकान्तर्गत उक्तियों में भी आचार्य देशनाकार ने न्याय के बीजों को आवश्यकतानुसार चयन कर पल्लवित करने का प्रयास किया है। यह अध्यात्म और न्याय की समष्टि ही स्वरूप देशना की महती विशेषता है। हमें देशना ग्रन्थ के पूर्व के आधे भाग में तत्त्वनिर्णय में न्याय की उपयोगिता के अपेक्षाकृत अधिक प्रस्तुतीकरण प्राप्त होते हैं। इनसे जैनेतर दर्शनों की ऐकान्तिक मान्यताओं का निरसन सहज रूप में हो जाता है।

यहाँ हम उनके कतिपय उपदेशों के माध्यम से पाठकों को न्याय विद्या की उपयोगिता के दर्शन कराना अभीष्ट समझते हैं। यह ज्ञातव्य है कि तर्क हेतु विद्या, प्रमाण शास्त्र, दर्शन शास्त्र आन्वीक्षिकी और न्याय आदि एकार्थवादी है, यथास्थान आचार्य श्री ने देशना में इनका प्रयोग किया है।

तत्त्व निर्णय हेतु विद्वज्जनों के लिए भी उनका निम्न सम्बोधन देखिए, 'प्राचीनता की रक्षा के लिए नवीन कथन किर्या नवीनता की सिद्धि के लिए प्राचीनता का नाश नहीं करना। बड़ा विवेक लगाना। इसलिए आज लगता है कि न्याय शास्त्र पढ़ना ही चाहिए। समय बोल रहा है कि न्याय शास्त्र पढ़ना ही चाहिए। पंडित जी! विद्वानों को आप बोलो, न्याय शास्त्र पढ़िए, क्योंकि तर्क के बिना आप शासन की रक्षा नहीं कर पाओगे। तत्त्व का जो निर्णय है, वह तर्क से ही होगा। बिना तर्क के तत्त्व का निर्णय सम्भव नहीं है। 'तर्कात्तन्निर्णया' निर्णय तो तर्क से होगा। (पृष्ठ-310)।

आज विद्वानों में भी जो तर्क शून्य एकांगी आध्यात्मिक तत्त्व निर्णय की प्रवृत्ति भी दिखाई देती है उसी परिप्रेक्ष्य में आचार्य श्री की देशना का उपर्युक्त अंश प्रकट हुआ है। हमने जो पूर्व न्याय शास्त्रों के नामोल्लेख कतिपय किये हैं उनके अध्ययन की महती उपयोगिता, देशना में आचार्य श्री ने निर्देशित की है।

'तर्क से तो वस्तु स्वरूप का निर्णय होता है और तर्क का अर्थ ऐसा क्यों? ये कोई तर्क नहीं होता है। ऐसा क्यों, ऐसा क्यों, शब्दों को बोलना कोई तर्क की परिभाषा नहीं होती है।

उपलब्धानुपलम्बनिमित्तं व्याप्तिज्ञानमूहः॥7॥

परीक्षामुख सूत्र।

व्याप्ति के ज्ञान को मूहा कहा जाता है। मूहा अर्थात् तर्क। तर्क भी आप दो तो आपके तर्क में व्याप्ति घटित होना चाहिए और जिसके तर्क में व्याप्ति घटित नहीं हो रही वह कोई तर्क भी नहीं है।

ज्ञानियों! तर्क का प्रयोग आगम की रक्षा के लिए करना, लेकिन जिनवाणी को तोड़ने में तर्क का प्रयोग मत करना। वह तर्क नहीं, कुतर्क है। दो पर तर्क नहीं चलता। एक तो, आगम पर तर्क नहीं चलता, दूसरा स्वभाव पर तर्क नहीं चलता।.....

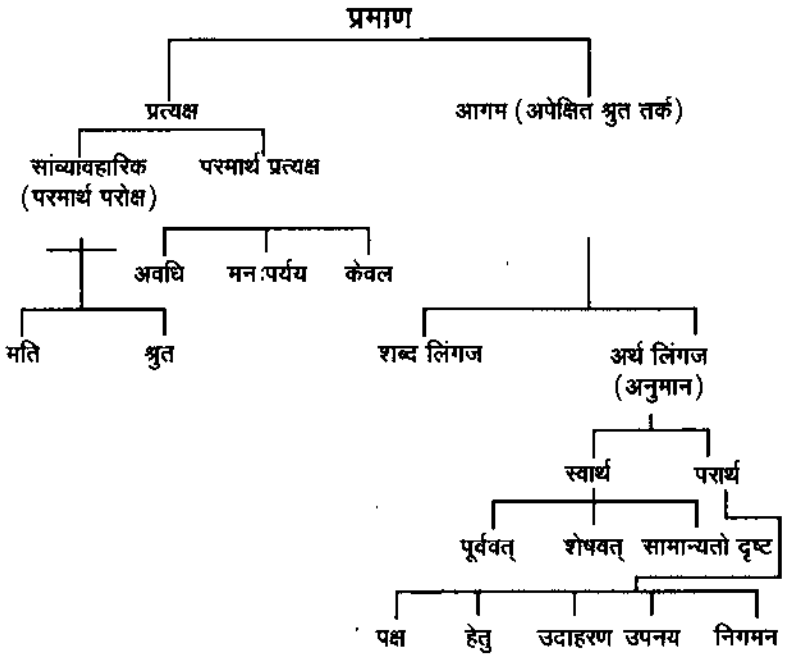
**शुद्धशुद्धीपृनः शक्तिः ते पाक्यापाक्यशक्तिवत्।
साधनादी तयोर्व्यक्ती स्वभावोऽतर्क गोचरः॥१००॥
आप्तमीमांसा**

..... शुद्ध शक्ति की (आत्मा में) अनादि से है, अशुद्ध शक्ति की अनादि से है।”

जो आत्मा को सर्वथा त्रिकाल शुद्ध मानते हैं। उन्हें देशनाकार की प्रबल आगम सम्मत युक्ति से आत्मतत्त्व को शुद्ध और अशुद्ध दोनों रूपों में सापेक्ष दृष्टि से स्वीकार करना चाहिए।

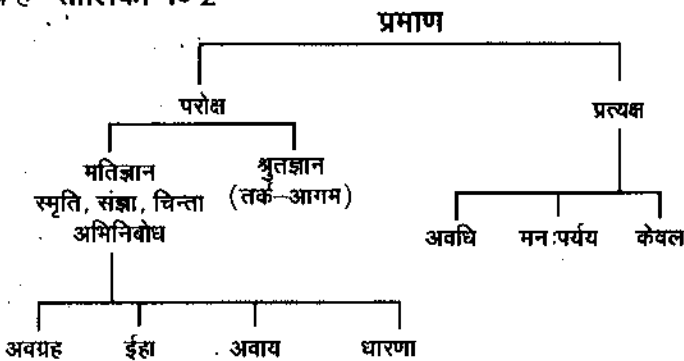
स्वरूप देशन में न्याय की उपयोगिता के महत्व को दर्शाने वाले उभय दार्शनिक रूपों के दर्शन प्रायः होते हैं। प्रथमतः जैनेतर न्याय शास्त्रों के अभिमत प्रकट कर उनका सम्यक् निरसन करते हुए अनेकान्त प्रमाण जैन दर्शन की स्थापना की शैली आचार्य ने अपनाई है। द्वितीय रूप में जैन न्याय को बहुलता से प्रस्तुत कर तत्त्व निर्णय हेतु जिज्ञासुओं को प्रेरित किया है।

ज्ञातव्य है कि द्वादशांग जिनवाणी में जैन न्याय विद्या एवं जैनेतर असमीचीन प्रमाण विषयक मान्यताओं का स्वरूप बारहवें अंग, दृष्टिवाद अंग में वर्णित किया गया है। यह पूर्वगत भेद में पंचम पूर्व ज्ञानप्रवाह में सविस्तार वर्णित है। यह कहना अपने में सम्पूर्ण है कि जैन न्याय अथवा सर्व 363 प्रकार की मान्यताओं का ज्ञान स्रोत ज्ञानप्रवाद पूर्व है। इसके आधार पर चूंकि ‘सम्यकज्ञान प्रमाण’ प्रमाण का लक्षण है, इस पूर्व में प्रमाण के अनेकों प्रकार के प्ररूपण हमें दृष्टिगत होते हैं। उनमें से एक स्वरूप निम्न तालिका से अवगम्य है। यह विक्षेपिणी विद्या की दृष्टि से प्रस्तुत है— तालिका नं० 1



नोट- स्वार्थ और परार्थ के स्वरूप और भेदों में अपेक्षा दृष्टि से न्याय-वाङ्मय में अन्तर भी है जो तद् विषयक ग्रन्थों से अवगम्य है।

अपने जैन न्याय को सम्मत कर तत्त्व निर्णय करने की श्रद्धा मूलक शैली जिसमें पर मत के मन्तव्यों को प्रकट नहीं किया जाता है वह आक्षेपिणी कथा कहलाती है। सामान्य जन कहीं पर मत के तर्कों से प्रभावित होकर उन्हें ही स्वीकार कर मिथ्यादर्शन अंगीकार न कर ले इसी निमित्त से उसे आक्षेपिणी कथा के उपदेश की मात्र आवश्यकता है। इस दृष्टि से निम्न तालिका दृष्टव्य है- तालिका नं० 2



उपर्युक्त प्रकार हमने अपेक्षित रूप से दो तालिकाएँ सम्मिलित की हैं उसका उद्देश्य यह है कि प० पू० आचार्य विशुद्ध सागर जी महाराज ने सम्यक तत्त्वज्ञान की निर्णयात्मक पुष्टि हेतु दोनों ही आक्षेपिणी और विक्षेपिणी (शास्त्रार्थ शैली) का उपयोग किया है। सूत्रार्थ और बहुआयामी अर्थात् निस्सनात्कमकता को भी लिए जैनमत स्थापन का उनका चमत्कारी न्याय शास्त्र का प्रयोग है जो यह सिद्ध करता है कि तत्त्व निर्णय एकांगी हो ही नहीं सकता। सम्यकत्व को दृढ़ करने हेतु न्याय शास्त्र का अवगम अत्यन्त आवश्यक है। सबसे बड़ी महत्ता तो यह है कि देशनाकार गुरुदेव ने उपर्युक्त दोनों तालिकाओं के सम्पूर्ण आशय को अध्यात्म की गहराईयों के अन्धकार को दूर करने हेतु श्रोताओं को कोमल व मधुर शैली में परोसा है, उसके लिए दृष्टान्तों, कथानकों, चारों अनुयोगों, प्रथमानुयोग, करणानुयोग, चरणानुयोग और द्रव्यानुयोग के अपेक्षित प्रसंगों के माध्यम से काम लिया है। वे आचार्य पद के निर्वहण में धार्मिक आत्माओं को उन्नत स्वरूप प्रदान करने के कुशल चित्ते हैं। वे अध्यात्म और न्याय शास्त्र के सहस्त्रयामी संगम हैं। परिपूर्ण आनन्द तो स्वरूप देशना के सर्वांगीण अध्ययन से ही प्राप्त हो सकेगा। देशना प्रकाशित है, हमें प्रकाश की ललक होनी चाहिए। आगे भी हम न्यायशास्त्र की उपयोगिता पर आचार्य श्री के अभिमत पर ध्यान आकर्षित करेंगे।

आचार्य श्री विशुद्ध सागर जी महाराज न्याय विद्या के तलस्पर्शी विद्वान हैं। विशेष यह है कि अध्यात्म के विषय तत्त्व निर्णय या प्रज्ञा विषयक विवेचन में वे प्रायः न्याय के अपेक्षित अंशों का प्रयोग करते हुए प्रकट होते हैं। उन्होंने स्वरूप देशना में नामोल्लेख सहित अथवा बिना नाम लिए, अन्य दर्शनों द्वारा मान्य पक्षों को जैन ग्रन्थों में जिस प्रकार प्रस्तुत किया है, उन प्रमाणामासों को पाठकों के समक्ष रखा है, उनका सारांश निम्न प्रकार है—

1. सांख्ययोग—इन्द्रियवृत्तिवाद अचेतन ज्ञानवाद, प्रकृतिकर्तृत्ववाद, कूट स्थल
2. न्याय वैशेषिक—कारकसाकल्यवाद, सन्निकर्षवाद, ज्ञानान्तावेद्य—द्य ज्ञानावाद, पाञ्चरूप हेतुवाद, षट्पदार्थवाद, षोडशपदार्थवाद।
3. बौद्ध—निर्विकल्प प्रत्यक्षवाद, चित्राद्वैतवाद, शून्यवाद, क्षणमंगवाद आदि।

4. चार्वाक— भूतचैतन्यवाद, प्रत्यक्षैक प्रमाणवाद, नास्तिक्य।
5. मीमांसक—अभाव प्रमाणवाद, परोक्षज्ञानवाद, वेद—अपौरुषेयत्ववाद
6. वेदान्ती— ब्रह्माद्वैतवाद (ब्रह्मवाद)
7. श्वेताम्बर— केवलिकवलाहारवाद, स्त्रीमुक्तिवाद।

उपर्युक्त आदि प्रमाणामासों ने जो तत्त्व निर्णय माना है उनका मधुर शब्द विन्यास के लिए आचार्य श्री ने जैन प्रमाण विद्या के आधार से सम्यक निरसन किया है। यहाँ हम जैन दर्शन मान्य प्रमाण का एकादि लक्षण प्रकट करना आवश्यक समझते हैं।

1. "स्वापूर्वाथव्यवसायात्मकं ज्ञानं प्रमाणम्"³ स्व और अपूर्व अर्थ के व्यवसायात्मक ज्ञान को प्रमाण कहते हैं।
2. व्यवसायात्मकं ज्ञानमात्मार्थग्राहकं मतम्"⁴ आत्मार्थ ग्राह व्यवसायात्मक ज्ञान प्रमाण है।
3. "सम्यग्ज्ञानं प्रमाणम्"⁵ सम्यग्ज्ञान ही प्रमाण है।
4. "प्रमाणीविसंवादि ज्ञानमनधिगतार्थ लक्षणत्वात्"।⁶ अनधिगतार्थ अविंसंवादि ज्ञान प्रमाण है।
5. "स्वपरावभासकं, यथा प्रमाणं भुवि बुद्धिलक्षणम्"⁷ स्वपरावभासी ज्ञान प्रमाण है।

जैन दर्शन मान्य प्रमाण लक्षणों को यहाँ इसलिए प्रकृत मानना अभीष्ट होगा कि स्वरूप देशना में तत्त्व निर्णय में न्याय की उपयोगिता को मानते हुए इन्हीं के अपेक्षित विभिन्न प्रकारों से श्रोताओं को अवगत कराने का प्रयत्न किया है।

आचार्य श्री ने प्रस्तुत देशना में जैन धर्मावलम्बियों में प्रवेश प्राप्त मिथ्या तत्त्वनिर्माण का भी दिग्दर्शन कराया है तथा उनका त्याग करने की प्रेरणा न्याय के परिवेश में की है, दृष्टव्य है देशना के वाक्य, जिनमें पूर्वाचार्यों के मन्तव्य शामिल हैं।

“आचार्य भट्ट अकलंक स्वामी भी एक महान आचार्य हुए हैं। नैयायिक दार्शनिक और सिद्धान्तों से परिपूर्ण अध्यात्म के सुजेता ऐसे महायोगी अकलंक स्वामी समन्तभद्र की कृति ‘आप्तमीमांसा’ पर अष्टशती लिखने का श्रेय जिनको प्राप्त हो और जैन दर्शन में अकलंक न्याय की अलग से आभा फैली हो, ये आचार्य अकलंक स्वामी, जिनके लिए आचार्य माणिक्यनंदि स्वामी कह रहे हैं— “मैं जो भी कहूँगा, अकलंक महोदधि से निकाल कर कहूँगा। सम्पूर्ण जैन वाङ्मय में सांख्यवहारिक प्रत्यक्ष को कहने वाला यदि कोई योगी है तो आचार्य भट्ट अकलंक स्वामी हैं और अकलंक स्वामी ने कहा, उसे अपरवर्ती आचार्यों ने बड़े सम्मान के साथ स्वीकार किया।”

यहाँ आचार्य ने स्पष्ट किया है कि इन्द्रिय प्रत्यक्ष को सांख्यवहारिक प्रत्यक्ष की संज्ञा देकर अकलंक देव ने तात्कालिक विपरीत, अत्यंत भयावह स्थिति में जैन दर्शन को स्थापित करने में विजय प्राप्त की। तत्त्वों के निर्णय करने हेतु उनके ग्रंथों में तत्त्वार्थ राजवार्तिक टीका न्याय प्रेमियों का कण्ठहार बनी हुयी है।

विशुद्ध सागर जी महाराज हमें निम्न शब्दों में सावधान कर रहे हैं, पाठकगण ध्यान दें—

“ज्ञानियों! बड़े सहज भाव से समझना। कभी—कभी मैं आपको कह देता हूँ कि चार्वाक दृष्टि में मत जिओ। बड़ा सैद्धान्तिक पक्ष है। स्मृति, प्रत्यभिज्ञान, तर्क अनुमान और आगम, इन सबको गौण करके जो मात्र यह कहता है कि जो प्रत्यक्ष है वही प्रमाण है, वह जैन नहीं।” ...तू प्रत्यक्ष को सब कुछ मान रहा है और ये प्रत्यक्ष प्रमाण का ही फल है। घोर मिथ्यात्व जो फैल रहा है, वह प्रत्यक्ष प्रमाण का ही फल है। हम लोग प्रत्यक्ष प्रमाण को नहीं मानते, ऐसा नहीं है हम प्रत्यक्ष प्रमाण को भी मानते हैं, उसके साथ—साथ स्मृति, तर्क, अनुमान, आगम को भी मानते हैं। आपको मैं सीधी—सीधी धर्म की बातें भी बता सकता हूँ परन्तु सीधी इसलिए नहीं कह रहा हूँ कि यदि ये विषय (तत्त्व निर्णय) यदि आपके सामने नहीं रखा जायेगा तो आज आत्मा के अस्तित्व को समझने वाले बहुत कम लोग बचे हैं। आत्मा की त्रैकालिक सत्ता को स्वीकार करने को तैयार नहीं है। प्रत्यक्ष (सांख्यवहारिक) प्रमाण मात्र को ही यदि प्रमाण मानते हो तो उसका परिणाम आज देखो समाज में क्या हो रहा है।” पृष्ठ 36, स्वरूपदेशना।

यह सर्वविदित ही है कि जैन न्याय के मूल तत्त्व अनेकान्त प्रमाण, नय, स्याद्वाद औ सप्तमंगी मुख्य हैं। आचार्य विशुद्ध सागर जी ने देशना में इनकी सम्यक् उपयोगिता निरूपित करते हुए एकान्त नयाभासों, प्रमाणाभासों का अपेक्षित रूप से निरसन करके जैन समाज को सापेक्ष न्याय के अवलम्बन से तत्त्वार्थों का यथार्थ श्रद्धान करने हेतु प्रबलता से व्याख्यान किया है। जैन धर्म में तत्त्व सात हैं जीव, अजीव, आस्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा और मोक्ष। इन्हीं में पुण्य-पाप को सम्मिलित करने से नव पदार्थ कहलाते हैं। पुण्य-पाप आस्रव बन्ध तत्त्व से ही विशेष हैं। इन्हें पृथक से कहने का उद्देश्य यही है कि यद्यपि ये आस्रव और बन्ध सामान्य की दृष्टि से कर्मोपाधिजन्य होने से समान हैं तथापि अपेक्षा दृष्टि से पाप तो सर्वथा त्याज्य है और पुण्य (शुभ) तात्कालिक उपादेय हैं। इन सभी का निरूपण आचार्य श्री ने सर्वांगीण विचार प्रकाशन युक्त शब्दावली द्वारा किया है। शब्दार्थ, नयार्थ, मतार्थ, आगमार्थ एवं भावार्थ द्वारा उदाहरणों के परिवेश में सुपाच्य एवं सामयिक शैली में किया है। इन तत्त्वों के निरूपण में सैद्धान्तिक एवं व्यवहारिक न्याय परिपाटी को अपनाया है। स्वरूप सम्बोधन के ही अन्तर्गत प्रयुक्त विरुद्ध शक्ति द्वय युक्त यथा मुक्त-अमुक्त, ग्राह्य-अग्राह्य, स्थिति व्यय-उत्पत्ति रूप, चेतन-अचेतनात्मक, भिन्न-अभिन्न, सर्वगत-असर्वगत, एकात्मक-अनेकात्मक, वाच्य-निर्वाच्य, मूर्तिक-अमूर्तिक आदि अनेक धर्मात्मक जीव तत्त्व का प्रमुखता से जो वर्णन है उसे जीवन की प्रत्येक स्थिति में अपने चिन्तन का विषय बनाने हेतु आचार्य श्री विशुद्ध सागर जी ने श्रोताओं हेतु नाना उपक्रम किये हैं। पाठक को संभवतः विषयान्तरता का अनुभव हो कि प्रमाण विषय में छोटे-छोटे अन्य लौकिक सामाजिक व अन्य वाङ्मय के प्रसंगों को क्यों पारायण करें। इससे उसे आचार्य श्री के लोकहित दृष्टिकोण को भी रखते हुए न्याय शास्त्र की अध्यात्म विषयक प्रवचन उपयोगिता की अनुभूति होगी, इसमें सन्देह नहीं है। आचार्य तो आचार्य हैं उनका उद्देश्य स्व के आचरण के साथ पर को भी चारित्र संयम में लगाये रखना ही है।

आगे हम करुण हृदय आचार्य श्री के कुछ वाक्य न्याय शास्त्र के उपयोग सम्बन्धी प्रस्तुत करने का लोभ-संवरण नहीं कर पा रहे हैं, प्रस्तुत है।

1. 'ये जैन न्याय बोल रहा है। सिद्ध को सिद्ध नहीं करना पड़ता, असिद्ध

को सिद्ध करना पड़ता है।" (पृ० 89)

2. "वस्तु स्वरूप को समझना। करणानुयोग में प्रवचन चल रहा हो तो वस्तु स्वरूप को समझना और यदि द्रव्यानुयोग में प्रवचन चल रहा हो तो भी वस्तु स्वरूप को समझना।" (पृ० 64)
3. "धर्म स्व सापेक्ष है, पर सापेक्ष नहीं हैं हम अपने चिन्तवन में स्वतन्त्र हैं, अपने उपादान को पवित्र करने में स्वतंत्र हैं।" (पृ० 89)
4. "ज्ञानदर्शनतस्तस्मात्। इसलिए ज्ञानदर्शन की अपेक्षा से आत्मा स्यात् चेतनाचेतनात्मकः। ज्ञान दर्शन की अपेक्षा से चेतन है अन्य गुणों की अपेक्षा से अचेतन है।" (पृ० 112)
5. ज्ञानियों! वैशेषिक दर्शन गुण व गुणी को अत्यन्त भिन्न मानता है। वह कहता है कि आत्मा स्वयं को नहीं जानता, पर को जानता है और अपने को जानने के लिए पर ज्ञान की आवश्यकता है..... परन्तु जैनाचार्य कहते हैं कि संज्ञा, लक्षण प्रयोजन की दृष्टि से द्रव्य, गुण पर्याय में भेद है, परन्तु अधिकरण की दृष्टि से एक हैं। ज्ञान से आत्मा भिन्न है व अभिन्न है। कथंचित् भिन्न है, कथंचित् अभिन्न है।" (पृ० 125)
6. जयसेन स्वामी ने स्पष्ट किया (समयसार टीका) कि जब तक निश्चय भूतार्थ की प्राप्ति नहीं हो रही है तब तक उसके लिए व्यवहार ही भूतार्थ है। परन्तु परम भूतार्थ दृष्टि जो परमार्थ है वही भूतार्थ है। यह समयसार की दृष्टि है।" (पृ० 213)

उपर्युक्त उद्धरणों से प्रकट है कि स्वरूप देशना में अध्यात्म सम्बन्धी तत्त्व निर्णय में न्याय शास्त्र की महती उपयोगिता है। उन्होंने सार रूप में एक बात का निरूपण किया है कि "नमोऽस्तु शासन के प्रति श्रद्धानिक होना है तो दर्शन शास्त्र का भी अध्ययन करना पड़ेगा। तर्क शास्त्र से जो श्रद्धा बनेगी वह टूट नहीं पायेगी। श्रद्धा से चला गया, तो कभी भी गड़बड़ हो जायेगा।" (पृ० 6) उनके प्रत्येक प्रवचन के अन्त में आचार्य अमृतचन्द्र जी के कलश का शुद्ध नय के प्रसंग सहित "आत्मस्वभाव परभावभिन्न" पद के रूप में श्लोक का प्रथम चरण उच्चारित किया जाता है। वर्तमान में अध्यात्म चर्चा के प्रासंगिक विषय, कर्ता-कर्म, उपादान, निमित्त, अशुभ-शुभ, शुद्धोपयोग, निश्चय-व्यवहार,

चारों अनुयोगों की सार्थकता न्यायशास्त्र से सम्बन्धित प्रकरण, मुनिचर्या का आध्यात्मिक पक्ष, देशकाल की मर्यादा आदि तथा श्रावक समाज हेतु आचरण एवं चिन्तन बगैरह उनकी सर्वोदयी देशना में सम्मिलित है। उन्होंने स्वरूप देशना में विपुल संख्या में न्याय विषय के शास्त्रीय उद्धरणों को प्रस्तुत कर तत्त्व निर्णय में उसकी उपयोगिता प्रकाशित की है। उनके स्वरूप देशना रूप योगदान को जिनवाणी सेवा का एक उत्कृष्ट मानदंड माना जावेगा। इस हेतु श्रद्धा से ऐसे बहुत आचार्य परमेषी को शतशः नमन। उनके विषय में निम्न उक्ति सार्थक होगी—

**मनीषिणः सन्ति न ते हितैषिणः, हितैषिणः सन्ति न तो मनीषिणः।
सुहृच्च विद्वानपि दुर्लभो नृणां, यथौषधं स्वादु हितं च दुर्लभम्॥**

संदर्भ सूची

1. सर्वार्थसिद्धि टीका चूलिकागत (आ० पूज्यपाद स्वामी)
2. स्वरूप देशना पृ० 217
3. आ० माणिक्यनन्दि, परीक्षामुख 1/1
4. आ० अकलंक देव, लघीयस्त्रग्र-60
5. (न्यायग्रन्थ) प्रमाण परीक्षा- 53
6. आ० अकलंकदेव, अष्टशती
7. आ० समन्तभद्र बृहत्स्वयंभू स्तोत्र-63
8. स्वरूप देशना पृ० 36

स्वरूप देशना की विधि-निषेध शैली पर एक दृष्टि

—प्राचार्य डा० शीतल चन्द जैन, जयपुर

आचार्य भट्टकलक देव की "स्वरूप सम्बोधन" महत्त्वपूर्ण कृति पर आचार्य श्री विशुद्ध सागर जी महाराज के आध्यात्मिक प्रवचन दार्शनिक विधि-निषेध शैली में हुए हैं। उन प्रवचनों की फलश्रुति 'स्वरूपदेशना' कृति के रूप में प्राप्त हुयी है।

इस स्वरूपदेशना कृति के प्रारम्भिक 10 पद्यों में देशनाकार आचार्य विशुद्ध सागर जी महाराज ने आत्मा के स्वरूप का सैद्धान्तिक विवेचन विधि-निषेध शैली का आश्रय लेकर किया है और अनेकविध एकान्त मान्यताओं का मिसाकरण करते हुए अनेकान्तात्मक आत्मा के स्वरूप को स्थापित किया है।

ग्रन्थ के प्रथम पद्य में सर्वथा मुक्तैकान्त और अमुक्तैकान्त का निषेध करते हुए आत्मा का कर्म से मुक्त (भिन्न) और ज्ञानादि से अमुक्त (अभिन्न) मुक्तामुक्त अनेकान्तरूप बताया है। देशनाकार ने विधि-निषेध शैली द्वारा किस प्रकार समझाया सो कहते हैं कि एकान्त को समाप्त करने की आवश्यकता नहीं है, अनेकान्त को कहने की आवश्यकता है, अनेकान्त में पूरी शक्ति है। हमने दूसरे के खण्डन में तो प्रयोग किया, स्याद्वाद के मण्डन में कर लेता तो पर का खण्डन स्वयमेव हो जाता। अस्ति का भी कथन होता है और नास्ति का भी कथन होता है। किसी को बुरा लगता 'मैं रात्रि भोजन नहीं छोड़ सकता' ठीक है, नहीं छोड़ने का लेकिन उसको एक प्रतिज्ञा दे देना कि जब भी तू भोजन करना दिन में कर लेना। ठीक है, उसको विकल्प था कि मैं रात में नहीं छोड़ सकता। नहीं छोड़, कोई टेंशन नहीं, परन्तु दिन में तो खा सकता है कि नहीं खा सकता? विधि का कथन होते - होते निषेध का भी कथन होना चाहिए। यदि निषेध का कथन नहीं होगा तो ऐसे भी लोग बैठे हैं कि मैं अरहन्त की वन्दना करूँगा निर्ग्रन्थ की वन्दना करूँगा, पूछ- क्यों? तो बोले कहाँ लिखा है कि इनकी वन्दना नहीं करो इसलिए स्याद्विधि, स्यादनिषेध। अतः वे सिद्ध परमेश्वी मुक्त है कर्मों की अपेक्षा से, अमुक्त है। अनन्तज्ञानादि गुणों की अपेक्षा से अतः जो मुक्तामुक्त है ऐसे सिद्धों की वन्दना करता हूँ।

आचार्य श्री विधि-निषेध शैली के माध्यम से कठिन से कठिन सिद्धान्त को चुटकी में समझा देते हैं। जैसे- छह द्रव्य का परिणामन स्वतंत्र है, छहों द्रव्यों की परिणति स्वतंत्र है। कोई किसी द्रव्य का कर्ता नु हुआ, न होगा। जो कर्ता शब्द का प्रयोग है, वह ज्ञानियों! उपयोगकर्ता की दृष्टि से प्रयोग है, विकारी भावों की कर्ता की दृष्टि से प्रयोग है, लेकिन वस्तु के कर्ता की दृष्टि का प्रयोग नहीं है।

स्वरूप सम्बोधन के द्वितीय श्लोक में आचार्य अकलक स्वामी आत्मा के स्वरूप में चार विशेषणों का निरूपण करते हैं। इस ग्रन्थ का यह पद्य वास्तव में गागर में सागर की उक्ति की चरितार्थ करता है। देशनाकार 'आत्मा ग्राह्य-अग्राह्य है' इसको अनेकान्त शैली में प्रतिपादित करते हुए कहते हैं कि यह पद्य पूरा अध्यात्म से भरा हुआ है। स्फटिक-मणि के सामने जैसा पुष्प आये वैसी दिखना प्रारम्भ कर देती है लेकिन मणि पुष्परूप नहीं होती। ऐसी ही आत्मा है। आज तक मेरे आत्मद्रव्य ने परद्रव्य को स्वीकार नहीं किया। मैं समझ रहा हूँ कि कर्म, नोकर्म, भावकर्म से बद्ध है आत्मा। इतना होने के उपरान्त भी जैसे स्फटिक के सामने पुष्प आया अवश्य है लेकिन स्फटिक ने पुष्प को किंचित भी स्वीकार नहीं किया। उस स्फटिक रूप नहीं हुआ। ये पारदर्शिता का प्रभाव है कि उसमें झलकता, लेकिन स्पष्ट नहीं हुआ।

शुद्ध आत्मा ने कभी भी परद्रव्य को स्पष्ट नहीं किया, इसलिए अग्राह्य है ये आत्मा। स्पर्श, रस, गन्ध आदि द्रव्यों से खींचा नहीं जा सकता इसलिए ये अग्राह्य है परन्तु निज स्वरूप में लीन होता योगी, इसलिए ग्राह्य है। ये आत्मा तो आत्मा के अनुभव का विषय है इसलिए, प नेत्रों का विषय नहीं है इसलिए आत्मा अग्राह्य है। परन्तु आत्मा स्वानुभूति का विषय है, इसलिए आत्मा ग्राह्य भी है।

देशनाकार आत्मा का ग्राह्य - अग्राह्य दोनों धर्मों को किस सरल भाषा शैली से समझा रहे और अकलक के हृदय की बात खोलकर रख दी। यह न्याय की विधि - निषेध शैली है।

इसी कृति में आचार्य अकलक स्वामी आत्मा को स्यात् चेतना चेतनात्मक कह रहे। देशनाकार ने अनेक उदाहरण देकर अपनी चिरपरिचित शैली में देशना दी है कि आत्मा में कोई चैतन्य नाम का गुण है तो वह है ज्ञान-दर्शन। इस गुण के माध्यम से हमारी आत्मा चैतन्यभूत है। इसलिए एक ही समय में पर निरपेक्ष से आत्मद्रव्य चैतन भी है, अचेतन भी है आत्मा अनन्त गुणात्मक है अनन्त धर्मात्मक है। अतः आत्मा को चेतनाचेतन-स्वभावी कहते हैं।

देशनाकार ने स्वरूप देशना में वैशेषिक मत का उल्लेख करते हुए कहा ये दार्शनिक ज्ञान-दर्शन गुण को आत्मा से भिन्न मानते हैं परन्तु जैनाचार्य कहते हैं कि संज्ञा-लक्षण प्रयोजन की दृष्टि से द्रव्य, गुण पर्याय में भेद है परन्तु अधिकरण की दृष्टि से एक है। ज्ञान से आत्मा भिन्न है व अभिन्न है। कथंचित भिन्न हैं, कथंचित अभिन्न है। जो ज्ञान गुण की पर्याय है वह भूत, भविष्य, वर्तमान त्रैकालिक अवस्था को जानती है।

आत्मा के स्वरूप को आचार्य अकलक देव जिस अध्यात्म शैली में कह रहे हैं, वह अन्यत्र देखने में दुर्लभ है। देशनाकार ने न्याय के ग्रन्थों को गहरायी से अध्ययन किया है। यही कारण है कि आपने भी अकलक द्वारा अपनायी गयी शैली को ही प्रयोग किया है। जैसे आत्मा सर्वथा अवक्तव्य है या वक्तव्य है, इसको समझाने के लिए आपने काफी विस्तार से सिद्ध किया है कि अनुभव जो होगा वह अवाच्य होगा और जो कथन होगा वह वाच्य होगा। अर्थात् स्वरूपादि की अपेक्षा से आत्मा अवक्तव्य नहीं है परन्तु अविवक्षित धर्मों की अपेक्षा आत्मा अवक्तव्य है।

स्वरूपदेशना की आठवीं कारिका में आत्मा विधिरूप है या निषेध रूप है? आत्मा मूर्तिक है या अमूर्तिक है? इत्यादि प्रश्नों का समाधान इस कारिका में प्राप्त होता है। इस ग्रन्थ को पूर्वपक्ष और उत्तरपक्ष से मुक्त रखा गया है, परन्तु अकलक जैसे तार्किक शिरोमणि आचार्य ने पूर्वपक्ष का उल्लेख किये बिना भी अन्य वादियों का निराकरण किया ही है। वे कहते हैं कि—

**सा स्याद् विधिनिषेधात्मा, स्वधर्मपरधर्मयोः।
स मूर्ति बोधमूर्तित्वादमूर्तिश्च विपर्ययात्॥**

वह आत्मा स्वधर्म और परधर्म में विधि और निषेध रूप होता है। वह ज्ञानमूर्ति होने से मूर्तिरूप है और विपरीत रूप वाला होने से अमूर्तिक है। इसको कन्नडटीकाकार महासेन पण्डितदेव तथा संस्कृतटीकाकार केशववर्णा ने अकलक के अभिप्राय को काफी विस्तार से स्पष्ट किया है।

उक्त टीकाओं के बावजूद भी ग्रन्थ का प्रतिपाद्य विषय अध्यात्मपरक होने के साथ न्यायभाषा से परिपूर्ण है। अतः आचार्य विशुद्ध सागरजी महाराज ने सरल सुबोध शैली में श्रावकों को देशना के माध्यम से उदाहरणों के द्वारा समझाया है। देशनाकार कहते हैं कि वस्तु स्वरूप के प्रति अज्ञ दृष्टि जीव की है कि असत्य को असत्यार्थ ही मानता है जबकि असत्य भी सत्यार्थ है। असत्य को असत्य तो कहतना परन्तु असत्य को असत् मत कहना। यदि असत्य असत् है तो असत्य किस बात का? औ सत्य असत् है, तो सत्य क्या? आपको असत्य की भी सत्ता स्वीकार करनी होगी। इसी प्रकार भूतार्थ की भी सत्ता है, अभूतार्थ की भी सत्ता है। सत्ता की दृष्टि से दोनों सत् हैं। वस्तुतः उक्त कारिका स्याद्वाद से परिपूर्ण है।

स्याद्वाद यह संयुक्त पद है जो स्यात् और वाद इन दो पदों के मेल से बनता है। 'वाद' का अर्थ है कथन या प्रतिपादन और 'स्याद्' शब्द कथंचित के अर्थ में प्रयुक्त होती है। प्रत्येक वस्तु अनन्त धर्मात्मक है और स्याद्वाद उस अनन्त

धर्मात्मक वस्तु के प्रतिपादन करने का एक साधन या उपाय है। अनेकान्त और स्याद्वाद शब्द पर्यायवाची नहीं है। अनेकान्त वाच्य है और स्याद्वाद वाचक है। अनेकान्तवाद और स्याद्वाद पर्यायवाची हो सकते हैं। अनेकान्त यह शब्द अनेक और अन्त इन दो पदों के मेल से बना है। एक वस्तु में अनेक धर्मों के रहने का नाम अनेकान्त नहीं है किन्तु प्रत्येक धर्म अपने प्रतिपक्षी धर्म के साथ वस्तु में रहता है। ऐसा प्रतिपादन करना ही अनेकान्त का प्रयोजन है अर्थात् सत्, असत् का अविनाभावी है और एक अनेक का अविनाभावी है।

प्रत्येक वस्तु में अनन्त धर्म होते हैं और प्रत्येक धर्म का कथन अपने विरोधी धर्म की अपेक्षा से सात प्रकार से किया जाता है। प्रत्येक धर्म का सात प्रकार से कथन करने की शैली का नाम ही सप्तभंगी है कहा भी है— 'प्रश्नवशादेकत्र वस्तुन्यविरोधेन विधिप्रतिषेधकल्पना सप्तभंगी' अर्थात् सात प्रकार के प्रश्न के वश से वस्तु में अविरोध पूर्वक विधि और प्रतिषेध की कल्पना करना सप्तभंगी है। उक्त सिद्धान्त के अनुसार आचार्य विशुद्ध सागर जी महाराज स्वरूप देशना में कहते हैं कि एक ही समय में वह द्रव्य कथंचित् विधिरूप है, कथंचित् निषेधरूप है। कैसे? स्वधर्म की अपेक्षा वस्तु विधिरूप है, परधर्म की अपेक्षा से वस्तु निषेध रूप है। स्वद्रव्य, स्वक्षेत्र, स्वकाल स्वभाव की अपेक्षा से अस्तिरूप है और परद्रव्य परकाल, परक्षेत्र, परभाव की अपेक्षा से मैं नास्तिरूप हूँ। ये पुद्गलद्रव्य है स्वचतुष्टय की अपेक्षा से अस्तिरूप। ये जीव है क्या? नास्ति रूप है। आत्मा मूर्तिक भी है, अमूर्तिक भी है। बोधमूर्ति, ज्ञानमूर्ति की अपेक्षा से आत्मा मूर्तिक है स्पर्श, रस, गन्ध वर्ण का अभाव होने से आत्मा अमूर्तिक है। इसलिए स्याद् मूर्तिक स्याद् अमूर्तिक। संसारी आत्मा बन्ध की अपेक्षा मूर्तिक है, निर्बन्ध स्वभाव की अपेक्षा से अमूर्तिक है। इसलिए हमारी आत्मा अनेकान्तमयी है।

उक्त विश्लेषण से स्पष्ट है कि न्यायविद्या के समर्थक युगप्रभावक आचार्य भट्टाकलकदेव की इस कृति पर आचार्य विशुद्ध सागरजी महाराज ने विधि-निषेध अर्थात् स्याद्वाद शैली में अनेकान्तमयी आत्मा का स्वरूप श्रावकों को अनेक उदाहरण देकर समझाया है। आचार्य श्री न्याय जैसा दुरुह, शुष्क विषय को इस प्रकार प्रतिपादित करते हैं जैसे मोक्षमार्ग की कहानियाँ सुना रहे हों। इस युग में न्याय-दर्शन की विधि निषेध शैली के माध्यम से वस्तु विवेचन करने वाले आप जैसे विरले ही संत हैं। आपका चिन्तन मौलिक है पाठकों को नयी शैली में नया प्रमेय प्राप्त होता है। इसी प्रकार यह चिन्तन युग युगान्तर तक प्राप्त होता रहे यही मेरी भावना है।

स्वरूप देशना के परिप्रेक्ष्य में विशुद्ध भावों की उत्पत्ति में सम्यग्ज्ञान की भूमिका

प्र० (डा०) रतनचन्द्र जैन, भोपाल (म०प्र०)

मेरे आलेख का विषय है 'स्वरूपदेशना के परिप्रेक्ष्य में विशुद्ध भावों की उत्पत्ति में सम्यग्ज्ञान की भूमिका।' आचार्य श्री अकलंक देव रचित 'स्वरूपसंबोधन' की 26 कारिकाओं पर आचार्य श्री विशुद्धसागर जी द्वारा की गई देशना के संग्रह कानाम 'स्वरूप-देशना' है।

स्वरूप सम्बोधन की चौथी कारिका में यह अकलंक देव ने बतलाया है कि ज्ञान आत्मा का गुण है। आत्मा उससे न तो सर्वथा भिन्न है और न सर्वथा अभिन्न, अपितु कथंचित, भिन्न-भिन्न है।

इस पर देशना करते हुए आचार्य श्री विशुद्धसागर जी ने सम्यग्ज्ञान का स्वरूप बतलाने के लिए मूलाचार की निम्नलिखित गाथा उद्धृत की है—

जेण तच्चं बिबुज्जेज्ज, जेण चित्तं निरुज्जदि।

जेण अत्ता विसुज्जेज्ज, तं णाणं जिणस्ससणे॥267॥

अर्थात् जिससे तत्त्व का बोध हो, जिससे चित्त का निरोध हो तथा जिससे आत्मा विशुद्ध हो, उसे जिनशासन में ज्ञान (सम्यग्ज्ञान) कहा गया है।

इसकी व्याख्या के लिए आचार्य विशुद्धसागर जी हाथ की पाँच अंगुलियों में से बीच की तीन अँगुलियों का दृष्टान्त देते हुए कहते हैं— तीन अँगुलियों में बीच की अँगुली सबसे ऊँची है, वह सम्यग्ज्ञान है और आजू-बाजू की अँगुलियाँ सम्यग्दर्शन एवं सम्यक्चरित्र हैं। सम्यग्ज्ञान सम्यग्दर्शन को भी ज्योतिर्मय करता है और सम्यक्चरित्र को भी।

इससे यह वैज्ञानिक तथ्य स्पष्ट होता है कि समीचीन तत्त्वज्ञान से सम्यग्दर्शन रूप विशुद्धता प्रकट होती है, भले ही सम्यग्दर्शन प्राप्त होने पर वह समीचीन तत्त्वज्ञान सम्यग्ज्ञान संज्ञा पाता है। और सम्यग्ज्ञान होने पर ही अर्थात् हेय और उपादेय का विवेक होने पर ही जीव हेय का त्याग और उपादेय को ग्रहण करता है जिससे सम्यक्चरित्र विशुद्धता का विकास होता है।

इसकी पुष्टि के लिए आचार्य श्री विशुद्ध सागर जी ने परीक्षामुख का यह सूत्र उद्धृत किया है— "हिताहित-प्राप्तिपरिहारसमर्थं हि प्रमाणं ततो ज्ञानमेव तत्।" और इसे स्पष्ट करते हुए वे कहते हैं— "अकलंक स्वामी से आप ज्ञान की चर्चा सुन रहे

हो। अकलंक-महोदधि से निकाले मोतियों से आचार्य माणिक्यानन्दी स्वमी कह रहे हैं कि जिससे हित की प्राप्ति हो, अहित का परिहार हो, वही प्रमाण है। वह प्रमाणिकता ज्ञान में ही हो सकती है, अन्य में नहीं हो सकती। हाथ में दीपक, ज्ञानी फिर भी गड्ढे में गिर जाये तो इसमें दीपक का क्या दोष? दीपक इसलिए लेना पड़ता है कि कहीं साँप पर पैर न पड़ जाय, मल पर पैर न पड़ जाये, कुएँ में न गिर जाऊँ।..... ज्ञानी! दीप इसलिए लेकर चलना पड़ता है कि कहीं विषयकषायों के साँप पर पैर न पड़ जाये, विषयभोगों के गड्ढे में न गिर जाऊँ, वासना का बिच्छू डंक न मार दे।...वह ज्ञान 'ज्ञान' नहीं, जिससे अहित का परिहार।'

(स्वरूप-सम्बोधन/स्वरूपदेशना। पृ० 120-121)

आचार्य श्री विशुद्ध सागर जी ने इस दृष्टान्त व्याख्यान द्वारा परीक्षामुख के उक्त सूत्र में जो सम्यग्ज्ञान रूप प्रमाण का फल बतलाया गया है, उसे मलीभांति हृदयगम बना दिया है।

इस व्याख्यान में आचार्य कुन्दकुन्द कृत समयसार की निम्नलिखित गाथा का प्रभाव भी समविष्ट है-

णादूण आसवाणं असुचित्तं विवरीयभावं च।

दुःखस्स कारणं ति य तदो, णियत्तिं कुादिजीवो॥72॥

अर्थात् जब जीव यह जान लेता है कि क्रोधादि आस्रव अपवित्र हैं, आत्मस्वभाव से विपरीत हैं और दुःख के कारण हैं, तब वह उनसे निवृत्त हो जाता है।

आचार्य भगवन श्री कुन्दकुन्द देव के इन वचनों से भी सिद्ध होता है कि अशुद्धभावों की निवृत्ति और विशुद्धभावों की उत्पत्ति में सम्यग्ज्ञान की महत्वपूर्ण भूमिका होती है।

आचार्य अमृतचन्द्र स्वामी इसकी पुष्टि करते हुए उक्त गाथा की आत्मख्याति टीका में लिखते हैं- "इत्येवं विशेषदर्शनेन यदैवाय-आत्मा स्त्रवयोर्भेदं जानाति तदैव आस्रवेभ्यो निवर्तते। तेभ्योऽ-निवर्तमानस्य पारमार्थिक तद्भेदज्ञानासिद्धेः।"

अर्थात् इन तीन विपरीतताओं के दर्शन से ज्यों ही जीव आत्मा और आस्रवों के भेद को जानता है, त्यों ही उनसे निवृत्त हो जाता है। यदि निवृत्त नहीं होता है तो सिद्ध होता है कि उसे परमार्थतः भेदज्ञान ही नहीं हुआ है। तात्पर्य यह कि सम्यग्ज्ञान आत्मा में विशुद्धभावों की उत्पत्ति का प्राथमिक हेतु है।

ज्ञान से मद का विगलन होता है और विनयरूप विशुद्ध भाव जन्म लेता है, इसे दृष्टान्त द्वारा स्पष्ट करते हुए आचार्य श्री विशुद्ध सागर जी श्रोताओं से कहते हैं— "जानी! बस ज्ञान की पहचान यहीं देखना। जैसे फल लगने पर वृक्ष की शाखाएँ झुक जाती हैं, वैसे ही तत्त्वज्ञानी को ज्ञान होते ही उसकी सारी अवस्थाएँ झुक जाती हैं। देखो, आप यह मत समझना कि पंडित जी (पं० रतनचन्द्र जी शास्त्री, इन्दौर) के सामने बैठे हैं, इसलिए ये बातें कर रहा हूँ। मैं तो पीछे भी बातें करता हूँ और सच्ची प्रशंसा वही है जो पीछे होती है। इतना बड़ा ज्ञानी होने के बाद भी एक प्रतिमाधारी भी हो, कुल्लक जी ऊपर बैठे, कितनी उम्र होगी, तब भी ज्ञानी नीचे बैठा है। नहीं, उम्र बढ़ी हो सकती है, ज्ञान बढ़ा हो सकता है, परन्तु श्रद्धा किस पर जा रही है? संयम पर जा रही है। ऐसे ही थे पं० जगमोहनलाल जी शास्त्री, कटनी वाले। सतना में उनका स्वास्थ्य खराब हो गया। कुर्सी पर बैठे थे। जब संघ में आये दर्शन को, महाराज जी ने कह दिया कि बैठे रहो, तो वे बोले— "नहीं महाराज! वे आँखें कम हैं, जो हमारे बूढ़े शरीर को देखेंगी। वे आँखें ज्यादा हैं, जो मुनि के साथ कुर्सी पर बैठे देखेंगी। अहो क्या सोच है!" (स्वरूपदेशना! पृ० 124)

मन में प्रश्न उठा कि "स्वरूप देशना" "स्वरूप-सम्बोधन" जैसे न्यायग्रन्थ में आचार्य श्री विशुद्ध सागर जी ने अभिषेक रूप व्यवहार धर्म की चर्चा क्यों उठायी? और वह भी एक जगह नहीं, अपितु कई जगह? परन्तु फिर विचार आया कि अभिषेक का सम्बन्ध भी विशुद्ध परिणामों की उत्पत्ति से है, इसलिए सप्रसंग इसकी चर्चा श्रावकों को दिशा-बोध देने के लिए प्रस्तुत की है।

सम्यग्ज्ञान के लिए अन्वेषणात्मक खोज करना आवश्यक है। कहीं आगम ग्रन्थों में कोई मिलावट तो नहीं की गयी है? किसी भी ग्रन्थ को आँख भींचकर आगम ग्रन्थ मान लेना उचित नहीं है। क्या मिलावटी और नकली ग्रन्थों को पढ़ने से सम्यग्ज्ञान प्राप्त हो सकता है और क्या वह विशुद्ध भावों की उत्पत्ति में कारण बन सकता है? अतः अध्ययन-मनन करने की आवश्यकता है, यदि समीचीन सम्यग्ज्ञान को स्थाई रखना है तो।

परभाव से भिन्न आत्मस्वभावः

स्वरूप देशना के परिप्रेक्ष्य में

—प्रो० फूलचन्द जैन प्रेमी, दिल्ली

अध्यात्मविद्या के मर्मज्ञ और इसी विद्या में अहर्निश तन्मय रहने वाले आचार्य श्री विशुद्ध सागर जी ने स्वरूप सम्बोधन ग्रन्थ पर "स्वरूप देशना" नाम से प्रवचन इन्दौर में सन् 2010 में निरन्तर लगभग एक माह तक प्रस्तुत किये थे। उन्हीं का यह संकलन रूप ग्रन्थ है। आपने इसके मूलग्रन्थ कर्ता भट्ट अकलंक देव माना है। अनेक विद्वान इसे आ० अकलंकदेव की कृति मानते हैं किन्तु कुछ वरिष्ठ विद्वान इससे सहमत नहीं है। जो भी है, किन्तु स्वरूप सम्बोधन अपने आप में लघुकाय होते हुए भी आत्मस्वरूप का मर्म अत्यन्त सारगर्भित रूप में प्रस्तुत करने वाला है।

इसी कृति पर आचार्य श्री विशुद्ध सागर जी ने इस ग्रन्थ की "स्वरूप देशना में परभाव से भिन्न आत्मस्वरूप का विवेचन" समसामाधिक उद्धरणों एवं संदर्भों के साथ बड़े ही मार्मिक रूप में प्रस्तुत किया है।

परभाव से तात्पर्य अपनी आत्मा के अतिरिक्त जो भी पदार्थ हैं वे सब परभाव-परद्रव्य हैं। एक मात्र अनन्त चतुष्टय युक्त शाश्वत आत्मा ही स्वभाव है। आचार्य कुन्दकुन्द ने कहा है कि—

एगो मे सस्सदो अप्पा णाणदंसण लक्खणा।

सेसा मे बाहिश भावा सव्वे संयोग लक्खणा॥

वस्तुतः इस सबमें भेद विज्ञान का दिया हुआ रहस्य है। भेद विज्ञान आध्यात्म का उत्कृष्ट तत्त्व है। प्रवचनसार तात्पर्यवृत्ति में कहा है— भेद विज्ञान जाते सति मोक्षार्थी जीवस्वद्रव्ये प्रवृत्ति परद्रव्ये निवृत्तिं च करोति। अर्थात् भेद विज्ञान हो जाने पर मोक्षार्थी जीव स्वद्रव्य में प्रवृत्ति और परद्रव्य में निवृत्ति करता है।

आचार्य अमृतचन्द समयसार कलश (131) में कहते भी हैं—

भेदविज्ञानतः सिद्धा सिद्धा ये किल केचन।

अस्यैवाभावतो बद्धा बद्धा ये किल केचन॥

अर्थात् अभी तक जितने सिद्ध सिद्धगति को प्राप्त हुए हैं वे सब इसी भेदविज्ञान से सिद्ध हुए हैं और अभी तक जितने कर्म बन्धनों में बन्धे हुए हैं, वे सब इसी भेद विज्ञान के अभाव के कारण परद्रव्य की परिभाषा करते हुए आचार्य कुन्दकुन्द देव ने मोक्षपाहुड में कहा है—

**आदसहावादणं सच्चित्ताचित्तभिरिसयं ह्यई
तं परद्रव्यं भणियं अदितत्थं सब्बदरसीहि॥१७॥**

अर्थात् आत्मस्वभाव से भिन्न जो कुछ सचित्त (स्त्री-पुत्रादिक), अचित्त (धन-धान्यादि), मिश्र (आभूषण सहित मनुष्यादिक) होता है, वह सर्व परद्रव्य है, ऐसा सर्वदर्शी भगवान ने सत्यार्थ कहा है। यही बात परमात्म प्रकाश (113) में जोइन्दु ने भी कही है। बारस अणुवेक्खा (गाथा संख्या 108) की सर्वोदयी टीका में आचार्य विशगसागर जी ने कहा है कि अन्दर के विकार रागादि भावकर्म के शरीरादिक नोकर्म तथा मिथ्यात्व व रागादि से परिणत असंयत जन भी परद्रव्य कहे जाते हैं—**रागादिभावकर्म ज्ञानावरणादि द्रव्यकर्म शरीरादि नोकर्म च बहिर्विषये मिथ्यात्वरगादि परिणतासंवृतनोऽपि परद्रव्यं भण्यते।**

समयसार आत्मख्याति टीका (327) में आचार्य श्री अमृतचन्द स्वामी कहते हैं—परद्रव्य और आत्मतत्त्व का कोई भी सम्बन्ध नहीं है, तब फिर उनमें कर्ता — कर्म सम्बन्ध कैसे हो सकता है? और उसका अभाव होने से आत्मा के परद्रव्य का कर्तव्य कहाँ से हो सकता है? क्योंकि इस लोक में एक वस्तु का अन्य वस्तु के साथ सम्पूर्ण सम्बन्ध का ही निषेध किया गया है। इष्टोपदेश में आचार्य पूज्यपाद भी कहते हैं—

गुरुपदेशादभ्यासात्संवित्तेः स्वपशान्तरम्।

जानाति यः स जानाति मोक्षसौख्यं निरन्तरम्॥३३॥

अर्थात् जो प्राणी गुरुपदेश से अथवा शास्त्राभ्यास से या स्वात्मानुभव से स्व एवं पर के भेद को जानता है, वही पुरुष सदा मोक्षसुख को जानता है।

व्यवहारनय से आत्मा कर्मों का कर्ता है, भोक्ता है और कर्मों से बंधता भी है। निश्चयनय से वह शुद्ध आत्मा ही है, वह उन (कर्मों) का कर्ता व भोक्ता नहीं है और वह कर्मों से बंधता भी नहीं है। बंधे हुए कर्म और कर्म-बन्ध के हेतु—ये सभी निश्चयनय से पर-द्रव्य रूप ही हैं, वे सभी आत्म-स्वभाव से विपरीत भाव वाले होते हैं।

स्वरूप देशना (पृष्ठ 9) में कहा है— जिसको वस्तु विवक्षा, व्यवस्था, वस्तु स्वतंत्रता का मान नहीं है, वही रो रहा है। छह द्रव्यों में आपके द्वारा कोई परिवर्तन नहीं है। जगत् का प्राणी राग-द्वेष ही कर पायेगा, लेकिन वस्तु व्यवस्था को भंग नहीं कर पायेगा। देशनाकार सम्बोधित करते हुए कहते हैं— जगत् के कर्ताओं! तुम जगत् का कुछ नहीं कर पाओगे, परन्तु जगत कर्तृव्य भाव से आप अपनी पर्याय को जरूर विपरीत कर सकते हो। राग-द्वेष के ही कर्ता आप हैं, लेकिन वस्तु के कर्ता नहीं हैं। बहुत गम्भीर प्रश्न है जिसे तत्त्व की गहराईयों में प्रवेश समझने की आवश्यकता है।

स्वरूप सम्बोधन में कहा है—

सोऽस्त्यात्मा सोपयोगोऽयं क्रमाद्धेतुफलावहः।

यो ग्राह्योऽग्राह्यनाद्यन्तः स्थित्युत्पत्तिव्ययात्मकः॥२॥

अन्वयार्थ— जो, दर्शन—ज्ञान—उपयोग वाला है, क्रम स, कारण और उसके फल यानि कार्य को धारण करने वालो है, ग्रहण करने योग्य है, अग्राह्य है, यानि ग्रहण करने वाला नहीं है, अनादि और अनन्त है, उत्पाद—व्यय—धौव्य रूप है, वह प्रसिद्ध है, यह जीवित शरीर में वर्तमान, आत्मा है।

मेरी आत्मा का स्वभाव देहमय नहीं है। मेरी आत्मा का स्वभाव भूमिमय नहीं है, स्वर्णमय नहीं है, गोमय नहीं है, महिषमय नहीं है। मेरी आत्मा का स्वभाव 'उपयोगो लक्षणं' है।

जैन सिद्धान्त को आप कैसे अपने आप में पी सकेंगे, इस पर ध्यान दो। जितने युवा बैठे हैं बड़े ध्यान से सुनना। मैं देह हूँ, तो इस देह को त्रैकालिक रहना चाहिए? मैं भवन हूँ, तो भवन मेरे साथ जाना चाहिए? मुमुक्षु! जिस देह से तुम पाप कर रहे हो, जिस देह का उपयोग तुम पाप में लगा रहे हो, वह देह तो राख हो जायेगी, परन्तु पाप तुम्हें भेंट करके भेज देगी।

मुमुक्षु! ध्यान दो। ये ऐसा ही है जैसे कि जनक जननी ने कन्या को जन्म दिया और जन्म देकर 15-16-17-18 वर्ष तक खूब लाड़-प्यार से खिला के घर में रखा और आज जब कन्या बड़ी हो गयी तो कन्या किसी के हाथ में सौंप रही है माँ। जन्म देकर अब सौंप रही है। जिसने जन्म दिया था, वह साथ नहीं जा रही। जिसके सहयोग से जन्म हुआ था, वह साथ नहीं जा रहा। जिस भवन में जन्म हुआ था, साथ नहीं जा रहा। यह तो सिद्धान्त की चर्चा है।

आगे (पृ० 58-59) कहा है — 'यो ग्राह्योऽग्राह्यनाद्यन्तः' बहुत गम्भीर सूत्र है, पूरा अध्यात्म भरा हुआ है। अब सब विकल्प छोड़ दो, स्फटिक मणि के सामने जैसा पुष्प आता है वह वैसी दिखना प्रारम्भ कर देती है।

अरस, अरूप, अगंध, अवक्तव्य है, अनिन्द्रिय है। तू आँखों से देखना चाहता है। ये आँखों से देखन का विषय नहीं है। ये आत्मा तो आत्मा के अनुभव का विषय है। इसलिए पर नेत्रों का विषय नहीं है। इसलिए आत्मा अग्राह्य है, परन्तु आत्मा स्वानुभूति का विषय है, इसलिए आत्मा ग्राह्य है। ऐसे ग्राह्य व अग्राह्य स्वरूप, भगवत् स्वरूप आत्मा अनादि से हैं और अनन्त काल तक रहेगा।

पूर्वोक्त श्लोक (संख्या 2) की व्याख्या में आचार्य श्री विशुद्ध सागर जी ने (पृ० 26) पर कहा है— 'इस श्लोक को श्लोक रूप में मत पढ़ो, इस (इह) लोक पढ़ो।

स्वरूप देशना विमर्श

जिस खम्भे के पास आप बैठे हो, वह आपके नजदीक है, लेकिन 'निज रूप नहीं है और जो निजरूप नहीं है, वह जिन रूप क्या दिलाएगा? जो निजरूप है, वही जिनरूप है। जो निजरूप देख लेगा, वह जिन रूप को प्राप्त कर लेगा। अतः भैया, निजरूप लखो, जिनरूप प्राप्त कर लो। इसलिए जिन-जिन के साथ आप रहते हो, उनसे दूरियाँ बनाकर चलो। क्योंकि जितने पर की नजदीकियाँ लेकर चलते हैं, जो ज्यादा नजदीक (मित्र) होते हैं। ज्ञानी ! नहीं शत्रु बनते हैं।

करणानुयोग की दृष्टि से पंचपरावर्तन को निहारिए। क्षेत्र परावर्तन में ज्ञानी! तूने ऐसा कौन सा प्रदेश छोड़ा जहाँ तूने भ्रमण न किया हो? क्रम-क्रम से भ्रमण किया है। इसलिए छोड़ो और आज से ये भ्रम निकाल देना कि ये मेरो हैं, मैं इनका हूँ। इनका मैं नहीं हूँ ये मेरे नहीं हैं। आपको मालूम होना चाहिए यदि आप स्वरूप सम्बोधन सुन रहे हो, तो कोई मिथ्यादृष्टि भी यहाँ आकर बैठ जाये तो उसके प्रति भी अशुभ भाव नहीं करना। घोर मिथ्यादृष्टि भी आकर बैठ जाये, उसके प्रति भी अशुभ भाव नहीं करना। ये भ्रमण संस्कृति है। ये सिद्ध को सिद्ध नहीं करती, ये प्रसिद्ध करती है। सिद्ध को सिद्ध नहीं कहना पड़ता। असिद्ध को सिद्ध करना पड़ता है कहा भी है—

'प्रसिद्धोधर्मी' धर्मी प्रसिद्ध होता है। असिद्ध सिद्ध होता है, सिद्ध सिद्ध नहीं होता। ये अज्ञानी लोग हैं जो स्वभाव की जगह द्रव्यदृष्टि को द्रव्य ही मान बैठे हैं। ये अज्ञान का विषय है। लेकिन ज्ञानी जो है वह कहेगा कि असिद्ध प्रसिद्ध होना चाहिए। जो प्रसिद्ध असिद्ध है, उसे ही हम प्रसिद्ध सिद्ध कर पायेंगे।

स्वरूप सम्बोधन में कहा है—

प्रमेयत्वादिभिर्धर्मैरचितात्मा चिदात्मकः।

ज्ञानदर्शन-तस्तस्माच्चेतना चेतनात्मकः ॥३॥ (पृ० 112)

प्रमेयत्व आदि धर्म की अपेक्षा से आत्मा अचेतन है। अस्तित्व गुण आत्मा में है, वस्तुत्व गुण आत्मा में है। आत्मा में कोई चैतन्य नाम का गुण है तो वह है ज्ञान-दर्शन। ज्ञान-दर्शन गुण के माध्यम से हमारी आत्मा चैतन्यभूत है। इसलिए एक ही समय में परनिरपेक्ष से आत्मद्रव्य चैतन्य भी है, अचेतन भी है। आत्म अनंतगुणात्मक है, अनंत धर्मात्मक है।

जड़ गुणों को जड़ रूप समझो, चैतन्य गुणों को चेतन रूप समझो। परन्तु जो चेतन गुण हैं आत्मा में, वह जड़ गुणों से रहित नहीं होंगे और जो जड़गुण हैं आत्मा में, वे चेतन गुणों से रहित नहीं होंगे। इसलिए ज्ञान-दर्शन की अपेक्षा से आत्मा 'स्यात् चेतनाचेतनात्मकः।' ज्ञान-दर्शन की अपेक्षा से चेतन है, अन्य गुणों की

अपेक्षा से अचेतन है। आत्मा को आप चेतनाचेतन स्वभावी जानो। अस्तित्व गुण पर विशेष चिंतन करना। द्रव्य का अस्तित्व धर्म कभी नष्ट नहीं होता, द्रव्य की सत्ता कभी नष्ट नहीं होती है। इसलिए ध्यान रखो, संयोग-वियोग में हर्ष-विषाद करने की कोई आवश्यकता नहीं है, मध्यस्थ होकर रहो।

जो जीव पर आलोचना में लग करके और ये सोचता है कि मैं उसे सुधारकर रहूंगा। हे जीव! वो सुधरे या न सुधरे, परन्तु विश्वास रखना, तू नियम से बिगड़ रहा है। ऐसे ही उन अज्ञानी ज्ञानियों से कह देना कि तुम दूसरे को साफ करने के लिए बैठे हो। वह साफ हो या न हो, लेकिन तेरा पुण्य नियम से साफ हो रहा है, क्योंकि पर की निन्दा कर रहा है, नीच गौत्र का आस्रव नियम से हो रहा है। (पृ० संख्या 341-342)

स्वरूपसम्बोधन (पद्य 20) में कहा है—

स्वपरञ्चेति वस्तु त्वं वस्तुरूपेण भावय।
उपेक्षाभावनोत्कर्षपर्यन्ते शिवमाप्नुहि॥

अर्थात् तू, अपने आत्मत्व को, और अन्य वस्तु को, वस्तुभाव से, भावना कर, इस प्रकार अपेक्षा यानि रागद्वेष रहितपना— भाव की पूर्ण वृद्धि हो जाने पर, मोक्ष को, प्राप्त कर ॥20 ॥

आगे कहा है—

तथाप्यतितृष्णावान् हन्त! मा भूस्त्वमात्मनि।
यावत्तृष्णा प्रभृतिस्ते तावन्मोक्षं न यास्यसि॥21॥

अर्थात्— हे आत्मन्! ऐसा आत्म-चिन्तवन होने पर भी तुम अपने विषय में भी अत्यन्त तृष्णा से युक्त मत होओ, क्योंकि जब-तक, तुम्हारे/अन्तस् में तृष्णा की भावना उत्पन्न होती रहेगी, तब तक मोक्ष नहीं पा सकोगे।

और भी कहा है—

यस्य मोक्षेऽपि नाकाङ्क्षा स मोक्षमधिगच्छति।
इत्युक्तत्वाद्विदितान्वेषी काङ्क्षा न क्वापि योजयेत्॥22॥

अर्थात् जिसके, मोक्ष की भी, अभिलाषा नहीं होती वह भव्य मनुष्य मोक्ष प्राप्त कर लेता है, ऐसा सर्वज्ञ-देव द्वारा अथवा आगम द्वारा कहा गया है, इस कारण हित की खोज में लगे हुए व्यक्ति को कहीं भी आकांक्षा / इच्छा नहीं करनी चाहिए।

देशनाकार कहते हैं— शास्त्रों का ज्ञान तुमको 'ज्ञानी' संज्ञा तो दिला सकता है,

लेकिन शास्त्रों का ज्ञान 'भेदज्ञानी' संज्ञा नहीं दिला सकता। 'आत्मज्ञानी' संज्ञा शास्त्र नहीं दिला सकते हैं। परमात्मप्रकाश टीका में कहा है—

अन्यथा वेद पाण्डित्यं, शास्त्र पाण्डित्यमन्यथा।

अन्यथा परमं तत्त्वं लोकाः क्लेशयन्ति चान्यथा॥

अर्थात् वेदों का पाण्डित्य भिन्न है, शास्त्रों का पाण्डित्य भिन्न है और आत्मा का पाण्डित्य भिन्न है। शास्त्रों / वेदों का पाण्डित्य मुख पात्र तक, मस्तिष्क तक होता है, लेकिन आत्मा का पाण्डित्य ध्रुव अखंड ज्ञायकस्वरूप में होता है। विश्वास रखना, कुछ रख सको, या न रख सको, परन्तु विश्वास (श्रद्धा) रखना। इस तरह देशनाकार आचार्य सम्बोधित करते हुए कहते हैं—

ज्ञानी! सब कुछ छिन जाए, छिन जाने देना, परन्तु विश्वास रख लेना और विश्व में वास कर लेना। विश्वास रखना कि जब भी कल्याण होगा, विश्वास से होगा, श्रद्धा से होगा।

इसलिए स्वरूप सम्बोधन में आगे कहा है—

स्वं परं विद्धि तत्रापि, व्यामोहं छिन्धि किन्त्विमम्।

अनाकुलस्वसंवेद्ये, स्वरूपे तिष्ठ केवले॥24॥

अर्थात् अपनी आत्मा को, शरीर आदि अन्य पदार्थों को, समझो किन्तु, ऐसा होने पर भी, इस भेद-भवात्मक, लगाव पक्ष को भी दूर कर दो, केवल निराकुलता रूप स्वानुभव से जानने योग्य, अपने रूप में ठहर जाओ।

इसलिए इस ग्रन्थ के अन्त में आचार्य अकलंकदेव कहते हैं—

स्वः स्वं स्वेन स्थितं स्वस्मै स्वस्मात्स्वस्याविनश्वरम्।

स्वास्मिन् ध्यात्वा लभेत् स्वोत्थमानन्दामृतं पदम्॥25॥

अर्थात् निज आत्मा, अपने स्वरूप को, अपने द्वारा स्थित अपने लिए अपनी आत्मा से, अपनी आत्मा का अपनी आत्मा से उत्पन्न हुआ, अविनाशी, आनन्द व अमृतमय पद, अपनी आत्मा में, ध्यान करके प्राप्त करे।

इस प्रकार यही चिन्तन तो पर भाव से भिन्न आत्मस्वभाव के अवलोकन का है। जिसे बार-बार स्वरूप सम्बोधनकार आचार्य श्री अकलंकदेव महाराज एवं स्वरूपदेशनाकार आचार्यश्री विशुद्ध सागरजी बारम्बार ज्ञानी को सम्बोधित करते हुए कह रहे हैं।

आचार्य अकलंक देव का व्यक्तित्व एवं कृतित्व

—निर्मल जैन, सतना

आचार्य अकलंकदेव सातवीं आठवीं शताब्दी में हुए सुप्रसिद्ध दार्शनिक एवं तार्किक विद्वान् थे। अकलंक आपका नाम था और भट्ट आपकी पदवी थी। जैनों के दोनों सम्प्रदायों, दिगम्बर—श्वेताम्बरों में सर्वमान्य होने के कारण आपके नाम में देव भी लगने लगा। इस तरह आप भट्टाकलंकदेव नाम से प्रसिद्ध हुए। आप जैन दर्शन एवं न्यायशास्त्र के पुरोधा माने जाते हैं। जैन दर्शन के साथ ही आप बौद्ध दर्शन एवं अन्य भारतीय दर्शनों के निष्णात विद्वान् थे। उन्होंने जैनधर्म—दर्शन के माध्यम से शास्त्रार्थ करके, बौद्धों और एकान्तवादियों पर विजय प्राप्त की थी।

आचार्य अकलंकदेव ने अपने ग्रंथों में, कहीं भी अपने गृहस्थ जीवन के परिचय का संकेत नहीं दिया। परवर्ती आचार्यों ने उनके लेखन कार्य की प्रशंसा में बहुत लिखा, परन्तु उनके ग्रंथों में भी अकलंक देव के परिचय के सूत्र प्राप्त नहीं होते। अतः उनके जीवनवृत्त पर विभिन्नतायें पायी जाती हैं। यहाँ तक कि उनके समय और पिता के नाम पर भी, विद्वान् एकमत नहीं हो सके हैं। एक कथाकोश में उन्हें मान्यखेट के राज्य मंत्री पुरुषोत्तम का पुत्र बताया गया है, तो दूसरी कथा में कांची के जिनदास ब्राह्मण का पुत्र माना गया है। तत्त्वार्थवार्तिक की प्रशस्ति, उन्हें राजा लघुहव्य का पुत्र घोषित करती है।

दोनों भाई अकलंक और निकलंक के नाम में कहीं कोई मतभेद नहीं है। कथायें भी थोड़े बहुत अंतर से एक जैसी ही हैं। जिनका अर्थ है कि दोनों भाई बाल्यावस्था से ही कुशाग्रबुद्धि थे। वे बौद्ध दार्शनिकों द्वारा जैनधर्म और उसके स्याद्वाद आदि सिद्धान्तों पर किये जा रहे प्रहारों से व्यथित थे। बौद्ध धर्म उस समय उत्कर्ष पर था, अनेक राजा बौद्धधर्मानुयायी थे, उनके आश्रय में शास्त्रार्थ होतेथे। जिनमें छल—बल का उपयोग होता था। जैन विद्वानों को पराजित होते देखकर उन्हें आनन्द आता था।

प्रभाचन्द्र कथाकोश के अनुसार, एक बार अकलंक और निकलंक अपने माता—पिता के साथ अष्टान्हिका पर्व में मुनिराज के दर्शनार्थ गये, वहाँ धर्मोपदेश के बाद माता—पिता ने आठ दिन का ब्रह्मचर्य व्रत ग्रहण किया और बेटों को भी व्रत दिलाया। दोनों भाई जब वयस्क हुए, तब पिता ने उनका विवाह करना चाहा तब बेटों ने अपने ब्रह्मचर्य व्रत का स्मरण दिलाकर कहा, कि उस प्रतिज्ञा के बाद विवाह का तो प्रश्न ही नहीं है। पिता ने बहुत समझाया कि वह व्रत तो आठ दिन के लिए था,

अतः अब विवाह में कोई बाधा नहीं है, परन्तु दोनों भाईयों ने कहा कि व्रत लेते समय, समय-सीमा की कोई बात नहीं थी, अतः हम विवाह नहीं करेंगे। उनकी हठ के सामने पिता भी विवश हो गये।

अब अकलंक निकलंक गृहस्थी की समस्याओं से बचकर, ब्रह्मचर्य व्रत के साथ एकाग्रता से विद्याध्ययन करने लगे, वे समझ गये थे कि बौद्ध विद्वानों को शास्त्रार्थ द्वारा पराजित करके ही, जैनधर्म के सिद्धान्तों का प्रचार किया जा सकता है। उसके लिए बौद्धदर्शन का सूक्ष्म अध्ययन आवश्यक था। उस समय शिक्षा के प्रायः सभी केन्द्र बौद्धाश्रित थे और उनमें जैनों का प्रवेश पूर्णतः वर्जित था। दोनों भाईयों ने समय की आवश्यकता को समझकर अपने जैन होने की पहिचान छिपाकर कांचीपुर के महाबोधि गुरुकुल में बौद्ध विद्यार्थियों के रूप में विद्याध्ययन प्रारम्भ किया।

एक दिन सप्तभंगी न्याय का पाठ अशुद्ध होने के कारण गुरुजी पढ़ा नहीं पा रहे थे, अकलंक ने गुरु की अनुपस्थिति में पाठ शुद्ध कर दिया। गुरुजी समझ गये कि विद्यार्थियों में कोई जैन बालक है। उन्होंने अनेक प्रकार परीक्षा करके अकलंक निकलंक को पकड़ लिया, कारागृह में बन्द कर दिया। दोनों भाईयों की लगन तो, बौद्धों को पराजित करने में लगी थी, अतः वे किसी प्रकार कारागृह से निकल भागने में सफल हो गये।

भागने का पता चलते ही, उन्हें पकड़ने के लिए घुड़सवार दौड़ाये गये, दोनों भाईयों ने प्राण संकट में जानकर, धर्म प्रचार के लिए एक की रक्षा आवश्यक समझी, फलतः निकलंक के कहने पर अकलंक एक तालाब में कूदकर कमल पत्रों में छिप गये। निकलंक के साथ एक धोबी भी भागने लगा, उन्हें पकड़कर उनका वध कर दिया गया। इस प्रकार निकलंक के बलिदान ने अकलंक की जान बचाई।

अकलंक ने अपने अध्ययन और प्रत्युत्पन्न बुद्धि के अनुसार, बौद्धों से शास्त्रार्थ करना प्रारम्भ किया, उसमें वे सफल भी हुए। राज्यमान होते हुए भी अनेक बौद्ध गुरु अकलंक से पराजित हुए। उनमें से कुछ ने जैनधर्म स्वीकार कर लिया और कुछ श्रीलंका चले गये।

कलिंग देश के बौद्धानुयाई राजा हिमशीतल की रानी मदन सुन्दरी, जैनधर्मानुयाई थी वह उत्साह पूर्वक जैनरथ निकालना चाहती थी, परन्तु बौद्ध गुरु उसमें बाधक बन रहे थे, उनका कहना था कि जब तक कोई जैन गुरु मुझे शास्त्रार्थ में पराजित नहीं कर देता, तब तक जैन रथ नहीं निकाला जा सकता।

जब अकलंक को यह समाचार मिला तो वे राजा हिमशीतल की सभा में गये और वहाँ बौद्ध गुरु से दीर्घ शास्त्रार्थ करके उन्हें पराजित किया, फलस्वरूप अत्यंत उत्साह पूर्वक वहाँ जैन रथ निकला। जैन धर्म की बहुत प्रभावना हुयी। इस प्रकार बौद्ध गुरुओं के आतंक को समाप्त करने के बाद अकलंक ने, अपना ज्ञान जिनवाणी सेवा को समर्पित किया और ऐसी लेखनी चलाई जिससे जैन श्रुत भण्डार की व्यापक और विशिष्ट समृद्धि हुई। उनके मौलिक और टीका ग्रन्थों को बहुत मान्यता मिली।

आचार्य अकलंकदेव के सभी ग्रन्थ, जैनदर्शन और जैन न्याय से सम्बन्धित हैं। आपकी प्रमाण व्यवस्था व्याख्या को, परवर्ती आचार्यों ने बहुत सराहा और अपनी रचनाओं में, उनका आदर पूर्वक उल्लेख भी किया है। षट्खण्डागम की धवला टीका के रचयिता, आचार्य वीरसेन ने उनका उल्लेख पूज्यपाद भट्टारक के नाम से करते हुए लिखा है—

पूज्यपादभट्टारकैरप्यभाणिसामान्यनय—लक्षणमिदमेव

दद्यत्थाप्रमाणप्रकाशितार्थप्ररूपकोनयः

महापुराण के रचयिता आचार्य जिनसेन ने अकलंकदेव का स्मरण श्रद्धापूर्वक करते हुए लिखा—

भट्टाकलंक—श्रीपाल—पात्रकेसरिणां गुणाः।

विदुषां हृदयारूढा हारायन्तेऽतिनिर्मलाः॥

ज्ञानार्णव के रचयिता आचार्य शुभचन्द्र ने उनकी पुण्य सरस्वती की प्रशंसा करते हुए लिखा है—

श्रीमद्भट्टाकलंकस्य पातु पुण्या सरस्वती।

अनेकान्तमरुमार्गे चन्द्रलेखायितं यथा॥

वादिराजसूरि ने पार्श्वनाथचरित में उन्हें तर्कभूबल्लभ विशेषण के साथ स्मरण करते हुए लिखा—

तर्कभूबल्लभो देवः स जयत्यकलंकधीः।

जगद्द्वयमुषो येन दण्डिताः शाक्यदस्यवः॥

आचार्य अनंतवीर्य ने अकलंकदेव के ग्रंथ गाम्भीर्य की प्रशंसा करते हुए लिखा—

देवास्थानन्तवीर्योऽपि पदं व्यक्तुं तु सर्वतः।

न जानीतेऽकलंकस्य चित्रमेतदपरं भुवि॥

नाममाला कोश के लेखक धनंजय कवि ने नाममाला के अंत में, आचार्य अकलंकदेव का उल्लेख करते हुए लिखा—

प्रमाणमकलंकस्य पूज्यपादस्य लक्षणम्।
धनंजयकवे काव्यं रत्नत्रयमपश्चिमम्॥

ब्रह्मचारी अजितसेन ने हनुमच्चरित ग्रंथ में लिखा कि अकलंक ने बौद्धों की बुद्धि को, वैधव्य कर दिया।

अकलंकगुरुर्जीयादकलंकपदेश्वरः।
बौद्धानां बुद्धिवैधव्यदीक्षागुरुरुदाहृतः॥

सन् 1183 के एक शिलालेख में, अकलंक की शास्त्रार्थ विजय का उल्लेख इस प्रकार किया गया है—

तस्याकलंकदेवस्य महिमा केन वर्णयते।
यद् वाक्यखंगघातेन हतो बुद्धौ विबुद्धिसः॥

श्रवणबेलगोला के अभिलेख नं० 108 में अकलंक देव को मिथ्यात्व अंधकार दूर करने के लिए सूर्य के समान बतलाया गया है—

ततः परं शास्त्रविदां मुनीनामग्रेसरोऽभूदकलंकसूरिः।
मिथ्यान्धकारस्थगिताखिलार्थाः प्रकाशिता यस्य वचौमयूखैः॥

वहीं एक अन्य अभिलेख में अकलंक देव द्वारा बौद्धादि एकान्तवादियों को परास्त किये जाने की बात कही गयी है—

भट्टाकलंकोऽकृत सौगतादिदुर्वाक्यपंकैस्सकलंकभूतं।
जगत्स्वनामेव विधातुमुच्चैः सार्थ सामन्तादकलंकमेव॥

इस प्रकार अनेक परवर्ती आचार्यों द्वारा प्रशंसित अकलंकदेव की लेखनी वर्तमान में भी अनेक आर्ष ग्रन्थों के परिशीलन, अनुशीलन को अपनी प्रखर देशना से समन्वित करने वाले आचार्यश्री विशुद्ध सागर जी द्वारा परिशीलित की जा रही है।

लघु किन्तु महत्वपूर्ण ग्रन्थ स्वरूप—सम्बोधन आचार्य अकलंकदेव कृत होने के सम्बन्ध में भी, विद्वानों में मतैक्य नहीं रहा। यही कारण है कि डा० नेमिचन्द्र शास्त्री ज्योतिषाचार्य की महत्वपूर्ण कृति, 'तीर्थंकर महावीर और उनकी आचार्य परम्परा' में अकलंकदेव कृत शास्त्रों में इस ग्रन्थ का नाम नहीं है। अक्टूबर 1996 में पूज्य

उपाध्याय ज्ञानसागरजी के सानिध्य में एक राष्ट्रीय विद्वत् संगोष्ठी शाहपुर में 'जैन न्याय को आचार्य अकलंकदेव का अवदान' नाम से सम्पन्न हुयी थी जिसमें बीस विद्वानों ने, अपने शोध पत्र पढ़े थे, उनका प्रकाशन भी हुआ था, उसमें भी इस ग्रन्थ का उल्लेख नहीं हुआ

मदनगंज-किशनगढ़ निवासी पंडित महेन्द्र कुमार जी पाटनी सन् 1975 में, आचार्यकल्प श्रुतसागरजी से दीक्षित होकर मुनि समतासागर बने थे, उनकी आकस्मिक समाधि 1978 में हो गयी थी तब उनके विद्वान् सुपुत्र प्रोफेसर डा० चेतन प्रकाश पाटनीने 'भट्ट अकलंक विरचित स्वरूपसम्बोधनपंचविंशतिः' नाम से एक लघु पुस्तिका उनकी स्मृति में प्रकाशित की थी, जिसमें पं० अजित कुमार शास्त्री कृत हिन्दी टीका भी समाहित थी।

इसी लघु पुस्तिका पर से विशुद्धमती माताजी (जो गृहस्थावस्था में मेरी बहिन थी) ने मुझे स्वरूप सम्बोधन का अध्ययन कराया था। माताजी को इस ग्रन्थ के सभी पच्चीस श्लोक कंठस्थ थे, वे इसको सल्लेखनाकाल में बहुत सहायक मानती थीं और प्रायः उसका पाठ करती रहती थीं। अपनी सल्लेखना के अंतिम वर्ष सन् 2000 में उन्होंने स्वरूप सम्बोधन पर साठ प्रश्नोत्तर लिखे थे, जो मूल श्लोक, उनकी दो संस्कृत टीकाओं, पंडित अजित कुमारजी की हिन्दी टीका, और माताजी की प्रश्नोत्तर टीका सहित, जनवारी 2009 में पूज्य आचार्य वर्द्धमान सागर जी की प्रेरणा से प्रकाशित हुई है।

मार्च 2008 में पूज्य आचार्य विशुद्ध सागर जी का शुभागमन सतना हुआ तब मुझे उनके मुखारविन्द से स्वरूप सम्बोधन का हार्द, प्रवचनों के माध्यम से सुनने का सौभाग्य मिला, फिर जबलपुर में भी कुछ अवसर मिला। उन मार्मिक प्रवचनों से मुझे अपने आपसे संवाद करने की शिक्षा मिली। करुणावंत आचार्य महाराज ने स्वरूप सम्बोधन पर अपने प्रवचनों की पाण्डुलिपि प्रकाशनार्थ सतना समाज को प्रदान कर दी।

ग्रन्थ प्रकाशित हुआ वरिष्ठ विद्वान् पं० वृषभप्रसाद जी ने सोलह पृष्ठ का समीक्षित सम्पादकीय लिखकर और वयोवृद्ध गणितज्ञ विद्वान् प्रो० एल.सी. जैन ने सोलह पृष्ठीय भूमिका लिखकर ग्रन्थ की गरिमा में श्रीवृद्धि की। इस प्रकार अनुपम ग्रन्थ 'स्वरूप-सम्बोधन परिशीलन' मुमुक्षुओं के लिए वरदान स्वरूप उपलब्ध हो गया।

पूज्य आचार्यश्री विशुद्ध सागर जी की प्रज्ञा से प्रारंभ से ही जुड़ने का सौभाग्य मुझे मिलता रहा है। मेरे नगर से मात्र पचास किलोमीटर दूर है, वह पावन वृक्ष,

जिसके नीचे 21 नवम्बर, 1991 को मुनि विशुद्ध सागर जी का जन्म हुआ था। दस वर्ष की कठोर साधना और स्वाध्याय ने, उनके चिन्तन धरातल को इतना ऊँचा उठा दिया कि उसमें जिनवाणी के प्रसून खिलने लगे।

सन् 2001 में 'शुद्धात्म तरंगिणी' से प्रारंभ उन पावन प्रसूनों की पूर्वाचार्यों के ग्रन्थों के वैशिष्ट्य को विस्तृत करते हैं। पूज्य आचार्य महाराज की वाणी में जादू है वे लिखते नहीं बोलते हैं और प्रवचन के रूप में उनका वह बोलना ही ग्रन्थ बन जाता है।

इससे यह भी स्पष्ट हो जाता है कि आचार्य महाराज अपनी वाणी का उपयोग, मठ-मन्दिर या संस्थाओं के निर्माण में नहीं करते। उनकी वाणी का उपयोग तो जिनवाणी की सेवा में या भव्य जीवों को आत्मकल्याण की ओर प्रेरित करने में ही होता है। आचार्य महाराज की प्रज्ञा को प्रणाम करते हुए मैं कामना करता हूँ कि उनका चिन्तन नित ऐसे नये प्रसूनों को पुष्पित करता रहे।

परम पूज्य आचार्य श्री विशुद्ध सागर जी : व्यक्तित्व एवं कृतित्व

—एड० अनूप चन्द्र जैन, फिरोजाबाद

परम पूज्य अध्यात्मयोगी श्रमणाचार्य 108 श्री विशुद्ध सागर जी
द्वारा लौकिक अध्ययन एवं संक्षिप्त परिचय—

जन्म	— 18 दिसम्बर, 1971 भिण्ड (मध्य प्रदेश)
नाम	— राजेन्द्र कुमार जैन (लला)
गृहग्राम	— 'रूर' जिला — भिण्ड (म० प्र०)
जनक	— सेठ श्री रामनारायण जी जैन
जननी	— श्राविका रत्न श्रीमती रत्तीबाई जी जैन
लौकिक शिक्षा	— कक्षा 10वीं तक (भिण्ड व रूर, ऊमरी विद्यालय में)
ब्रह्मचर्य व्रत	— 16 नवम्बर 1988, (17 वर्ष की आयु में)
क्षुल्लक दीक्षा	— 11 अक्टूबर 1989, भिण्ड (म० प्र०)
ऐलक दीक्षा	— 19 जून 1991, पन्ना (म० प्र०)
मुनि दीक्षा	— 21 नवम्बर 1991, तीर्थक्षेत्र श्रेयांसगिरि, सलेहा (पन्ना) — नामकरण—मुनि 108 श्री विशुद्ध सागर जी महाराज
आचार्य पद	— 31 मार्च 2007 (महावीर जयन्ती), औरंगाबाद (महाराष्ट्र)
शिक्षा/दीक्षा गुरु	— परम पूज्य श्रमणाचार्य 108 श्री विराग सागर जी महाराज
संयमी—सृजन	— 14 दिगम्बर मुनि एवं ब्रह्मचारिगण
साहित्य सृजन	— अर्धशतक, आध्यात्मिक कृतियाँ

जीवन — बिन्दु

दिगम्बर जैन श्रमण—संस्कृति के सम्प्रति नामचीन अध्यात्म योगियों की श्रंखला में परम पूज्य अध्यात्म योगी श्रमणाचार्य 108 श्री विशुद्ध सागर जी महाराज की कीर्ति पताका सम्प्रति साहित्य संसार में समग्र रूप से फहरा रही है।

आप श्रमण संस्कृति के परिचायक, निर्लेप, निर्विकार, दिगम्बर, मुद्राधारी, श्रमण-साधना के शुभ्राकाश में अध्यात्म के ध्रुव तारे पंचाचार-परायण, शुद्धात्म-ध्यानी, शुद्धोपयोगी-श्रमण, स्वात्म-साधना के सजग प्रहरी, आलौकिक व्यक्तित्व एवं कृतित्व के धनी, आगमोक्त, श्रमणचर्या-पालक, समयसार के मूर्तरूप, निष्प्रह, श्रमण-भावनाओं से ओत-प्रोत, तीव्र आध्यात्मिक अभिरुचियों, वीतराग, परिणतियों एवं वात्सल्यमयी प्रवृत्तियों से पूरित प्रत्यग्-आत्मदर्शी चलते फिरते चेतन्य तीर्थ 18-12-1971 को राजेन्द्र नाम से मध्य प्रदेश के भिण्ड जिले के ग्राम-रूर में पिता श्री रामनारायण (श्रमण मुनि श्री विश्वजीत सागर जी) मातु श्रीमति रत्तीबाई की कुक्षि-कक्ष से उद्भूत 21-11-1991 को श्रमणाचार्य 108 श्री विराग सागर जी महाराज से मुनि दीक्षाधारी, 31.03.2007 (महावीर जयन्ती) औरंगाबाद (महाराष्ट्र) में आचार्य पद से अलंकृत है।

उत्कृष्ट क्षयोपशम

अध्यात्मयोगी दिगम्बराचार्य 108 श्री विशुद्ध सागर जी महाराज की धारणा (क्षयोपशम) शक्ति इतनी प्रबल है कि कहीं का भी विषय पूछो उनके कंठ में ही अवस्थित है।

व्याकरण, ज्योतिष, वैद्यक, अध्यात्म, आगम, नय-न्याय, स्वदर्शन या हो पर-दर्शन, गीता हो या रामायण विभिन्न ग्रंथों के आचार्य महाराज को लगभग 3000 सूत्र तथा 4000 संस्कृत-प्राकृत की गाथा/श्लोक कंठस्थ हैं। हिन्दी, संस्कृत की अनेक सूक्तियाँ, नीतिवाक्य, मोखार्ग याद हैं। इनकी गणना करना सम्भव नहीं है। आपके दैनिक प्रवचन/उपदेशों में अनेकों नीतिवाक्य, स्वर्ण सूत्र के रूप में निर्झरित होते हैं। आचार्य भगवान ने अपने जीवन काल में गुरुमुख से एवं स्व-पुरुषार्थ से स्व-परमत सम्बन्धी लगभग युगल-सहस्रत्र ग्रंथों का अद्योपात पारायण किया है।

आपका आध्यात्मिक-चिंतन इतना गहन एवं विपुल है कि- पूर्वाचार्यों की एक-एक कारिका पर आपका विस्तृत लगभग 20 से 30 पृष्ठों तक व्याख्यान है, जो आपको सरस्वती नंदन प्रतिपादित करता है।

दिगम्बर जैन श्रमण संस्कृति ही नहीं वरन् वर्तमान विश्व में नामचीन अध्यात्म योगियों की श्रंखला में परम पूज्य आचार्य श्री विशुद्ध सागर जी महाराज की कीर्ति पताका आज निर्विवाद/निरन्तर सकल-विश्व में फहरा रही है। मात्र 18 वर्ष की अल्पायु में गृह त्याग कर निरन्तर आध्यात्मिक अभिरुचि प्रधान कर अध्ययन-अध्यापन में अपने जीवन को समर्पित किया है।

आपकी चर्चा अरू भावों में प्रत्येक पल आगम अध्यात्म, वीतरागता एवं विशुद्धि झलकती है। आपका गहन तलस्पर्शी तात्विक चिंतन आपको उत्कृष्ट क्षयोपशमधारी सफल दार्शनिक घोषित करता है। आपकी तात्विक विवेचना विद्वानों को भी विचारने को विवश कर देती है।

जहाँ तक आचार्य श्री के व्यक्तित्व एवं कृतित्व के सम्बन्ध में विचार करना है उसमें स्वरूप-देशना में जो चिंतन उन्होंने प्रस्तुत किया है उसकी कुछ वानगी यहाँ प्रस्तुत है—

‘निश्चय नय समझने के लिये था, मोक्ष जाने के लिए नहीं था।’

नाविक के तीर की तरह छोटे-छोटे शब्दों में संसार भर का तत्त्व भर दिया है। जिसे (शरीर को) राख होना है उससे राग कैसा या नष्ट होने वाले के पीछे कष्ट कैसा।

‘आँखें फिर जाए पर आँख फिर न जाए तो भगवान् बन जाए।’

जिस निश्चय नय को जीव भूतार्थ कह रहा है— वह निश्चय नय भी मेरे लिए अभूतार्थ है। नय, समझने के लिए था मोक्ष जाने के लिए नहीं था।

ज्ञानियो सुनो! फैलाना नहीं सबको जोड़ना सीखो। तोड़ने की नहीं जोड़ने की भाषा बोलो। अब ध्यान दो। भेद रत्नत्रय की आराधना से नहीं अभेद रत्नत्रय की आराधना से ही मोक्ष मिलेगा। भेद से अभेद की ओर तो चलना पर अभेद में भेद मत करा देना।

स्वरूप सम्बोधन के आलोक में आचार्य श्री के विशाल अध्यात्मिक चिंतन की झलक मिलती है जो उनके आचरण में भी शत-प्रतिशत खरी उतरती है।

परम पूज्य आचार्य श्री द्वारा वैदिक दर्शन का अध्ययन—

धार्मिक ग्रंथों के नाम

भगवत् गीता

रामचरित मानस

भगवत पुराण

महाभारत

मनु स्मृति

वेद

उपनिषद्

न्याय ग्रंथ

सांख्य कारिका

तर्क संग्रह

न्याय दर्शन

आत्मानात्म विवेक

पाताञ्जलि योग दर्शन

नीति ग्रंथ

चाणक्य नीति
विदुर नीति
भर्तृहरि शतक

साहित्य ग्रंथ

रघुवंश
मेघदूत

साहित्य/ जैन पुराण / चरित्र ग्रंथों का अध्ययन—

पद्म-पुराण	चन्द्रप्रभु चरित्र
पाण्डव पुराण	भद्रबाहु चरित्र
हरिवंश पुराण	जिनदत्त चरित्र
मल्लि पुराण	मैना सुन्दरी चरित्र
पार्श्व पुराण	श्रेणिक चरित्र
विमल पुराण	मनोरमा चरित्र
महावीर पुराण	प्रद्युम्न चरित्र
महापुराण	धन्य कुमार चरित्र
आदि पुराण	यशस्तिलक चंपू महाकाव्य
उत्तर पुराण	जीवन चंपू
धर्म परीक्षा	पार्श्व अभ्युदय
शकुन्तला महाकाव्य	

सामुद्रिक/नीति/निमित्त शास्त्रों का अध्ययन—

सूत्र शास्त्र	नीति शास्त्र	आयुर्वेद निमित्तादि
तत्त्वार्थ सूत्र	कुरल काव्य	रिष्ट समुच्चय
परीक्षा मुख सूत्र	नीति वाक्यामृतम्	भद्रबाहु संहिता
श्री धवला	सार-समुच्चय	क्षत्र चूड़ामणी
आलाप पद्धति	नीतिसार-समुच्चय	कर लखन
ध्यान सूत्राणी	इष्टोपदेश	मरण कण्डिका
ब्रह्म सूत्र	चाणक्य नीति	भगवती आराधना
कल्प सूत्र	विदुर नीति	कल्याण कारक
आचारांग सूत्र	लोक नीति	यशस्तिलक चंपू
कातन्त्र		

नय/न्याय/अध्यात्म ग्रंथों का अध्ययन

पंचास्तिकाय संग्रह	प्रमाण परीक्षा
प्रवचन सार	परीक्षामुख सूत्र
समयसार (सयम पाहुड)	प्रमेय रत्नमाला
नियम सार	प्रमेय कलिका
दंसण पाहुड	प्रमेय कमल मार्तण्ड
चरित्त पाहुड	न्याय कुमुद चंद
सुत्त पाहुड	आप्त मीमांसा
बोध पाहुड	आप्त मीमांसा
भाव पाहुड	अष्टशती
मोक्ख पाहुड	अष्ट सहस्त्री
सील पाहुड	सिद्धि विनिश्चय
लिंग पाहुड	अकलंक त्रयी
इष्टोपदेश	नय विनिश्चय
समाधितंत्र	सम्मई सुत्त
समाधिसार	

नय/न्याय/अध्यात्म ग्रंथों का अध्ययन

लघीयस्त्रीय	तत्त्वार्थ सार्थ	अध्यात्म अमृत कलश
स्वरूप सम्बोधन	लघु तत्त्व स्पोट	परमात्म प्रकाश
तत्त्वार्थ सूत्र	अमृताशीति	परीक्षा मुख सूत्र
सर्वार्थसिद्धि	नय चक्र	आलाप पद्धति
श्लोक वार्तिक	(लघु स्वभाव प्रकाश)	न्याय दीपिका
राजवार्तिक	लघुनय चक्र	मोक्षमार्ग प्रकाशक
आपाल पद्धति	नय विवरण	सप्तभंगी तरंगिणी
तात्पर्य वृत्ति	सत्य शासन परीक्षा	स्थाद्वाद मंजरी
सावध्य धम्म पण्णाति	स्वयंभु स्तोत्र	धम्म रसायन
न्याय अवतार	स्तुति विद्या	
प्रमाण संग्रह	युक्त्यनु शासन	

परम पूज्य अध्यात्मयोगी श्रमणाचार्य 108 श्री विशुद्ध सागर जी महाराज द्वारा

संस्कृत-प्राकृत अध्यात्म/ध्यान ग्रंथों का अध्ययन-

योगसार प्राभृत	योगसार
वैराग्य मणी माला	वारसाणुपेक्खा
अमृता शीती	कार्तिकेयानुप्रेक्षा
परमात्म प्रकाश	ध्यान सूत्राणी
तत्त्वानुशासन	श्रृंगार वैराग्य तरंगिणी
ज्ञानार्णव	द्वात्रिंशतिका
आत्मानुशासन	भाव संग्रह (संस्कृत)
तत्त्वसार	भाव संग्रह (प्राकृत)
ज्ञानकुश	

संस्कृत-प्राकृत आचारांग ग्रंथों का अध्ययन-

मूलाचार	रयणसार
मूलाचार प्रदीप	रत्न करण्डक श्रावकाचार
भगवती आराधना	पुरुषार्थ सिद्धि उपाय
मरण कण्डिका	कुन्दकुन्द श्रावकाचार
अनगार धर्मामृत	वसुनन्दी श्रावकाचार
आचार सार	अध्यात्म प्रकाश
आराधना सार	सागार धर्मामृत
चारित्र सार	त्रैवेनकाचार
प्रतिक्रमण त्रयी	श्रावकाचार संग्रह (36)
	क्रिया कोष

प्राकृत - संस्कृत के अन्य ग्रंथों का अध्ययन-

प्रायश्चित शास्त्र	प्रतिष्ठा प्रदीप
श्री भू-वलय	प्रतिष्ठा रत्नाकर
संगीत समयसार	प्रतिष्ठा तिलक
छंद मंजरी	स्वर विज्ञान
कल्याणालोचना	निमित्त विज्ञान
छहढाला	
विधि-विधान (प्रतिष्ठा ग्रंथ)	

परम पूज्य अध्यात्मयोगी श्रमणाचार्य 108 श्री विशुद्ध सागर जी महाराज
द्वारा आगम / सिद्धान्त / व्याकरण / शब्दादि शास्त्रों का अध्ययन—

सिद्धान्त	व्याकरण
षट्खण्डागम	कातन्त्र व्याकरण
गोम्मटसार कर्मकाण्ड	साकटाइन व्याकरण
गोम्मटसार जीवकाण्ड	प्राकृत व्याकरण
द्रव्य संग्रह	सम्यक्त्व कौमदी
शब्द / व्याकरण कोष	
धनंजय नाममाला	अनेकार्थ निघण्टु
एकाक्षरी शब्द कोश	विश्वलोचन कोश
जैनेन्द्र कोश	

प्राकृत – संस्कृत भक्ति / स्तुति पाठों का अध्ययन—

स्तुति विद्या	निर्वाण भक्ति	स्वयंभू
नन्दीश्वर भक्ति	भक्ति संग्रह	प्रतिक्रमण भक्ति
ईर्यायथ भक्ति	वीर भक्ति	सिद्ध भक्ति
चतुर्विंशति तीर्थकर भक्ति	चैत्य भक्ति	अर्हद् भक्ति
श्रुत भक्ति	गोम्मटेश भक्ति	चारित्र भक्ति
योगि भक्ति	शाचार्य भक्ति	पंचगुरू भक्ति
शांति भक्ति	समाधि भक्ति	

संस्कृत स्तोत्र पाठों का अध्ययन—

स्वयंभू स्तोत्र	कल्याण मंदिर स्तोत्र
श्रीजिन सहस्रनाम स्तोत्र	एकीभाव स्तोत्र
चैत्यालयाष्टक स्तोत्र	विषापहार स्तोत्र
सुप्रभात स्तोत्र	अकलंक स्तोत्र
गणधर बलय स्तोत्र	वीतराग स्तोत्र
उपसग्वहर स्तोत्र	परमानंद स्तोत्र
मंगलाष्टक स्तोत्र	लघु स्वयंभू स्तोत्र
महावीराष्टक स्तोत्र	उपसग्व हर स्तोत्र
भक्तामर स्तोत्र	परमात्म स्तोत्र
सरस्वती स्तोत्र	

परम पूज्य अध्यात्मयोगी दिगम्बराचार्य 108 श्री विशुद्ध सागर जी द्वारा पूर्वाचार्यों द्वारा रचित प्राकृत/संस्कृत ग्रंथों पर विभिन्न प्रदेशों में पग बिहार कर हिन्दी भाषा में टीकात्मक विशद व्याख्या एवं वाचना।

(सन् 1995 से 2012 तक)

सन्	स्थान	प्रदेश	ग्रन्थ का नाम	समय
1995	छतरपुर	मध्य प्रदेश	वृहद द्रव्य संग्रह	ग्रीष्मकाल
1996	ब्रजपुर	मध्य प्रदेश	वृहद द्रव्य संग्रह	शीतकाल
1996	सतना	मध्य प्रदेश	द्रव्य संग्रह	ग्रीष्मकाल
			आलाप पद्धति	
1996	जबलपुर	मध्य प्रदेश	परमात्म प्रकाश	
			स्वयंभू स्तोत्र	
1996	पन्ना	मध्य प्रदेश	रयणसार	शीतकाल
1997	देवेन्द्र नगर	मध्य प्रदेश	रयणसार	
1997	दुर्ग	छत्तीसगढ़	पुरुषार्थ सिद्धि उपाय वर्षाकाल	
			कार्तिकेयानुप्रेक्षा	
1998	मिलाई	छत्तीसगढ़	पंचास्तिकाय	शीतकाल
	वैशाली		वारसाणुपेक्खा	
1998	रायपुर	छत्तीसगढ़	पंचास्तिकाय	ग्रीष्मकाल
			रत्नकरण्ड श्रावकाचार	
1999	राजिम	छत्तीसगढ़	प्रवचन	
1999	करगुँवाजी	उ० प्रदेश	रयणसार, नियमसार वर्षाकाल	
2000	चिरगाँव	उ० प्रदेश	नियमसार	शीतकाल
			राजवार्तिक	
			पुरुषार्थसिद्धि उपाय	
2000	टीकमगढ़	मध्य प्रदेश	परमात्म प्रकाश	ग्रीष्मकाल
			राजवार्तिक	
2000	सागर	मध्य प्रदेश	प्रवचन	वर्षाकाल

वाचना

सन्	स्थान	प्रदेश	ग्रन्थ का नाम	समय
2001	बेगमगंज	मध्य प्रदेश	वारषाणुपेक्खा पंचास्तिकाय	शीतकाल
2001	खिमलासा	मध्य प्रदेश	वारषाणुपेक्खा पंचास्तिकाय	ग्रीष्मकाल
2001	सिलवानी	मध्य प्रदेश	वारषाणुपेक्खा प्रवचनसार	वर्षाकाल
2002	भोपाल	मध्य प्रदेश	परमात्म प्रकाश वारषाणुपेक्खा	ग्रीष्मकाल
2002	भोपाल टी०टी० नगर	मध्य प्रदेश	पुरुषार्थ सिद्धिउपाय परमात्म प्रकाश	वर्षाकाल
2003	बानपुर		नयचक्र	ग्रीष्मकाल
2003	ललितपुर	उ० प्रदेश	पुरुषार्थ सिद्धिउपाय पंचास्तिकाय	वर्षाकाल
2003	करगुँवाजी	उ० प्रदेश	पंचास्तिकाय	
2004	विदिशा	म० प्रदेश	तत्त्वसार नियमसार	शीतकाल
2004	विदिशा	म० प्रदेश	नियमसार, तत्त्वसार	ग्रीष्मकाल
2004	विदिशा	म० प्रदेश	पुरुषार्थसिद्धि उपाय नियमसार	वर्षाकाल
2004	छतरपुर	म० प्रदेश	योगसार समयसार	ग्रीष्मकाल
2005	अमरावती	महाराष्ट्र		वर्षाकाल
2006	सोलापुर	महाराष्ट्र	प्रवचनसार	ग्रीष्मकाल
2006	सोलापुर	महाराष्ट्र	वारषाणुपेक्खा प्रवचनसार	वर्षाकाल

वाचना

सन्	स्थान	प्रदेश	ग्रन्थ का नाम	समय
2007	बारामती	महाराष्ट्र	इष्टोपदेश राजवार्तिक	शीतकाल

2007	फलटन	महाराष्ट्र	स्वरूप संबोधन समाधितंत्र	
2007	इन्दौर	मध्य प्रदेश	पुरुषार्थ सिद्धि उपाय वर्षाकाल पंचातस्तिकाय	
2008	सतना	मध्य प्रदेश	स्वरूप संबोधन	ग्रीष्मकाल
2008	जबलपुर	मध्य प्रदेश	समय सार पुरुषार्थसिद्धि उपाय वर्षाकाल इष्टोपदेश वारसाणुपेकखा	ग्रीष्मकाल
2008	टोड़ी फतेहरपुर उ० प्र०		वारसाणुपेकखा युक्त्यानुशासन	शीतकाल
2009	टीकमगढ़	म० प्रदेश	स्वयंभू स्तोत्र युक्त्यानुशासन	शीतकाल
2009	ललितपुर	उ० प्रदेश	स्वरूप संबोधन	शीतकाल
2009	शिवपुरी	म० प्रदेश	वैराग्य मणिमाला समय सार	ग्रीष्मकाल
2009	गुना	म० प्रदेश	स्वरूप संबोधन	ग्रीष्मकाल
2009	अशोक नगर म० प्रदेश		पुरुषार्थ सिद्धि उपाय वर्षाकाल समयसार	
2010	दुर्ग	छत्तीसगढ़	स्वरूप संबोधन	शीतकाल
2010	बड़नगर म० प्रदेश		स्वरूप संबोधन	ग्रीष्मकाल
2010	इन्दौर	म० प्रदेश	स्वरूप संबोधन समयसार (कर्ताकर्माधिकार)	ग्रीष्मकाल

वाचना

सन्	स्थान	प्रदेश	ग्रन्थ का नाम	समय
2010	उज्जैन	म० प्रदेश	रत्नकरण्ड श्रावकाचार	वर्षायोग समयसार
2010	शिवनगर	म० प्रदेश	भावना द्वात्रिंशतिका	ग्रीष्मकाल समयसार
2011	सागर	मध्य प्रदेश	रयणसार	वर्षाकाल

			समयसार	
2012	टीकमगढ़	मध्य प्रदेश	सार समुच्चय	शीतकाल
			समयसार (निर्जराधिकार)	
2012	अलवर	राजस्थान	सार समुच्चय	शीतकाल
			समयसार	
2012	जयपुर	राजस्थान	सार समुच्चय	ग्रीष्मकाल
			समयसार (बंधाधिकार)	
2012	आगरा	उ० प्रदेश	बंध, मोक्ष, सर्वविशुद्धाधिकार	वर्षाकाल
				वर्षाकाल

परम पूज्य अध्यात्मयोगी श्रमणाचार्य 108 श्री विशुद्ध सागर जी महाराज द्वारा साहित्य सृजन-

नियम देशना	अमृत बिन्दु
पुरुषार्थ देशना (हिन्दी, अंग्रेजी)	अर्हत सूत्र
समय देशना (भाग 1 से 11 तक)	देशना बिन्दु
अध्यात्म देशना	देशना संचय
तत्त्व देशना	तत्त्व बोध
प्रेक्षा देशना	आइना
सर्वोदयी देशना	विशुद्ध मुक्ति पथ
स्वरूप देशना	विशुद्ध काव्यांजलि
श्रावक धर्म देशना	विशुद्ध वचनमृत
सागार अनगार धर्म देशना	आत्मारोधना
सामायिक देशना	पुरुषार्थ देशना अनुशीलन
अध्यात्मदेशना अनुशीलन	तत्त्व देशना समीक्षा
स्वरूप सम्बोधन परिशीलन विमर्श	सर्वोदयी देशना समीक्षा
समय देशना विमर्श	स्वरूप देशना विमर्श (जीवन वृत्त)
आदर्श श्रमण	अध्यात्म का सरोवर
प्रत्यग् आत्मदर्शी	अध्यात्मयोगी

स्वसंवेदी श्रमण

श्रमण धर्म देशना

निजानुभव तरंगिणी

निजात्म तरंगिणी

सद्देशना

बोधि संचय

सोलह कारण भावना अनुशीलन (अप्रकाशित)

समाधितंत्र अनुशीलन (हिन्दी, अंग्रेजी)

इष्टोपदेश भाष्य (हिन्दी, अंग्रेजी)

स्वरूप सम्बोधन परिशीलन (हिन्दी, अंग्रेजी)

पंचशील सिद्धान्त (हिन्दी, अंग्रेजी)

शुद्धात्म तरंगिणी (हिन्दी, अंग्रेजी, मराठी)

साहित्य पर आधारित अन्य कृतियाँ—

समाधितंत्र इष्टोपदेश समीक्षा

विशुद्ध दर्शन

स्वानुभव तरंगिणी

आत्म बोध

शुद्धात्म काव्य तरंगिणी

अध्यात्म प्रमेय

एडवोकेट अनूप चन्द जैन

234/1, जैन कटरा

फिरोजाबाद (उ० प्र०)

मो० 09412721720

स्वरूप सम्बोधन का वैशिष्ट्य और स्वरूप देशना

-डा० नरेन्द्र कुमार जैन,
विभागाध्यक्ष संस्कृत, गाजियाबाद

‘स्वरूप-सम्बोधन’ आचार्यश्री भट्ट अकलंक देव द्वारा विरचित एक महत्वपूर्ण आध्यात्मिक दार्शनिक कृति है। इसके अतिरिक्त उन्होंने स्वतंत्र ग्रंथों के साथ-साथ टीका ग्रन्थों की भी रचनाएँ की हैं। स्वतंत्र कृतियों में लघीयस्त्रय सवृत्ति, न्यायविनिश्चय सवृत्ति, सिद्धि विनिश्चय सवृत्ति, प्रमाण संग्रह, स्वरूप-सम्बोधन, बृहत्त्रयम्, न्याय चूलिका और अकलंक स्तोत्र हैं। टीका ग्रन्थों में तत्त्वार्थवार्तिक और अष्टशती हैं। आचार्य भट्टअकलंक देव जैन न्याय और दर्शन के प्रखर तार्किक आचार्य माने जाते हैं। जैन न्याय के जनक आचार्य समन्तभद्र द्वारा पूर्व परम्परा से प्राप्त चिंतन के आधार पर प्रमाण, नय, अनेकान्त, स्याद्वाद और सप्तभंग आदि जैन न्याय और दर्शन के प्रमुख सिद्धान्तों पर उन्होंने जो सुदृढ़ नींव स्थापित की थी उस पर आचार्य अकलंक ने भव्य प्रासाद निर्मित किया। युग प्रधान, जैन न्याय के प्रतिष्ठापक आचार्य अकलंक देव को ‘परवर्ती आचार्य’ों ने सकल तार्किक चक्रचूड़ामणि, स्याद्वाद केसरी, तर्कभूबल्लभ, तर्काब्जार्क आदि विशेषणों से विभूषित किया है। जैनेतर दर्शनों, विशेष रूप से बौद्ध और न्याय-वैशेषिकों का यदि कोई तर्क बल से जैनाचार्यों में डटकर सामना कर सका तो वह आचार्य अकलंक देव हैं।

आचार्य अकलंक देव की सभी कृतियाँ जैन-दर्शन और न्याय के हार्द को उद्घाटित करने वाली महत्वपूर्ण कृतियाँ हैं, परन्तु जैन अध्यात्म-दर्शन को प्रकाशित करने वाली ‘स्वरूप सम्बोधन’ कृति अनुपमेय है। इसमें अनेकान्तात्मक आत्मतत्त्व का स्याद्वाद पद्धति से दार्शनिक और तार्किक शैली में विश्लेषण जैन अध्यात्म दर्शन के लिए महत्वपूर्ण देन है। आचार्य विशुद्धसागर जी महाराज द्वारा अपने प्रवचनों के माध्यम से इसी महान् कृति पर विस्तृत विवेचन प्रस्तुत किया गया है, जिसे ‘स्वरूप-देशना’ के नाम से अभिहित किया जाता है।

‘स्वरूप-सम्बोधन’ में कुल 25 कारिकाएँ हैं। अपने नाम के अनुरूप इस ग्रन्थ में अपने आत्म-स्वरूप को समझाने के लिए सम्बोधित किया गया है। प्रथम कारिका में मंगलाचरण किया गया है। इस मंगलाचरण में परमात्मा को अनेकान्तत्मक सिद्ध कर, नमस्कार किया गया है। वह परमात्मा कर्मों से मुक्त तथा सम्यग्ज्ञान आदि से अमुक्त हैं इस तरह एक रूप, अक्षय, ज्ञानमूर्ति परमात्मा

मुक्तामुक्त है। इसी तरह आत्म तत्त्व को कारिका दो से नौ तक क्रमशः उपयोगमयी, ग्राह्याग्राह्य, अनाद्यनन्त, उत्पादव्ययधौव्यात्मक, चेतनाचेतन, भिन्नाभिन्न, स्वदेहप्रमाण सर्वगत, एकानेक, वक्तावक्तव्य, विधिनिषेध, मूर्तिकामूर्तिक आदि अनेक धर्मात्मक सिद्ध किया गया है। नौवीं और दशवीं कारिकाओं में आत्मतत्त्व में कर्मबन्ध और मोक्षफल की तथा कर्तृव्य-भोक्तृत्व की व्यवस्था बताई गयी है। ग्यारह से पन्द्रह कारिकाओं में स्वात्मोपलब्धि के सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र के रूप में अन्तरंग उपाय तथा देशकालादि और बहिरंग तप के रूप में बाह्य उपायों की चर्चा की गयी है। कारिका सोलह में निज आत्म भावना के उपाय एवं कारिका सत्रह-अट्ठारह में कषाय, राग-द्वेष को आत्मचिन्तन के दोषों के रूप में विवेचित किया गया है। उन्नीस और बीसवीं कारिकाओं में हेय और उपादेय के अन्तर को समझकर हेय को त्यागने और उपादेय को ग्रहण करने की प्रेरणा दी गयी है तत्पश्चात् वस्तु स्वभाव स्पष्ट हो जाने पर और उपेक्षाबुद्धि की वृद्धि होने पर मोक्ष प्राप्त किया जा सकता है। किस स्थिति में मोक्ष प्राप्त नहीं हो सकता, उसका निदर्शन करते हुए इक्कीस और बाइसवीं कारिकाओं में लिखा है कि अत्यधिक तृष्णा और आकांक्षा मोक्ष के प्रतिबन्धक हैं। वस्तुतः वही मोक्ष का अधिकारी होता है, जिसको मोक्ष तक की भी अभिलाषा नहीं होती। आत्मनिष्ठ स्वाधीन होकर, स्वपर विवेक को जागृत कर, इस भेद को भी दूर कर अकूलता रहित स्वानुभव से जानने योग्य स्व स्वरूप में स्थित होने की प्रेरणा तेईस और चौबीसवीं कारिकाओं में दी गयी है। षट्कारक रूप से स्व-आत्मा का स्व-आत्मा से ध्यान अविनाशी, आनन्दामृत पद को प्राप्त कराने में समर्थ है, यह पच्चीसवीं कारिका में बताया गया है। एक कारिका अन्त मंगल के रूप में फल प्राप्ति का निदर्शन करती है, जिसमें यह स्पष्ट किया गया है कि इस ग्रंथ के आख्यान और श्रवण से परमात्म-सम्पदा की प्राप्ति होती है। स्वरूप देशना में इसको स्पष्ट करते हुए लिखा है कि आत्मा के सम्बन्ध में जो कुछ सुना है, इसकी इतिश्री श्रवण के दिन के लिए नहीं है, बल्कि अन्तिम समय के लिए है। यह वही वाणी है, जो महावीर स्वामी की विपुलाचल पर खिरी थी। आत्मा में ज्ञान, दर्शन है, वैसे ही आत्मा में पंचपरमेष्ठी की भक्ति होना चाहिए, कर्तव्य बिल्कुल नहीं क्योंकि धर्म होता है, कर्तव्य करना पड़ता है। अष्टपाहुड के उदाहरण से पुष्ट करते हुए आचार्य श्री विशुद्ध सागर जी कहते हैं कि वर्तमान काल में रत्नत्रय से शुद्धता प्राप्त कर मनुष्य आत्मध्यान पूर्वक इन्द्रपद तथा लौकान्तिक देवों के पद को प्राप्त करते हैं और वहाँ से च्युत होकर निर्वाण प्राप्त करते हैं।²

स्वरूप-सम्बोधन कृति का महत्वपूर्ण वैशिष्ट्य यह है कि अध्यात्म को न्याय

की कसौटी पर कसकर आप्त की वाणी को युक्तिशास्त्र से अविरोध सिद्ध किया गया है। आचार्य कुन्दकुन्द कृत 'समयसार' के चिन्तन को जैसे- उसकी 'आत्मख्याति' टीका में आचार्य अमृतचन्द ने युक्तियों का आश्रय लेकर अध्यात्म विषयक विषय वस्तु को स्याद्वाद पद्धति से अनेकान्तान्तमक सिद्ध कर स्वात्मोपलब्धि के लिए मुमुक्षुओं का मार्ग प्रशस्त किया है तथैव आचार्य अकलंक देव ने भी प्रस्तुत ग्रन्थ में आगमिक-आध्यात्मिक विषय को प्रतिपाद्य बनाकर उसको आचार्य समन्तभद्र की तर्कपद्धति के आधार पर आत्मतत्त्व की यथार्थता सिद्ध की है तथा स्वानुभव को ही मोक्ष के लिए उपयोगी बताया है।

एक वस्तु में परस्पर दिखने वाले धर्मों की व्यवस्था के सम्बन्ध में अनेकान्त और स्याद्वाद को समझना आवश्यक है। वस्तुतः अनन्त धर्मात्मक वस्तु के सम्यक् स्वरूप को प्रकट करने वाला सिद्धान्त अनेकान्तवाद है जो वस्तु को अनन्तधर्मात्मक नहीं मानते के एकान्तवादी माने जाते हैं। जैनाचार्यों ने वस्तु के अनेकान्तात्मक स्वरूप को सिद्ध करने के लिए एकान्तवादों की समीक्षा पूर्वक अपने अकाट्य तर्क प्रस्तुत कर स्वपक्ष को मण्डित किया है। आचार्य समन्तभद्र ने अनेक एकान्तवादों को भावैकान्त, अद्वैतैकान्त, नित्यत्वैकान्त आदि चालीस एकान्तवादों में समाहार कर और उनका समीक्षण कर अनेकान्त मूलक स्याद्वादी-व्यवस्था स्थापित की है।³ शुद्धात्मतत्त्व के सम्बन्ध में प्रायः जैनतर दार्शनिकों द्वारा यह आक्षेप लगाया जाता है कि आत्मा के शुद्ध होने की स्थिति में वह अनन्तधर्मात्मक कैसे रह सकती है, उसमें परस्पर विरुद्ध धर्म एक साथ कैसे रह सकते हैं आदि। 'स्वरूप-सम्बोधन' कृति की यह विशेषता है कि इन सभी प्रश्नों का समाधान उसमें दिया गया है। अपने प्रवचनों के द्वारा इसको सयुक्तिक, सुगम और जनोपयोगी बनाया है, अपनी देशनाओं में आचार्यश्री विशुद्ध सागर जी महाराज ने। 'स्वरूप-देशना' के आलोक में 'स्वरूप-सम्बोधन' के वैशिष्ट्य का मूल्यांकन करने के लिए अनेकान्त के साथ स्याद्वाद को भी समझना आवश्यक है।

अनेकान्त 'अनेक' और 'अन्त' दो शब्दों के मेल से निष्पन्न है। अनेक का अर्थ एक से भिन्न तथा अन्त का अर्थ 'धर्म', अंश या गुण होता है। आचार्य समन्तभद्र ने 'अन्त' का अर्थ 'धर्म' में घटित किया है। क्योंकि इसमें ही विवक्षा और अविवक्षा का व्यवहार होता है, अनन्त धर्मों में नहीं।⁴ अन्य दर्शनों में भी पदार्थों में अनेक गुण माने गये हैं। परन्तु जैन दर्शन में जब अनेक का सम्बन्ध गुण से किया जायेगा तब उसका अर्थ अनन्त गुण होगा और जब अनेक की धर्म के साथ विवक्षा होगी तब उसका अर्थ परस्पर विरोधी प्रतीत होने वाले दो धर्मों से होगा। जैसे भेद, अभेद, सत्,

असत् आदि। ये गौण और मुख्य की दिवक्षा को लिए हुए अविरोध रूप से रहते हैं। कारक और ज्ञापक अंगों की तरह धर्म और धर्मी का अविनाभाव सम्बन्ध ही एक दूसरे की अपेक्षा से सिद्ध होता है, स्वरूप नहीं।⁵ आचार्य अमृतचन्द ने इस सम्बन्ध में स्पष्ट लिखा है कि जो वस्तु तत्स्वरूप है, वही अतत्स्वरूप भी है। जो वस्तु एक है, वही अनेक भी है। जो वस्तु सत् है, वही असत् भी है, जो वस्तु नित्य है, वही अनित्य भी है। इस प्रकार एक ही वस्तु में वस्तुत्व के निष्पादक परस्पर विरोधी धर्मयुगलों का प्रकाशन करना ही अनेकान्त है।⁶ इस अनन्तधर्मात्मक वस्तु के कथन करने की पद्धति या साधन का नाम स्याद्वाद है। आचार्य समन्तभद्र ने लिखा है—

स्याद्वादः सर्वथैकान्त्यागात् किंवृत्तचिद्धिः।

सप्तभङ्गानयापेक्षो हेयादेय विशेषकः॥⁷

अर्थात् सर्वथा एकान्त का त्याग करके कथंचित् विधान करने का नाम स्याद्वाद है। यह सात भङ्गों और नयों की अपेक्षा रखता है तथा हेय और उपादेय भेद का व्यवस्थापक है।

आचार्य अकलंक ने अनेकान्तात्मक अर्थकथन को स्याद्वाद कहा है।⁸

‘स्वरूप-सम्बोधन’ कृति में परस्पर विरुद्ध प्रतीत होने वाले कतिपय उदाहरण यहाँ दृष्टव्य हैं, जिनका अनेकान्त दृष्टि से समाधान प्रस्तुत किया गया है—

मुक्तामुक्त परमात्मा—

परमात्मा को अविनाशी, ज्ञानमूर्ति की तरह उन्हें मुक्तामुक्त भी कहा गया है। परन्तु यहाँ प्रश्न उत्थित होता है कि परमात्मा तो मुक्त माना गया है, पर उसे मुक्त को अमुक्त क्यों कहा गया है? अनेकान्त वाद की यही विशेषता है कि परस्पर विरुद्ध दिखने वाले दो धर्म एक जगह रह सकते हैं। जो कर्मों से मुक्त तथा सम्यग्ज्ञान आदि से अमुक्त हैं, वह मुक्तामुक्त परमात्मा है।⁹ आचार्य विशुद्ध सागर जी ने इसकी देशना में कहा है कि ‘जैनकुल में जन्म लेकर जिसे स्याद्वाद और अनेकान्त की परिभाषा का बोध नहीं, वह जैनत्व की सिद्धि नहीं कर सकता।¹⁰ आचार्य श्री ऐसा कहकर के आपको ‘ज्ञानी’ बनने की प्रेरणा दे रहे हैं। भविष्य में आप ‘ज्ञानी’ बन जायें, एतदर्थ आपको अभी से ‘ज्ञानी’ शब्द से सम्बोधित भी कर रहे हैं क्योंकि आचार्य अमृतचन्द जी के शब्दों में ‘जैन शासन’ अनेकान्त स्वरूप

व्यवस्थित है।¹¹ जो व्यक्ति अनेकान्त दृष्टि से पदार्थ को देखते हैं, वे ही जिननीति में निपुण बनते हैं और वे ही वास्तविक ज्ञानी कहलाते हैं।¹² आचार्य श्री विशुद्ध सागर जी ने इस प्रसङ्ग में विभिन्न उदाहरणों पूर्वक परमात्मा के मुक्तामुक्त स्वरूप को स्पष्ट कर आचार्य अकलंक देव के जीवनवृत्त पर भी गम्भीरता से प्रकाश डाला है, जिससे श्रोताओं को उनके जिनशासन के प्रति त्याग और उनके योगदान का सहज ही बोध हो जाता है।

ग्राह्याग्राह्य आत्मा

उपयोग स्वरूपी आत्मा क्रम से कारण और उसके फल—कर्म को धारण करने वाला ग्राह्य और अग्राह्य है। इसको स्पष्ट करते हुए 'स्वरूप—देशना' में लिखा है कि बिना कारण समयसार के कार्य समयसार नहीं होता। सम्यक्त्व पर्याय कारण समयसार है, चारित्र पर्याय कार्य समयसार है। चारित्र समयसार कारण पर्याय है तो अशरीरी सिद्ध पर्याय कार्य समयसार है। जो मार्ग है, वह मोक्ष का उपाय है और निर्वाण उसका फल है। जिनवाणी में सर्वत्र कारण कार्य व्यवस्था है।¹³ ग्राह्य—अग्राह्य आत्मा अनादि अनन्त है, इसको स्पष्ट करते हुए आचार्य श्री ने कहा है कि शुद्ध आत्मा ने कभी भी परद्रव्य को स्पर्श नहीं किया, इसलिए वह अग्राह्य है तथा निजस्वरूप में लीनता ग्राह्य है।¹⁴ आचार्यश्री अमृतचन्द्र स्वामी ने लिखा है कि चैतन्य स्वरूप भाव ही ग्राह्य है, शेष परभाव अग्राह्य है।¹⁵

मूर्तिक अमूर्तिक आत्मा¹⁶

आत्मा कर्मबन्ध होने के कारण कथञ्चित् मूर्तिक है तथा अपने ज्ञानादि स्वभाव न छोड़ने के कारण अमूर्तिक है। जिस प्रकार मदिरा को पीकर मनुष्य मूर्च्छित हो जाता है, उसकी स्मरण शक्ति नष्ट हो जाती है उसी तरह कर्मोदय से आत्मा के स्वाभाविक ज्ञानादि गुण अभिभूत हो जाते हैं।¹⁷ अन्यत्र ऐसा भी कहा गया है कि आत्मा स्वभाव से अमूर्त है, पर अनादिकालीन कर्म—सम्बन्ध के कारण कथञ्चित् मूर्तिकपने को धारण किये हुए है।

आत्मा, उत्पाद, व्यय और ध्रौव्यात्मक—

आत्मा, उत्पाद, व्यय और ध्रौव्यात्मक है, क्योंकि वह सत् है। सत्, उत्पाद, व्यय, ध्रौव्यात्मक प्रतिपक्षी धर्मों से युक्त अनेक रूप और पर्यायों से युक्त बताया गया है। द्रव्य का स्वरूप भी यही है, जो गुण पर्याय से युक्त होता है।¹⁸ अनेक उदाहरण देकर आचार्यश्री विशुद्ध सागर जी कहते हैं कि 'विश्वास रखना, कोई

बचा वही पायेगा। हम शरीर के उत्पाद, व्यय को देख रहे हैं। मेरे तो वर्तमान पर्याय में दो उत्पाद—व्यय चल रहे हैं। असमान जाति में तो ये शरीर में चल रहे हैं, समान जाति अन्तरङ्ग में मेरे निज चैतन्य—द्रव्य, गुण—पर्याय में भी परिणमन चल रहा है और शरीर में भी परिणमन चल रहा है।¹⁹ वह विविध प्रकार के अनन्त गुण पर्यायों का अखण्ड पिण्ड है। परन्तु ध्रौव्य रूप से ज्ञान उसके तादात्म्यपने से बना रहता है, क्योंकि ज्ञान आत्मा का असाधारण गुण है। द्रव्य दृष्टि से आत्मा द्रव्य है। प्रदेश भेद की दृष्टि से वह असंख्यात प्रदेशी है। पर्याय की दृष्टि से शुद्धाशुद्ध पर्यायें दृष्टिगोचर होती हैं। गुणों या पर्यायों में जिसकी विवक्षा होगी वह दिखाई देगी। गुण सहभावी होने से आत्मा में वे एक साथ अनन्त संख्या में अक्रम रूप से पाये जाते हैं। पर्याय क्रमवर्ती हैं, इसलिए एक गुण की एक पर्याय एक बार में होगी, दूसरी पर्याय दूसरे समय में होगी, परन्तु अनन्त गुणों की अनन्त पर्यायें एक साथ ही होंगी।²⁰ इस तरह अनादि पारिणामिक स्वभाव की अपेक्षा से आत्मा की ध्रुवता है तथा स्वजाति के ज्ञान, चैतन्य आदि गुणों को न छोड़ते हुए पर्यान्तर की उत्पत्ति, उत्पाद है तथा पूर्व पर्याय का विनाश, व्यय है।²¹ शुद्धात्मा में भी उत्पादित्रय घटित किये गये हैं। परमात्मा का सिद्धपर्याय से उत्पाद है, संसार पर्याय रूप से विनाश है और शुद्धात्म द्रव्यरूप से ध्रौव्य है। परमात्मा का नवीन केवल ज्ञानादि पर्यायरूप से उत्पाद पूर्व केवल ज्ञानादि पर्यायरूप से विनाश व शुद्धात्म द्रव्यरूप से ध्रौव्य रहता है। परमात्म द्रव्य के ध्रौव्य रहते हुए भी समान स्वाभाविक पर्यायों के रूप में उत्पादव्यय होता रहता है।²²

चेतनाचेतन आत्मा

आचार्य अकलंक देव ने प्रमेयत्व आदि धर्मों से आत्मा को अचेतन रूप तथा ज्ञान दर्शन गुण से चेतन रूप कहा है।²³ आत्मा को चेतनाचेतन नहीं मानने पर 'आत्मा में अनन्त धर्म हैं', इस स्व सिद्धान्त का व्याघात होता है। आत्मा में चेतन गुण के अतिरिक्त अस्तित्व, वस्तुत्व, द्रव्यत्व, प्रमेयत्व, प्रदेशत्व, नित्यत्व, अगुरुलघुत्व आदि ऐसे गुण भी विद्यमान हैं, जो अचेतन पदार्थों में भी पाये जाते हैं। आचार्य विमलदास ने उपयोग से आत्मा को जीव ओर प्रमेयत्वादि से अजीव कहा है।²⁴ अन्य प्रकार से भी आत्मा के चेतनाचेतन को सिद्ध किया गया है— पौद्गलिक कर्मों के द्वारा जितने अंशों में चेतन गुण का घात हो रहा है, उतने अंशों में अचेतन भाव है।²⁵ जीव के द्रव्य कर्मों के सम्बन्ध से होने वाला स्वभाव असद्भूत व्यवहार से अचेतन स्वभाव है।²⁶ इस तरह आत्मा चेतनाचेतन है।

आत्मा कथंचित् भिन्नाभिन्न

भूत, भविष्यत काल के पदार्थों को जानने रूप पर्यायों वाला ज्ञान आत्मा के रूप में प्रसिद्ध है। वह ज्ञान गुण से न सर्वथा भिन्न है, न सर्वथा अभिन्न अपितु कथंचित् भिन्नाभिन्न है।²⁷ आत्मा के अनन्त गुणों में ज्ञान भी उसका गुण है। वह ज्ञान गुण अपने आधारभूत आत्मा से कथंचित् भिन्न है। 'अतति सततं गच्छति इति आत्मा' अर्थात् जो निरन्तर ज्ञान, दर्शन रूप परिणत होता रहता है, वह आत्मा है एवं 'जायतेऽनेनेति ज्ञानम्' जिसके द्वारा जाना जाता है, वह ज्ञान है। आत्म और ज्ञान में आधार आधेय का सम्बन्ध है। आत्मा द्रव्य है और ज्ञान गुण है। गुण में और कोई गुण नहीं होता।²⁸ इसलिए ज्ञान में भी और कोई गुण नहीं। आत्मा द्रव्य है और द्रव्य में अनन्त गुण होते हैं। इस दृष्टि से आत्मा और ज्ञान भिन्न-भिन्न है। परन्तु आत्मा और ज्ञान के प्रदेश भेद न होने के कारण दोनों में अभिन्नत्व भी है।

आत्मा स्वदेह प्रमाण

आत्मा स्वदेह प्रमाण है। वह आत्मा ज्ञान मात्र भी नहीं, इस कारण यह आत्मा सर्वगत और विश्वव्यापी नहीं है।²⁹ आत्मा के लोकाकाश के बराबर प्रदेश होने पर भी कार्माण शरीर के कारण ग्रहण किये गये शरीर में ही स्थित रहता है। दीपक की तरह आत्मा का स्वभाव संहार और विसर्प रूप है।³⁰ ज्ञान आत्मा के बिना नहीं पाया जाता, इसलिए यह कहा जाता है कि ज्ञान आत्मा ही है। परन्तु आत्मा ज्ञान ही है, ऐसा नहीं कहा जा सकता क्योंकि आत्मा अनन्तधर्मात्मक है। ज्ञान गुण है। आत्मा में ज्ञान गुण के साथ और भी गुण पाये जाते हैं। यदि एकान्त से यह माना जाता है कि ज्ञान आत्मा है तब ज्ञान गुण के आत्मा द्रव्य हो जाने से ज्ञान का अभाव हो जायेगा। इस स्थिति में आत्मा के अचेतनता प्राप्त होती है अथवा विशेष गुण का अभाव होने से आत्मा का अभाव हो जायेगा। यदि सर्वथा आत्मा ज्ञान है, यह माना जाता है तब निराश्रयता के कारण ज्ञान का अभाव हो जायेगा, साथ ही अविनाभावी सम्बन्ध वाले आत्मा का भी अभाव हो जायेगा।³¹ ज्ञान की व्यापकता होने से ज्ञानमय आत्मा को व्यापक कहा गया है। निश्चय से आत्मा बाहर किसी भी ज्ञेय में नहीं पहुँचकर अपने ही प्रदेशों में ज्ञान स्वभाव से सर्वविषयक ज्ञान करता है। वास्तव में सभी ज्ञेय पदार्थ अपने-अपने प्रदेशों में ही रहते हैं। सर्व ज्ञेय जान लेने के कारण भगवान् को व्यवहार नय से सर्वगत कहा जाता है।³²

उपर्युक्त स्वरूप सम्बोधन कृति के अनेकान्तमयी शैली में प्रतिपादित कतिपय उदाहरण प्रस्तुत किये गये हैं। इसी ग्रन्थ में इसी तरह आत्मा को एकानेकात्मक,

वक्तावक्तव्य, निधिनिषेध, कर्मबन्ध मोक्षफल आदि को भी अनेकान्तात्मक सिद्ध किया गया है। इस प्रकार वस्तु तत्त्व आत्मा कैसे व्यवस्थित है, इसको स्पष्ट करने के साथ कृतिकार ने लिखा है कि वस्तु स्वरूप को आत्मा कैसे स्वीकार करता है, ये उस पर निर्भर करता है। तदनुसार उन-उन कारणों से कर्मबन्ध और मोक्ष तथा इन दोनों का फल का भी वह स्वयं स्वीकर्ता है। आत्मा अपने रागद्वेष आदि भावों का तथा इनके द्वारा कर्मों के बंध को कर्ता है तथा उसके फल का भोक्ता है। बहिरङ्ग और अन्तरङ्ग उपायों से उन कर्मों का छूट जाना भी आत्मा को ही होता है।³³ कृति के उत्तर भाग में स्वात्मोपलब्धि के लिए अन्तरङ्ग कारणों के रूप में सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र को आवश्यक बताया गया है तथा बहिरङ्ग कारण के रूप में अनशन आदि तपों को आवश्यक बताया है।³⁴ तत्पश्चात् यथाशक्ति राग-द्वेष रहित शुद्ध आत्मा की भावना भांने की प्रेरणा दी गयी है साथ ही आत्म चिंतन के दोषों की चर्चा की गयी है। मोक्ष कैसे पाया जा सकता है, कब नहीं पाया जा सकता आदि विचार करने के उपरान्त अन्त में आनन्दमृत पद की प्राप्ति की कामना के साथ ग्रंथ के श्रवण और व्याख्यान के लाभ बताये गये हैं।³⁵

इस प्रकार 'अध्यात्म-दर्शन' की दृष्टि से 'स्वरूप-सम्बोधन' एक अत्यन्त महत्वपूर्ण प्रकरण ग्रन्थ है। यदि यह आचार्य अकलंक देव की ही कृति है तब निश्चितरूप से आचार्य कुन्दकुन्द के बाद अध्यात्म दर्शन के प्रतिपादक आचार्य के रूप में उनका नाम सदैव स्मरण किया जाना चाहिए। यद्यपि कि अध्यात्म दर्शन के कृतिकारों में आचार्य अमृतचन्द मुकुटमणि माने जाते हैं, पर सम्भवतः वे आचार्य अकलंक देव के परवर्ती हैं। 'स्वरूप सम्बोधन' कृति की शैली प्राञ्जल और पाण्डित्यपूर्ण दार्शनिक है। आचार्य कुन्दकुन्द की विवेचन पद्धति के आधार पर उन्होंने परमात्मा, आत्मा आदि में मुक्तानुक्त, मूर्तिक-अमूर्तिक, भिन्नाभिन्न आदि के रूप में सकारात्मक और नकारात्मक दोनों दृष्टियों से उसे दार्शनिक शैली में अनेकान्तात्मक सिद्ध किया है। कृति के निष्कर्ष में आचार्य कुन्दकुन्द के चिन्तन की तरह निराकुलता रूप स्वानुभव में लगने - रमने तथा आत्मतत्त्व में ही षट्कारकों को घटित करके अविनाशी, आनन्दमृत पद प्राप्त करने की प्रेरणा दी है। 'स्वरूप-सम्बोधन' की विषय वस्तु को सदृष्टान्त और सुललित शैली में जनोपयोगी एवं सुगम बनाया गया है, परम पूज्य आचार्यश्री विशुद्ध सागर जी की देशना में, निश्चित रूप से कृति, कृतिकार की देशना कर आचार्य श्री ने 'जैन शासन' को जयवंत किया है। इस वैशिष्ट्य के कारण 'स्वरूप सम्बोधन' और 'स्वरूप-देशना' सभी मुमुक्षुओं के लिए उपादेय है।

संदर्भलिख

1. आचार्य श्री भट्ट अकलंक देव विरचित, स्वरूप सम्बोधन, (स्वरूप देशना आचार्य श्री विशुद्ध सागर) प्रकाशक – अखिल भारतीय श्रमण सेवा समिति, इन्दौर (म० प्र०) मो० 9245321151
2. स्व-सम्बोधन, श्लोक 25 एवं 26 की 'स्वरूप-देशना'
3. दृष्टव्य, समन्तभद्र-ग्रन्थावली, संकलन- डा० गोकुलचन्द्र जैन, वीर सेवा मन्दिर ट्रस्ट, बी. 32/13, नरिया, वाराणसी, प्र० सं० 1989
4. डा० नरेन्द्र कुमार जैन, समन्तभद्र अवदान, स्याद्वाद प्रसारिणी सभा, न्यू विद्याधर नगर, जयपुर, प्र० सं० 2001, पृ० 147 उद्धृत- आप्तमीमांसा, 22, 35, 36, 75
5. आप्त मीमांसा, 75
6. यदेव सत् तदेव अतत्, यदवैक तदैवानेकम्, यदेव सत् तदेवासत् यदेवं नित्यं तदेवानित्यम्, इत्येकवस्तु वस्तुत्व- निष्पादक परस्पर विरुद्ध शक्ति द्वयप्रकाशनमने कान्तः। -समयसार, आत्मख्याति, टीका, 10.247, उद्धृत, प्र० उ० च० जैन, आप्तमीमांसा तत्त्वदीपिका, पृ० 89
7. आप्तमीमांसा, 104
8. लघीयस्मय, स्वो० भा. 3.62 -
9. स्व० स०, श्लोक।
10. स्व० स०, स्व० देशना, पृ०।
11. अलंघ्यशासनं जैनमनेकान्तो व्यवस्थितः।
- समयसार, अमृत कलश, 263
12. ज्ञानी भवन्ति जिननीतिमलंघ्यन्तः। - वही, 265
13. स्व० देशना, 2.49
14. वही, 2.59
15. ग्राह्यस्ततः चिन्मय एव भावो, भावाः परे सर्वतः एवं हेयः।
- अमृत कलश, 148
16. स्व० सम्बो०, 8
17. अकलंक, त०रा०, 2.7, 2.6
18. पंचास्तिकाय, 8, 11, 15

19. स्व० देशना, 2.71
20. पं० जगन्मोहन लाल शास्त्री, अध्यात्म अमृत कलश, टीका, पृष्ठ 366, 367
21. तत्त्वार्थवार्तिकम्, 30.2-5
22. प्रवचनसार, सप्तदशाङ्गी, टीका, 18
23. स्व० सम्बो०, 3
24. सप्तभङ्गतरंगिणी, पृष्ठ, 79
25. स्वामिकार्तिकेयनुप्रेक्षा, 211
26. आचार्य, देवसेन, आलापपद्धति, 162
27. स्व० सम्बो०, 4
28. तत्त्वार्थसूत्र, 5.41
29. स्व० सम्बो०, 5
30. त० सूत्र, 5.16
31. प्रवचनसार, आत्मख्याति टीका, गाथा, 27
32. वही, टीका, 26
33. स्व० सम्बो०, 9, 10
34. वही, 11-15
35. वही, 16-26

स्वरूप देशना की क्रांतिकारी आध्यात्मिक सूक्तियाँ

—डा० अनेकान्त कुमार जैन,
जैन दर्शन विभाग, श्री लाल बहादुर शाह ० रा०
संस्कृत विद्यापीठ (मा० विश्वविद्यालय)
नई दिल्ली—110016

साहित्य में सूक्तियों का बहुत महत्व है। सूक्तियों के माध्यम से मानवता की सुषुप्त चेतना पुनः झंकृत हो उठती है। जो कार्य बड़े-बड़े ग्रन्थ निबन्ध नहीं कर पाते हैं वह कार्य सूक्तियों के माध्यम से हो जाते हैं। सूक्तियाँ अपने भीतर व्याख्याओं का महासागर लेकर चलती है। कितनी ही सूक्तियाँ इतनी अधिक गम्भीरता को लिए हुए होती हैं जिसकी व्याख्या में ग्रन्थों की रचनायें भी हो सकती हैं।

पूज्य आचार्य अकलंक देव (7वीं शती) विरचित 'स्वरूप-सम्बोधन' जैसे आध्यात्मिक ग्रन्थ पर पूज्य आचार्य विशुद्ध सागर जी महाराज (21वीं शती) के प्रवचनों का संग्रह 'स्वरूप देशना' नामक ग्रन्थ में यद्यपि सूक्तियों का भण्डार है। उन सूक्तियों के आधार पर यदि संग्रह किया जाये तो एक स्वतंत्र ग्रन्थ का प्रणयन हो सकता है। इसी ग्रन्थ से कुछ प्रमुख सूक्तियों का चयन मैंने अपने इस आलेख में किया है जिनके माध्यम से मिथ्यात्व और मोह से सुषुप्त पड़ी मानवीय चेतना अचानक जागृत हो सकती है और इन सूक्तियों की चोट गहरी लग जाये तो सम्यक्त्व का द्वार खोल सकती हैं।

आज धर्म के नाम पर पाखण्ड को प्रतिष्ठित करने वालों की होड़ लगी है। आज वे पाखण्ड इतनी तीव्रता और कुतर्कों के साथ प्रतिष्ठित होते जा रहे हैं कि उनके बारे में कुछ कहना, सुनना भी खतर से खाली नहीं है। छद्म वीतरागता के नाम पर राग-द्वेष का जो तमाशा खड़ा किया जा रहा है उससे हम सभी अचंभित हैं। हम भय से या तो उसका अनुकरण किये जा रहे हैं या उसकी तरफ से दृष्टि हटाकर 'हमें क्या करना?' के वाक्य बोलकर अपनी जिम्मेदारियों से मुख मोड़ रहे हैं।

उसका विरोध करने या समीक्षा करने का साहस भी अब हमारे पास नहीं रहा। ऐसे विषम माहौल में आचार्य प्रवर का यह वाक्य हमें अपने कर्तव्य का बोध कराता है—

‘जब मिथ्यात्व इतना जोर दे सकता है,
तो सम्यक्त्व में क्या कमी?’ (पृ० 7)

प्रायः संसार के कुतर्कों के सामने जिनवाणी का स्वाध्याय करने वाले भी कभी-कभी निराश पड़ते दिखायी दे जाते हैं। ऐसे समय में यह सूक्ति उनमें ऊर्जा का नया संचार कर सकती है, जिसमें आचार्यश्री कहते हैं कि—

‘सच्ची जिनवाणी जिनको मिल जाये उसको
शक्ति का ऐसा संचार होता है, जो कमी नहीं होता।’ (पृ० 6)

होता यह है कि सच्ची जिनवाणी का संयोग मिलने पर भी दर्शन मोहनीय कर्म के तीव्र उदय के कारण हम मिथ्यात्ववश भगवान के स्थान पर भक्तों की, वीतरागता के स्थान पर राग-द्वेष की पूजा भक्ति करने लग जाते हैं। पुण्योदय के लालच में गृहीत मिथ्यात्व का पोषण करने लग जाते हैं और पुण्य के स्थान पर पाप बंध करने लग जाते हैं। ऐसी विषम परिस्थिति में मैं आचार्य प्रवर की इस सूक्ति को सिंहनाद मानता हूँ जिसमें वे कहते हैं—

‘ये भूतों का शासन नहीं है, ये जिनशासन
भूतनाथों का शासन है। तुम भूतों को पूजते हो
हम भूतनाथ को पूजते हैं।’ (पृ० 5)

यदि हम किसी क्षुद्र लालच में वीतरागी के स्थान पर राग-द्वेषी देवों को कुछ ज्यादा ही महत्व देने लग गये हैं और उन्हें अपना उद्धारक मानने लग गये हैं तो आचार्य प्रवर उन देवों की भी सच्ची पहचान करवाना चाहते हैं, क्योंकि तथाकथित ढोंगी बाबाओं का एक समूह ‘मुझमें देव आते हैं’ ऐसा प्रपञ्च रचकर लोगों से धन ऐंठते हैं। उनका परीक्षण करने के लिए यह सूक्ति पर्याप्त है—

‘देव एक बार बोलता है, दुबारा नहीं बोलता।’

आज के परिप्रेक्ष्य में हम देखते हैं कि झूठे देव भी बहुत पैदा हो गये हैं जो हर समस्या का समाधान तुरन्त कर देते हैं। यह नियम है कि यदि देव से प्रश्न पूछा जाये तो वह एक बार उत्तर देता है परन्तु पुनः पूछने पर उत्तर नहीं देता। यदि कोई दोबारा उत्तर दे रहा है तो समझना कि वह देव नहीं है।

हम सभी बड़ी मुश्किल से धार्मिक क्रियाओं में इतना समय लगाते हैं और उसमें भी यदि मिथ्यात्व वश पाप बंध ही हो तो हम तो कहीं के नहीं रहे। वास्तव में

धर्म तो बंध के अभाव का नाम है जहाँ बंधन प्राप्त हो वह वास्तविक धर्म नहीं है। फिर भी यदि इतनी उच्च भूमिका में स्थापित नहीं हो पा रहे हैं तो कम से कम पाप बंध तो न करें, बंधन भी हो तो वह 'पुण्य' का तो रहे। इसलिए आचार्य श्री की यह सूक्ति हमारा लक्ष्य हो सकती है जिसमें वे कहते हैं कि—

'वंदना करना, बंध न करना' (पृ० 8)

शास्त्रों में मिथ्यात्व के भेदों में 'विनय मिथ्यात्व' भी एक मिथ्यात्व है। 'विनय' और 'विनय तप' की भी चर्चा है। जिन्होंने खुद की विनय नहीं की उनकी विनय करना यह 'विनय' मिथ्यात्व है। जिन्होंने खुद की विनय की उनकी विनय करना 'विनय' है और स्वयं की विनय करना यह 'विनय तप' है।

मूलाचार के आवश्यक अधिकार में विनय का लक्षण करते हुए लिखा है—

जह्या विणेदि कम्मं अडुविहं चाउरंगमोक्खो य।

तह्या वदंति विदुसो विणओत्ति विलीण संसारा॥ (गाथा - 7)

अर्थात् जिससे आठ प्रकार का कर्म नष्ट हो जाता है और चतुरंग संसार से मोक्ष हो जाता है उसे संसार विलीन पुरुष 'विनय' कहते हैं।

अतः शुद्धात्मा की वंदना ही वह वंदना है जिसमें बंधना नहीं है।

हमें पूजा-वंदना किसकी करनी? यह प्रश्न हो तो आचार्य प्रवर का यह प्रतिज्ञा वाक्य हमें राह दिखा सकता है जिसमें वो यह दुहराते हैं—

"मैं पालनहार को नहीं पूजता हूँ, मैं मारनहार को नहीं पूजता हूँ।

जो न मारे न पाले, ऐसे बीतरागी को पूजता हूँ" (पृ० 18)

मोक्षमार्ग में चलने वाला जीव भी कभी-कभी सांसारिक व्यवस्थाओं के चक्कर में पड़कर अपना दुर्लभ मनुष्यभव खराब करने में लगा रहता है। आचार्य प्रवर की यह सूक्ति ऐसे जीवों को महत्वपूर्ण संदेश देती प्रतीत हो रही है—

"मोक्षमार्ग व्यवस्थाओं का मार्ग नहीं है,

मोक्षमार्ग व्यवस्थित रहने वालों का मार्ग है।" (पृ० 29)

वर्तमान में पंचमकाल चल रहा है। पंचमकाल में मोक्ष नहीं है यह सभी को पता है, पंचमकाल के कुछ एक दोष भी सभी को ज्ञात हैं किन्तु वर्तमान में पंचम काल की

मजबूरी के नाम पर बहाने भी चल रहे हैं। पंचमकाल के बहाने शिथिलाचार ही नहीं उन भ्रष्टाचार को भी प्रश्रय दिया जा रहा है जिनसे बचा सा सकता है। इस संदर्भ में आचार्य श्री की यह उक्ति अत्यन्त महत्वपूर्ण है जिसमें वे कहते हैं कि—

**‘पंचमकाल यह नहीं कहता कि तुम हमारे नाम पर
कुछ भी कर डालो और कहो कि पंचमकाल है।’ (पृ० 30)**

वो आगे कहते हैं—

‘ये पंचमकाल का दोष नहीं, ये शिथिलाचार का दोष है।’ (पृ० 30)

नयी दिगम्बर मुनि मुद्रा को धारण करने वालों को आचार्य श्री का स्पष्ट संदेश है—

**‘अपने साथ अपने को रख सको, तो मुनि बनने के भाव रखना,
गैरो के साथ रहने के लिए मुनि बनना हो तो घर में रहना।’ (पृ० 30)**

इस प्रकार सम्पूर्ण ग्रन्थ में सैंकड़ों सूक्ति वाक्य भरे पड़े हैं। इन सूक्ति वाक्यों की यह विशेषता है कि ये चेतना को अन्दर तक झकृत करते हैं। यदि इन सूक्ति वाक्यों को बैनर, पोस्टर, स्टीकर तथा घरों—मन्दिरों की दीवारों पर लिखवा – लिखवा कर प्रचारित प्रसारित किया जाये तो अवश्य ही जो भी जीव इन्हें पढ़ेगा उसके मिथ्यात्व का बंधन अवश्य ही ढीला पड़ेगा— ऐसा मेरा विश्वास है। मैं अंत में एक क्रांतिकारी सूक्ति वाक्य से अपनी इस चर्चा को यहाँ विराम देना चाहता हूँ जो हम सभी को सोचने पर मजबूर करती है—

**“धर्म का नाश करके धर्म प्रचार की
बात कही जाये, वह धर्म कैसा?” (पृ० 98)**

इसके अलावा भी कुछ प्रमुख सूक्ति वाक्य मैं यहाँ मात्र संगृहीत कर रहा हूँ जो हमें झकझोरने की सामर्थ्य रखते हैं।

“कुछ अन्य महत्वपूर्ण सूक्ति वाक्य”

1. जिनको अभी लखने का समय नहीं आया, लिखना कहाँ से प्रारम्भ कर दिया?
(पृ० 307)
2. जिसने वीतरागी भावलिंगी श्रमण के चरणों में एक बार भी भावपूर्वक सिर टेक

लिया हो श्रद्धापूर्वक, उसका चरित्र मोहनीय कर्म शीघ्र नष्ट हो जाता है। (पृ० 294)

3. कितने रूप बदले, परन्तु जिनरूप नहीं बदला। (पृ० 295)
4. कागजों के दिगम्बर कहीं दिगम्बर नहीं होते। (पृ० 292)
5. ये गणधर की गद्दी है, जिनवाणी की गद्दी है, इस गद्दी पर ज्ञानी! किसी जीव का यशोगान नहीं करना। कर सको तो वीतराग जिनेन्द्र की वाणी का यशोगान करना। (पृ० 290)
6. पहले भावों से भगवान् के पास जाना, फिर भावों से भगवत्ता की ओर बढ़ना। (पृ० 288)
7. सुन! ये बाहर के यंत्र-मंत्र जब फेल हो जाते हैं, तब भगवान की वीतराग वाणी का तंत्र प्रारम्भ होता है। (पृ० 287)
8. ये तंत्र, मंत्र, ज्योतिष वही काम आते हैं जहाँ पुण्य होता है। पुण्य नहीं है तो मंत्र भी सिद्ध नहीं होते। (पृ० 277)

सहायक ग्रन्थ—

1. आचार्य श्री भट्टकलंक देव विरचित स्वरूप सम्बोधन ग्रन्थ पर आचार्य विशुद्ध सागर जी महाराज विरचित 'स्वरूप-देशना' प्रवचन से सभी सूक्ति वाक्य संग्रहित हैं। प्रकाशक— अखिल भारतीय श्रमण सेवा समिति, प्रथम संस्करण - 2011
2. आवश्यक निर्मुक्ति - आचार्य वड्केरह सम्पादक प्रो० फूलचन्द जैन प्रेमी, प्रकाशक जिनफाउन्डेशन, नई दिल्ली-74

स्वरूप देशना में चैतन द्रव्य की स्वतन्त्रता

—डा० सुशील चन्द्र जैन, मेनपुरी

परम पूज्य आ० मट्ट अकलंक देव विरचित स्वरूप सम्बोधन न्याय का ग्रन्थ है। कुल 25 श्लोकों में जीव को अपने स्वरूप की ओर दृष्टिपात करने के लिए आचार्य श्री ने अनेक प्रकार से अनेकान्तिक दृष्टि देते हुए सम्बोधन दिया है। इन्दौर में 22 मई से 28 जून, 2010 तक हुई वाचना में प० पू० आ० श्री विशुद्ध सागर जी महाराज ने प्रवचन दिये, जिसके आधार पर 'स्वरूप देशना' नाम का 400 पृष्ठीय ग्रन्थ प्रकाशित हुआ। प्रवचनों से स्पष्ट है कि इस वाचना के प्रमुख श्रोता ब्र० पं० श्री रतनलाल जी रहे, जिनके शब्दों में इस ग्रन्थ में द्वादशांग का सार है, चारों अनुयोगों के प्रवेश की कुंजी है।

मंगलाचरण करते हुए आचार्य भगवन् कहते हैं—

मुक्तामुक्तैकरूपौ यः, कर्मभिः संविदादिना।

अक्षयं परमात्मानं, ज्ञानमूर्तिं नमामि तम्॥

जो कर्म से मुक्त तथा सम्यग्ज्ञान आदि से अमुक्त होता हुआ एक रूप है, उस अक्षय, अविनाशी ज्ञानमूर्ति परमात्मा को मैं। नमस्कार करता हूँ।

इस प्रकार आ० श्री मंगलाचरण में आत्मा मुक्त भी है तथा अमुक्त भी है, कह रहे हैं। सामान्य जीव को लगता है कि यह कैसे सम्भव है? तो आ० उत्तर देते हैं कि कर्मों से तो मुक्त है और सम्यग्ज्ञान आदि से अमुक्त है।

आगे के श्लोकों में आ० अकलंक स्वामी ने आत्मा को किसी एकरूप न मानकर अनेकान्त की सिद्धि करते हुए अनेक रूप बताया है। आत्मा कारण भी है, कार्य भी है, ग्राह्य भी है, अग्राह्य भी है, अनादि अनन्त भी है तथा उत्पाद व्यय ध्रौव्य युक्त भी है, एकत्वभूत है, नानत्वभूत है, वाच्य है, अवाच्य है, वक्तव्य है। अवक्तव्य है।

सोऽस्त्यात्मा सोपयोगोऽयं क्रमाद्धेतुफलावहः।

यो ग्राह्योऽग्राहानाद्यन्तः स्थित्युत्पत्तिव्ययात्मकः॥श्लोक 2 पृ० 22

ग्रंथ छोट अवश्य है पर इसमें बहुत सार भरा है तथा कष्ट साध्य भी है। ग्रंथ को समझने के लिए आचार्यों की दृष्टि को ध्यान में रखना अत्यावश्यक है।

प० पू० आ० श्री विशुद्ध सागर जी ने इस पर बड़ी ही सरल भाषा में प्रवचन

करके ग्रंथ के हार्द को जनमानस तक पहुँचाने की सफल कोशिश की है। सभी श्लोकों को देखने के बाद यह परिलक्षित होता है कि भगवन् अकलंक देव ने किसी भी श्लोक में सीधा—सीधा यह प्रश्न नहीं उठाया कि चेतन द्रव्य स्वतंत्र है या नहीं पर जब स्वरूप देशना में आ० विशुद्ध सागर जी के प्रवचनों को आत्मसात् करते हैं तो चेतन द्रव्य की स्वतंत्रता पर अनेक दृष्टियों से विवेचन देखने को मिलता है तथा उस पर समीचीन रूप से पूर्ण विवेचन करते हुये भगवन् अकलंक की शैली में यही कहा जा सकता है कि चेतन द्रव्य स्वतंत्र भी है और स्वतंत्र नहीं भी है।

वस्तु की विवक्षा, वस्तु की व्याख्या और वस्तु स्वतंत्रता तीन चीजें हैं, जिन्हें इनका भान नहीं है, वही रो रहा है। अगर इन पर ध्यान देते तो नयनों के नीर उसी क्षण समाप्त हो जाते। राग द्वेष के ही कर्ता आप हो लेकिन वस्तु के कर्ता नहीं हो। छः द्रव्य त्रैकालिक हैं। जीव द्रव्य का कोई जनक आज तक हुआ ही नहीं है, पुद्गल द्रव्य का भी कोई जनक नहीं हुआ। इसी प्रकार धर्म, अधर्म, आकाश, काल इन द्रव्यों का भी कोई जनक नहीं है और यही हर द्रव्य की स्वतंत्रता है। हे जीव! तू रागादिक भावों का जनक तो है, तू अपने शुभाशुभ भावों, परिणामों का जनक तो है परन्तु जिसमें शुभाशुभ परिणाम हो रहे हैं, उस परिणामी, चेतन द्रव्य आत्मा का जनक तू बिल्कुल नहीं है। छः द्रव्यों का परिणमन स्वतंत्र है, छहों द्रव्यों की परिणति भी स्वतंत्र है। कोई किसी द्रव्य का कर्ता न हुआ न होगा। अतः चेतन द्रव्य भी अन्य द्रव्यों की भाँति स्वतंत्र है। (पृ० 9-10)

जैनेन्द्र व्याकरण कहता है 'स्वतंत्रतः कर्ता'— कर्ता स्वतंत्र होता है। आप क्यों परतंत्र बनते हो? क्यों दूसरे को परतंत्र बनाते हो? (पृ० 43)। "पराधीन सपनेहु सुख नाही"। आज्ञा देने वाला बन जाऊँ, ऐसा भी भाव मत लाना और मैं किसी की आज्ञा का पालन करूँ, यह भाव भी मत लाना। सहज जीवन जियो।

स्फटिक मणी के सामने जैसा पुष्प रख दो, मणि भी वैसी दिखना प्रारम्भ कर देती है लेकिन मणि पुष्परूप नहीं होती। ऐसी ही आत्मा है। आज तक मेरे आत्मद्रव्य ने परद्रव्य को स्वीकार नहीं किया। मैं समझ रहा हूँ कि आत्मा द्रव्यकर्म, भावकर्म, नोकर्म से बद्ध है। इतना होने के उपरान्त भी जैसे स्फटिक के सामने पुष्प आया अवश्य है लेकिन स्फटिक ने पुष्प को किंचित् भी अपने में स्वीकार नहीं किया है, झलकता है लेकिन स्पर्शित नहीं है। ऐसे ही आत्मा ने भी कभी भी परद्रव्य को स्पर्श नहीं किया है, इसलिए अग्राह्य है ये आत्मा। स्पर्श, रस, गन्ध, वर्ण आदि द्रव्यों से इसे खींचा नहीं जा सकता इसलिए अग्राह्य है। परन्तु निज स्वरूप में लीन होता योगी इसे आत्मानुभूति से पकड़ता है, अतएव ग्राह्य है आत्मा। (पृ० 59)

यह आत्मा तो विवर्ण, विगन्ध, विमान, विलोभ, विकास, विशुद्ध, निर्मल है। आत्मा देखने का नहीं किन्तु स्वानुभूति का विषय है।

अरसमरूवमगंधं अव्वतं चेदणागुणमसददं।

जाण अलिंगग्गहणं जीवमणिदिट्ठ संठाणं॥ (49 समयसार)

आनन्द अमृत का पान स्वतंत्रा में, स्व में रहकर ही किया जा सकता है। पच्चीसवें श्लोक में कहते हैं—

स्वः स्वं स्वेन स्थितं स्वस्मै स्वस्मात्स्वस्याविनश्यरम्।

स्वस्मिन् ध्यात्वा लभेत् स्वोत्थमानन्दामृतं पदम्॥ 25/39।

स्वः, स्वं, स्वेन, स्वस्मै, स्वस्मात्, स्वस्य, स्वोत्थं – अपनी आत्मा, अपने स्वरूप को, अपने द्वारा, अपने लिए, अपनी आत्मा में अपनी आत्मा का, अपनी आत्मा से उत्पन्न हुआ अविनाशी आनन्द व अमृतमय पद अपनी आत्मा में ध्यान करके प्राप्त करे।

यहाँ यह स्पष्ट है कि परम आनन्द या परम पद की प्राप्ति जब तक चेतन द्रव्य की प्रवृत्ति पर में है, तब तक प्राप्त नहीं हो सकती और हर चेतन द्रव्य इस परमानन्द की प्राप्ति के लिए स्वतंत्र है। हर श्लोक पर गुरुवर ने प्रवचन समाप्त करते हुए 'आत्म स्वभावं परभाव भिन्न' – आत्मा का स्वभाव परभावों से अत्यन्त भिन्न है। यही चेतन द्रव्य की स्वतन्त्रता है। 19-20वीं कारिका में आ० श्री कहते हैं – स्वाधीनता ही परम सुख है। अपनी सत्ता को निहारो।

आप स्वरूप सम्बोधन सुन रहे हो भैया कण-कण स्वतंत्र है। कहना ही जानते हो या स्वीकारते भी हो। अणु-अणु स्वतंत्र है, इसे केवल कहो ही नहीं स्वीकारो भी (367)

संसार में रहो, लेकिन थोड़ा जागते-जागते तो रहो, थोड़ा विवेक के साथ रहो। सम्यग्दृष्टि जीव छहों द्रव्यों की सत्ता तो स्वीकारता है, परन्तु छहों द्रव्यों में उनको अपना नहीं मानता और अपने आपको उनको नहीं सौंपता। कभी अपनी सत्ता मत खो बैठना, अपने आपको किसी को मत देना, अपनों में रागमत करो और गैरों में द्वेष मत करो, यही तो स्वरूप सम्बोधन है। मध्यस्थ हो जाओ। अपनों का राग भी तुम्हें नीचे ले जायेगा और गैरों से द्वेष भी तुम्हें नीचे ले जायेगा, इतना ध्यान रखो। न अपने अपने हैं और न पराये पराये। ये सब हैं तो पर निज नहीं हैं, पर है। उनकी सत्ता को स्वीकारो, उन्हें अपना मत स्वीकारो (370)। यही चेतन द्रव्य की स्वतंत्रता है। परद्रव्यन तें भिन्न आप में रूचि सम्यक्त्व भला है। देह जीव को एक गिन बहिरातम

तत्त्व मुदा है ॥ जीव अलग द्रव्य है, देह अलग द्रव्य है। यही दोनों की स्वतंत्रता है। यद्यपि जीव व देह दोनों एक क्षेत्रावगाही हैं, परन्तु जीव पुद्गल नहीं हो गया और पुद्गल जीव नहीं हो गया। दोनों एक साथ होते हुए भी दोनों की सत्ता स्वतंत्र है (360)। अहो हमने अपनी स्वतंत्रता को जाना ही नहीं कि मैं स्वाधीन द्रव्य हूँ। जगत् में कोई दुःख है, तो पर से अपेक्षा, पर के नीचे रहना, पराधीन होना, परतंत्र होना। आप अपनी सत्ता को, स्वाधीनता को, स्वतंत्रता को तो समझ लो। एक दूसरे से ऐसे धुले मिले बैठे हो कि मेरा जीवन तुम्हारे बिना नहीं चलेगा और तुम्हारा जीवन मेरे बिना नहीं चलेगा, यह ध्रुव मिथ्यात्व है। निज द्रव्यता की अनुभूति की मान्यता घोर मिथ्यात्व है। वात्सल्य के साथ तो रहना, पर न प्रीति करना और न लड़ाई लड़ना। घर और समाज के लोग न तेरे साथ आये थे, न आयेंगे और न जायेंगे। तू स्वतंत्र द्रव्य है और ये सब चेतन अचेतन अलग-अलग अपने में स्वतंत्र द्रव्य हैं (360)।

सोचो जब तुम पैदा हुये थे, तब कैसे हाथ आये थे, खाली हाथ आये थे न, और जब जाते हो तो कैसे जाते हो खाली हाथ। न कुछ साथ लाये थे, न कुछ साथ ले जाना है।

तुम्हारे महल ये सारे, यहीं रह जायेंगे प्यारे,
अकड़ किस बात की प्यारे, ये सर फिर भी झुकाना है।
सजन रे झूठ मत बोलो, खुदा के पास जाना है॥

क्यों झूठी मान्यता पकड़ रखी है कि ये सब मेरे हैं। अपने होते तो साथ जाते।

अर्थ गृहे निवृत्तन्तिं, श्मशाने बन्धु बान्धवः।
सुकृतं दुष्कृतं चैव, गच्छति अनुगच्छति।

राग द्वेष भाव भी जब तेरा नहीं है तो रागादिक भाव जिनसे कर रहा है, वह कैसे तेरे हो जायेंगे? जो भी तुम्हें मिला है, वह पुण्य से ही मिला है और ये जीव कहता है कि मेरा द्रव्य। जिस पुण्य के उदय से तुम भोग भोग रहे हो, वह पुण्य भी तेरा द्रव्य नहीं है तो उस पुण्य से प्राप्त द्रव्य को तेरा कैसे मान लें? पुण्य मेरी आत्मा का द्रव्य नहीं, पुण्योदय भी मेरी आत्मा का द्रव्य नहीं, पापोदय भी मेरी आत्मा का द्रव्य नहीं। ये सब आसव हैं, बंध हैं, आत्मा के स्वभाव नहीं। ये चेतन तो पूर्ण एकत्व-विभक्त, चिद्रूप, एक अकेला है। हे ज्ञानी! तुम्हें अभी अपने चेतन की स्वतंत्रता का ज्ञान नहीं है इसलिए तू बिलख रहा है (361)। अतः 'तत्स्वं दोष निर्मुक्त्यै' - दोषों से रहित शिकर निर्माह में बुद्धि पूर्वक लग जाओ, लेकिन निमित्तों में लगने के लिए नहीं, निमित्तातीत होने के लिए। बस यही तो ज्ञान में लाना है और यह समझना है। मात्र

एक पुरुषार्थ करो कि निर्मोही कैसे हो सकते हो? जिन-जिन हेतुओं से मोह बढ़ते हैं, उन-उन हेतुओं से दूर हो जाओ और अपने मस्तिष्क में गन्दगी रखना बन्द कर दो (पृ० 353)। गुरुवर ने इस सम्बन्ध में एक खीर का बड़ा ही सुन्दर दृष्टान्त दिया है। खीर खाने की जल्दी है, पर गरम बहुत है। तो ठंडा करने की चिन्ता मत करो, भगोने को आग पर से नीचे उतारकर रख दो। विषय कषायों की भट्टी पर आत्माराम की खीर रखी है, भट्टी से तो उतारता नहीं खीर और पंखा हिला रहा है, खीर ठण्डी होगी क्या? विषय कषायों से तो रूचि / प्रीति हट नहीं रही, वहाँ से हटना नहीं चाहता, वहीं पहुँच रहा है बार-बार और कहता है कि मैं कैसे ठण्डा होऊँ, कैसे महाराज बनूँ? आत्मा में जो अशुद्धि है, विकारी भाव हैं, वह सोपाधिक है। सोपाधिक दशा नियम से नष्ट होती है। बस उसको उतारकर रख दो, अपने आप ठण्डे हो जाओगे। निमित्तों से तो हटिये आप तो उपादान शीतल हो जायेगा (353)। बस सब प्रयास बन्द करके एक पुरुषार्थ करो कि मैं निर्मोह कैसे होऊँ? जिन-जिन हेतुओं से मोह बढ़ते हैं, उन-उन हेतुओं से पहले दूर हो जाओ और अपने मस्तिष्क में गन्दगी रखना बन्द कर दो। कुभावों के संयोग से भगवान् आत्मा में भगवान् आत्मा नहीं मिल पाती। कुभाव भावों के संयोग से यह आत्मा भी धूरा हुयी जा रही है, परन्तु यह सब विभाव भी आत्मा के नहीं हैं, इनसे स्वतंत्र द्रव्य हैं चेतन। तू कुभाव भाव से ममत्व हटाकर तो देख। (354)।

इसी बात को भगवन् आचार्य अकलंक देव श्लोक 17 में इस प्रकार कहते हैं—

कषायैः रञ्जितं चेतः, तत्त्वं नैवावगाहते।

नीलीरक्तेऽम्बरे रागो, दुराधेयो हि कौकुमः॥ 17/346

कषाय से रंजित चेतन, तत्त्व रूप शुद्ध स्वरूप को कभी नहीं निर्णय कर पाता। इस प्रकार कि, नीले रंग से रंगे हुए कपड़े पर कुमकुम का राग नहीं लगता। निश्चय ही यह दुराधेय है।

अतः यदि आत्म चिंतन में तत्पर होना चाहते हो तो दोषों (रागद्वेष, क्षोभ, व्याकुलता) क्रोधादि दोषों से छूटने के लिए समस्त इष्ट-अनिष्ट विषयों में तू मोह ममता रहित होकर शरीर से, संसार के विषय भोगों से उदासीन बनकर आत्म चिन्तन में तत्पर हो जा।

इन वैभाविक संयोगों के कारण ही 'स्वतंत्र चेतन भी परतंत्र प्रतीत होता है। कण-कण स्वतंत्र है, अणु-अणु स्वतंत्र है। कोई किसी के कर्म को बदलने का अधिकारी भी नहीं है। यदि आपने दूसरों के कर्म को बदल दिया तो हे ज्ञानी तू तो

बहुत बड़ा ईश्वरवादी हो जायेगा। कर्म और आत्मा में व्याप्य व्यापक भाव नहीं है। जब कर्म मेरा ही कर्ता नहीं है, मैं कर्म का कर्ता नहीं हूँ तो कोई भी पर द्रव्य मेरा कर्ता नहीं हो सकता। यहाँ कर्ता से बनाने वाला लेना, कोई किसी का कुछ नहीं करता, ऐसा भाव मत लेना। कर्म जीव का उत्पादक नहीं हो सकता, जीव कर्म का उत्पादक नहीं हो सकता। कर्म और आत्मा अलग-अलग हैं और यही चेतन द्रव्य की स्वतंत्रता है। कर्म आये तो आप उसकी ओर मुस्करकर देखें। वे साता के रूप में आये तो भी उसकी ओर देखो और असाता के रूप में आये तो उसे भी देखो, उसे ज्ञेय तो बनाओ, कर्ता मत बनाओ (349)। कोई किसी का कर्ता जगत् में न हुआ और न होगा (351)। समझाना तो ठीक है पर सुधारने का ठेका मत लेना। हर किसी का चेतन द्रव्य स्वतंत्र है। आप निमित्त नैमित्तिक सम्बन्ध तो स्वीकारो लेकिन कर्तृत्व भाव मत रखो। आप पर के कर्ता हो ही नहीं सकते, कर्ता पने को त्याग दीजिए (329)।

भगवान् बन्ध कराने नहीं आते। भगवान् बन्ध छुड़ाने नहीं आते। यह तो निमित्ताधीन दृष्टि है। उपादान, उपादेय पर भी तो ध्यान दो। पर उपादान तभी सफल होता है, जब निमित्त साथ में होगा। न तुम्हें कोई व्यभिचारी बना सकता है और न कोई मुनि महाराज। तेरा अन्दर का चेतन द्रव्य यदि पवित्र है तो तू निर्ग्रन्थ बनेगा और यदि कर्म का विपाक विकृत हो गया तो तू व्यभिचारी बनेगा। भगवान् तुझे भगवान् बनाने नहीं आयेंगे। निज के भाव ही तुम्हें भगवान् बनायेंगे। यह चेतन द्रव्य की स्वतंत्रता है। पहले भावों से भगवान् के पास जाना फिर भावों से भगवती की ओर बढ़ना और फिर भावों को भी समाप्त कर देना तो भव भी नियम से स्वतंत्र हो जायेगा। एक दिन ऐसा आयेगा जब भाव ही समाप्त हो जायेंगे और जिसके भाव समाप्त हो गये, उसका भव नियम से समाप्त हो जायेगा (288)।

पर को दोष देना आज से समाप्त कर देना। पर निमित्त बन सकते हैं पर 'पर' शोषी नहीं होते। सुख-दुःख में पर निमित्त बन सकते हैं, दोषी नहीं। दोष किसी दूसरे का ही है और वह और कोई नहीं तू ही है। पूर्व में जो किये थे दोष सो आज उदय में आ रहे हैं, अब उनको शान्ति से सहन कर लेता तो निर्जरा हो जाती, लेकिन सहन न करने के स्थान पर दूसरे को दोष दे रहा है, जिससे नवीन कर्मों को और आमन्त्रण दे रहा है। परिणामों को सम्भाल लेता तो बच जाता।

तीसरे श्लोक पर प्रवचन करते हुए गुरुवर कहते हैं— स्वरूप संबोधन की गहराई समझो। चेतन द्रव्य स्वतंत्रता पर आचार्य अच्छी दृष्टि देते हैं। वेदकर्म की उदीरणा होती है तो जीव सम्मोहित होते हैं। जो स्त्री पुरुषों में वेद कराये, वह तो वेद

का वेदन है। 'परिणाम हवेदि सम्मोहो'। जब जीव के परिणाम सम्मोहित होते हैं तो उस काल में न गुण को जानता है न दोषों को। न कुछ को पहचानता है, न जाति को। न वंश का ध्यान रखता है, न कुवंश का ध्यान रखता है यानी कुल, वंश, जाति, गोत्र सभी को खो बैठता है। परन्तु क्या ऐसा होना सुनिश्चित है? ऐसा होना सुनिश्चित नहीं है। यदि सर्वथा ही इसे सुनिश्चित मान लिया जाये तो मोक्षमार्ग का विराम हो जायेगा, संयम का अभाव हो जायेगा, पुरुषार्थ समाप्त हो जायेगा, ईश्वरवादी ईश्वराधीन हो जायेगा और तुम भी कर्माधीन हो जाओगे। वेद की उदीरणा का होना, वेदकर्म का उदय में आना, ये वेद का हाथ है। परिणामों का सम्मोहित होना, ये कर्म सापेक्ष है लेकिन तदनुकूल प्रवृत्ति करना या नहीं करना ये पुरुषार्थ सापेक्ष है। 'वेदस्य उदीरणाये' कर्म के उदय में कार्य करना ही पड़ेगा, ऐसी मान्यता तो घोर मिथ्यात्व की पोषक है। कर्म के उदय होने पर चेतन का उस ओर चला जाना, उसकी परतंत्रता का द्योतक है, परन्तु पुरुषार्थ करके तदनुकूल प्रवृत्ति नहीं करना, उसे संयम के द्वारा रोक लेना ये चेतन की स्वतंत्रता का द्योतक है (78)। पुण्य की प्रबलता में प्रशस्त पुरुषार्थ चलता है, पाप की प्रबलता में अप्रशस्त पुरुषार्थ प्रारम्भ हो जाता है (79)। प० पू० आ० श्री महावीरकीर्ति जी महाराज का एक दृष्टान्त देते हुए गुरुवर कहते हैं कि महाराज जी कटनी में 105 डिग्री बुखार में श्री जी के सामने कायोत्सर्ग मुद्रा में खड़े होकर सामायिक कर रहे थे, उसी समय एक कालिया नाग ने मुनिराज की उँगली को पकड़ लिया, बस यही तो स्वरूप संबोधन है। एक उँगली पकड़े हैं, दूसरा देख रहा है। उँगलीवान ने उसे ज्ञेय बना लिया। तू जिसे भक्षण करना चाहता है, वह भक्ष्य भी नहीं है और तू जिसे पकड़े है, वह मैं नहीं हूँ। महाराज ने कहा 'मैया यदि वैर है तो देर क्यों? और वैर नहीं है तो अंधेर क्यों? मुझे सामायिक करने दो।' नाग उँगली को छोड़कर अपने बिल में चला गया, योगी अपने बिल में चले गये। एक केंचुली को छोड़ने वाला नाग था, दूसरा राग को छोड़ने वाला नाग था, दोनों ही अपना घर बनाकर नहीं रहते। ये हैं चेतन द्रव्य की शक्ति और स्वतंत्रता (86)। कमठ शरीर को तो गीला कर सकता है, पर चैतन्य आत्मा को गीला नहीं कर सकता। कषायों के निमित्त पराश्रित हैं, पर कषाय करना या नहीं करना ये शाश्वत है। धर्म स्व सापेक्ष है, पर सापेक्ष नहीं। हम अपने चिंतवन में स्वतंत्र हैं, अपने उपादान को पवित्र या अपवित्र करने में स्वतंत्र हैं, पर 'पर' के उपादान को बदलने में स्वतंत्र नहीं हैं। जब तक पराधीन दृष्टि रहती है, तब तक संसार है और जब द्रव्य दृष्टि आती है, स्व की ओर दृष्टि जाती है, तब 'भो भावी भगवान् तू किसे पंजा मार रहा है, तू तो भविष्य का भगवान् है'। पंजा छूट गया, नयनों से नीर टपक गया, यह है पराधीन दृष्टि से अपने चैतन्य द्रव्य को स्वाधीन दृष्टि की ओर लगाने

का पुरुषार्थ और यही स्वरूप सम्बोधन है—

स्वदेहप्रमितश्चायं, ज्ञानमात्रोऽपि नैव सः।

ततः सर्वगतश्चायं, विश्वव्यापी न सर्वथा॥ 5/139

यह आत्मा अपने शरीर के बराबर है। इस पाँचवीं कारिका में आ० श्री आत्मा को समस्त जगत् में व्याप्त है, ऐसा खण्डन करते हुए कहते हैं कि यह आत्मा अपने शरीर के बराबर है। यह चेतन द्रव्य की परतंत्रता का एक उदाहरण है कि कर्मोदय से जीव जिस शरीर में भी जाता है, उस शरीर में आत्मा की अवगाहना उस शरीर के अनुरूप हो जाती है।

कर्ता यः कर्मणां भोक्ता, तत्फलानां स एव तु।

बहिरन्तरूपायाम्बां, तेषां मुक्तत्वमेव हि॥ 10/270

आत्मा राग, द्वेष, मोह आदि भावों का कर्ता भी है, ज्ञानावरणादि आठ कर्मों का बन्ध करने वाला भी है और वही आत्म उन कर्मों के शुभ-अशुभ रूप कर्मों का भोक्ता भी है। बहिरंग और अन्तरंग उपायों द्वारा उन कर्मों का छूट जाना भी उसी आत्मा में ही होता है। बंधकर्ता भगवान नहीं और बंध छुड़ाने वाला भी भगवान नहीं। तू ही बंध का कर्ता और तू ही बंध का भोक्ता है (224)। आचार्य भगवन् अकलंक देव इस स्वरूप सम्बोधन में आत्मा की उस स्थिति का ही वर्णन कर रहे हैं, जो त्रैकालिक अपनी ध्रुव सत्ता से कभी चलायमान नहीं हुई है।

इस प्रकार स्वरूप सम्बोधन में आ० श्री ने आत्मा की स्वतंत्रता पर भलीभाँति ध्यान आकृष्ट किया है। इसमें आ० श्री ने आत्मा की उस अवस्था का वर्णन किया है जो त्रैकालिक अपनी ध्रुवतत्त्वता से न कभी चलायमान हुई है और न होगी। कर्मों का कर्ता जीव स्वयमेव है तथा कर्मों से मुक्त होना स्वयं के ही आधीन है। इस प्रकार चेतन द्रव्य की स्वतंत्रता पर आ० श्री ने अनेक दृष्टान्त देते हुए व अनेकानेक रूप से विचार व्यक्त करते हुए आत्मा के अविकारी स्वरूप की ओर दृष्टिपात करने का आव्हान किया। कर्मों का कर्ता यह स्वयमेव है तथा कर्मों से मुक्त होगा तो स्वयमेव ही होगा।

स्वरूप - सम्बोधन परिशीलन में वर्णित आत्मस्वरूप की विभिन्न विवक्षा

—डा० सुमत कुमार जैन

आचार्य अकलंक देव द्वारा विरचित पच्चीस श्लोक प्रमाण स्वरूप सम्बोधन नामक कृति अध्यात्म प्रधान है। इस रचना का जैसा नाम है वैसा ही विषय विवेचन भी है। इसके प्रत्येक श्लोक में आत्म स्वरूप का प्रतिपादन उपलब्ध होता है। आत्म स्वरूप के विवेचन में न्याय-विद्या का सहारा लिया गया है। इस ग्रन्थ के मंगलाचरण में आचार्य श्री विशुद्ध सागर जी महाराज ने स्पष्ट कहा है कि इस ग्रन्थ में अनेकान्त-स्याद्वाद शैली का प्रयोग हुआ है। इसके सैद्धांतिक विवेचन से प्रभावित होकर अध्यात्म-रसिक आचार्य श्री विशुद्ध सागर जी महाराज ने इस ग्रन्थ के प्रत्येक श्लोक पर विशिष्ट प्रवचन कर इसको अत्यन्त सरल और सुबोध बनाया है, जिस कारण यह जटिल रचना जनसामान्य के लिए हृदय-ग्राह्य बन गयी है।

आत्मस्वरूप का प्रतिपादन प्रायः जैन दर्शन के प्रत्येक ग्रन्थ में प्राप्त होता है, तथापि स्याद्वाद-अनेकान्त से परिपूर्ण इस कृति में आत्मस्वरूप की मीमांसा अद्वितीय है। ग्रन्थों के आलोडन-विलोडन का मुख्य प्रतिपाद्य आत्मस्वरूप का ज्ञान और अनुभव है।

इस आलोच्य ग्रन्थ में आत्मस्वरूप का कथन अनेक अपेक्षाओं से किया गया है— रत्नत्रय, विधि-निषेध, प्रमाण-नय, आत्मकर्तृत्व- भोक्तृत्व, वस्तुस्वतंत्र्य, मूर्त-अमूर्तत्व, द्रव्य-गुण-पर्याय आदि।

आत्मा के उपयोग लक्षण की चर्चा आचार्य श्री विशुद्ध सागर जी महाराज ने विस्तृत की है जो इस प्रकार है कि सोऽस्यात्म सोपयोगोऽयम् अर्थात् वह यह उपयोगात्मक आत्मा है। आत्मा उपयोग रहित कभी नहीं होती। उपयोग आत्मा का धर्म है, सत्यार्थ तो यही है कि आत्मा का लक्षण अन्य नहीं है। जो अंतरंग और बहिरंग दोनों प्रकार के निमित्तों से होता है और चैतन्य का अन्वयी है अर्थात् चैतन्य को छोड़कर अन्यत्र नहीं रहता वह परिणाम उपयोग कहलाता है। आत्मा उपयोग के अभाव में कभी नहीं रहता, चैतन्य गुण ही जीव का सत्यार्थ लक्षण है, चेतना किसी भी अवस्था में नष्ट नहीं होती, जीव चाहे मूर्च्छित हो, चाहे सुप्त अवस्था में हो अथवा सिद्ध अवस्था में हो, चैतन्य धर्म टंकोत्कीर्ण ज्ञायक स्वभावरूप त्रैकालिक है। संसारी और मुक्त चैतन्य में इतना अन्तर समझना कि संसारी जीव अशुद्ध चेतना में जीता है, मुक्त जीव शुद्ध चेतना से मुक्त होते हैं परन्तु चैतन्यधर्म त्रैकालिक

रहता है, वह किसी भी अवस्था में विनाश को प्राप्त नहीं होगा—यही जीव का सत्यार्थ लक्षण है।।

आचार्य अकलंकदेव आत्मा के स्वरूप का वर्णन करते हुए कहते हैं कि यह स्वरूप—सम्बोधन ग्रन्थ रत्नत्रय प्रगट कराने में अत्युपयोगी है।² इसके अध्ययन से साधक को एक सम्यक् दिशा प्राप्त होती है, क्योंकि किसी भी अन्य परम्परा से व्यक्ति में श्रद्धान का जन्म नहीं होता। श्रद्धान का उद्गम तो चिंतन की धारा से होता है। आचार्य अकलंक देव ने शुद्ध आत्मा की उपलब्धि के बारे में कहा है कि आत्म स्वरूप की प्राप्ति करने का अंतरंग उपाय रत्नत्रय अर्थात् सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र की उत्पत्ति, वृद्धि और फल की प्राप्ति नहीं होती है।³ इस प्रकार तीनों के माध्यम से आत्मस्वरूप की प्राप्ति कार्यकारी है। रत्नत्रय के विराधक जीवों को आचार्य श्री ने स्वरूप सम्बोधन परिशीलन में अनेक प्रसंगों के माध्यम से समझाया है कि जैन दर्शन में अप्रतिष्ठित प्रतिमा पूज्य नहीं है, फिर तस्वीरें कैसे पूज्य हैं? तीर्थंकर भगवन्तों के साथ वेदी पर आज अपूज्यों की तस्वीरें रखी जाने लगी हैं तथा भिन्न स्थानों पर भी रखकर पूजा प्रारम्भ है। सामान्य जन आगम कम पढ़ते हैं, अनुकरण अधिक करते हैं। क्या तस्वीरों की पूजा उचित है? ज्ञानियों! प्रतिष्ठा—ग्रन्थों के अनुसार तीर्थंकर की वेदी पर व अन्यत्र रखकर तीर्थंकर की तस्वीर की पूजा आगमसम्मत नहीं है, फिर पंचकल्याणक प्राण—प्रतिष्ठा की क्या आवश्यकता होती? व्यर्थ में लाखों का द्रव्य प्रतिष्ठा में व्यय क्यों किया जाता है?⁴

रत्नत्रय धारण करके भी साधक अन्य कार्य करता है। अन्य कार्य से मेरा प्रयोजन यह है कि जो रत्नत्रय धर्म है, निश्चय व व्यवहार संयम का पालन करते हुए षट् आवश्यकदि मूलोत्तर गुणों के पालन से भिन्न जो भी कार्य श्रमण करते हैं, तो वे उनके लिए सभी अन्य कार्य हैं। कितनी प्रबल साधना के योग से स्वकार्य की उपलब्धि हेतु जिन—मुद्रा धारण करने को मिलती है। ऐसी त्रिलोक—पूज्य मुद्रा धारण करके भी जीव निज परमात्म तत्त्व को, कार्य को नहीं साध सका तो यही मानना कि सम्राट पद पर प्रतिष्ठित होकर भी भीख माँगने निकला है।⁵ मार्मिक सम्बोधन देते हुए आचार्य श्री कहते हैं कि किसी ने देवों के हाथ में स्वयं को दे दिया, किसी ने जादू—टोना को, तंत्र—मंत्र को, किसी ने नगरदेव को, तो किसी ने कुलदेवी को, तो किसी ने अदेवों, तिर्यचों एवं वृक्षों, खोटे गुरुओं के हाथों में सौंप दिया। इतना ही नहीं आज तो धन—पिपासा की वृद्धि को देखते हुए लोक में साधु—संतो ने भी भोले लोगों की वंचना प्रारम्भ कर दी है। धर्म के नाम पर भयभीत कर धन लूट रहे हैं, कोई श्रीफल को फूँक रहे हैं, तो कोई जीव अपने लाभ को कलशों में निहार रहे

हैं, सोने-चाँदी के कलश घरों में रखकर/रखाकर उनका उनमें मन लगवाकर उनकी अपनी स्वतंत्रता का हनन करने में लीन हैं। नग, अँगूठी, मोती, माला इत्यादि में लगाकर सत्यार्थ मार्ग से वंचित कर रहे हैं। अहो प्रज्ञा! हमारी बातें आपको लोक से भिन्न दिखाई दे रही होगी, क्योंकि लोक, आत्मलोक का अवलोकन नहीं है, वहाँ तो लोभ-कषाय, परिग्रह-संज्ञा की ही पुष्टि अधिक है। सामान्य लोगों से लेकर विशिष्ट जन तक उक्त रोग से पीड़ित हैं।⁶

ज्ञानी को स्वयं चिंतन करने का परामर्श देते हुए कहते हैं- क्या भवनों का निर्माण आत्म-निर्वाण का मार्ग है? जो भवन के त्यागी हैं, वे भवन-निर्माण में अपनी निर्वाण दीक्षा के काल को पूर्ण करें, पर कर्तापन की इससे बड़ी विडम्बना क्या होगी? रागी-भोगी जिसका उपयोग करेंगे, उन्हें वीतराग-मुद्रा धारी बनवाएँ, यह कलिकाल की बलिहारी कहें या मान का पुष्टिकरण कहें, या फिर मोक्ष-तत्त्व पर श्रद्धा की कमी, या यों कहें कि मोक्षमार्ग कठिन मार्ग है, इस पर ठहरना दुर्लभ है, इसलिए वहाँ से च्युत हुआ जीव भवनों का आलम्बन लेकर समय को पूर्ण कर रहा है।⁷

उक्त प्रसंगों के माध्यम से आचार्य श्री ने रत्नत्रय विराधक की चर्चा की है, आगे रत्नत्रय या धर्म से रहित विराधक, आराधक कैसे बन सकता है इसकी सुव्यवस्थित चर्चा आराधक की श्रृंखला में आचार्य श्री ने आत्मस्वरूप के सन्मुख होने के लिए वस्तु-स्वतंत्रय की चर्चा की है अर्थात् प्रत्येक जीव स्वतंत्र है, कण-कण स्वतंत्र है, द्रव्य की स्वतंत्र सत्ता को जाने बिना भेद-विज्ञान की भाषा अधूरी है। भेद विज्ञान का अर्थ है- प्रत्येक द्रव्य को अन्य-अन्य द्रव्य से अन्य ही स्वीकारना। यह स्वतंत्रता कहने का आग्रह नहीं, पन्थवाद सन्तवाद नहीं, अपितु वस्तु का स्वभाव ही है, कोई विपरीत आस्था कर भी ले, परन्तु वस्तु व्यवस्था कभी विपरीत हो नहीं सकती, यह ध्रुव भूतार्थ है। स्व-प्रज्ञा का सहारा लेकर ही तत्त्व का चिन्तन करना, तत्त्व चिन्तन के लिए पर-प्रज्ञा का सहारा नहीं लेना, जो भी साक्षात् अनुभव होता है, वह स्वप्रज्ञा ही सत्यार्थ है, अन्य प्रज्ञा से जो चलता है, वह कई जगह भ्रमित होता है, जो लोक-शास्त्रों में लौकिक जनों ने लिखकर रखा है, उसे स्वीकार नहीं कर लेना, सत्यार्थ की कसौटी पर कसकर ही तत्त्व के प्रति जिह्वा हिलाएँ, अन्यथा मौन रखना ही सर्वोपरि श्रेयस्कर है।⁸ जो त्रैकालिक ध्रुव वस्तु का स्वभाव है, वह सहज है, पारिणामिक - भाव जो कि छहों द्रव्यों में अनादि व अनन्त रूप में विद्यमान है, वही किसी के द्वारा उत्पन्न नहीं कराया गया है वह सहज-भाव है। जीव द्रव्य की अपेक्षा समझें तो जीवत्व-भाव, भव्यत्वभाव, अभव्यत्वभाव- इन भावों का न तो

उदय होता है, न उपशम, न क्षय, न क्षयोपशम होता है, पारिणामिक— भाव औदायिक—भाव नहीं है, जितने भी औदायिक भाव है, वे कर्म सापेक्षता से देखें, तो सहज कर्म भी विपाक है।⁹ जहाँ राग—द्वेष विकल्पों के सविकल्प—भाव का अभाव है। ममत्व परिणाम का विसर्जन कर दिया है, सारे विश्व के रागद्वेष का मूल कारण ममत्व परिणाम है, जो ममत्व भाव का त्याग कर देता है, तो परम पारिणामिक भावों की और अग्रसर हो जाता है, जहाँ ममत्व भाव है, वहाँ समता की बात करना, अग्नि में कमल—वन को देखने जैसा है।¹⁰ भवातीत की अनुभूति उसी परम योगी को होती है जिसको विषय—कषाय, आर्त्त—रौद्र, रागद्वेष, मान—कषाय, लोभ, काम, क्रोध, जाति, लिंग, पन्थ, सम्प्रदाय, गण—गच्छ, संग, संघ, दक्षिण—उत्तर, पूर्व—पश्चिम, संघ—उपसंघ, गणी—गणाचार्य, उपाध्याय, प्रवर्तक, गणधर, नगर, महानगर, जनपद, ग्राम, शमशान, भवन, जंगल, स्त्री—पुरुष, बाल—पुरुष, बाल—युवा—वृद्ध की कारण—भूत भावनाओं से अतीत हुए बिना भवातीत की अनुभूति स्वप्न में भी होने वाली नहीं है।¹¹

सातों तत्त्वों में से एक तत्त्व पर अनास्था भाव है, तो सम्यक्त्व भाव नहीं होता। इन तत्त्वों को सरिता के दो तटों से निहारो। निश्चय से एक तट शुद्धात्मतत्त्व है, दूसरे व्यवहार से सातों तत्त्व हैं, जिनके मध्य श्रद्धा का नीर प्रवाहित होता है, जिस पर सम्यक् चारित्र की नौका चल रही है और नय—प्रमाण की पतवार सम्यग्ज्ञान है, आत्म धर्म नाविक है, जिस पर आत्म पुरुष सवार है, मोक्षतत्त्व जिसका मार्गी है, रत्नत्रय मार्ग है।¹² तत्त्व ज्ञान की प्राप्ति बहुत ही दुर्लभ है। लोक में अनेक प्रकार की विचारधारायें हैं सभी के अपने सिद्धांत हैं, बुद्धियों के विकार हैं, चिंतन सम्यक् भी है विपरीत भी हैं। विपरीत तत्त्व को ग्रहण करने में सरलता है, क्योंकि अधोगमन शीघ्र होता है। कठिन तो ऊर्ध्वगमन है। अपनी बुद्धि एवं शक्ति का ऊर्ध्वगमन करना चाहिए। विचारों की निर्मलता एवं चारित्र की पवित्रता ऊर्ध्वगमन के साधन हैं।¹³

आत्मस्वरूप के विशेष कथन में शिष्य प्रश्न करता है कि आत्मा विधिरूप है या निषेधरूप है, मूर्तिक है या अमूर्तिक है? ये दो—दो धर्म वस्तु में कैसे हो सकते हैं? इस प्रश्न के समाधान में आचार्य अकलंक देव श्लोक—8 का विवेचन करते हैं—

**स स्याद्विधिनिषेधात्मा, स्वधर्म—परधर्मयोः।
समूर्तिर्बोधमूर्तित्वामूर्तिश्च विपर्ययात्॥**

अर्थात् वह आत्मा स्वधर्म एवं परधर्म के कथन करने में विधिरूप भी है और निषेधरूप भी है। साथ ही वह आत्मा ज्ञानमूर्ति होने से मूर्तिमान भी है और ठीक

इसके विपरीत अमूर्तिक भी है। इस रहस्य के सम्बन्ध में आचार्य श्री विशुद्ध सागर जी महाराज कहते हैं कि प्रत्येक द्रव्य में उभयरूपता है, जो द्रव्य सदरूप है, वही द्रव्य असदरूप भी है। स्वचतुष्टय से पदार्थ सदरूप है, परचतुष्टय से असदरूप भी है।¹⁴ कथन तो क्रमशः किया जाता है, जब सत् का कथन होगा, तब असत् गौण होगा, जब असत् का कथन होगा, तब सत् गौण होगा, परन्तु प्रत्येक समय सद्भाव दोनों का ही रहेगा।¹⁵ इसी प्रकार मूर्तिक भी है और अमूर्तिक भी—इसे स्पष्ट करते हुए आचार्य श्री विशुद्ध सागर जी लिखते हैं कि स्पर्श, रस, गन्ध, वर्ण निश्चय से आत्मा में नहीं पाये जाते, इसलिए आत्मा अमूर्तिक स्वभावी है, परन्तु बन्ध की अपेक्षा से, व्यवहारनय की अपेक्षा से मूर्तिक भी है।¹⁶ द्वितीय संदर्भ में कहते हैं कि ज्ञान साकार होता है, ज्ञान मूर्तिक होने से आत्मा मूर्तिक है।¹⁷ दार्शनिक संदर्भों की विशेष चर्चा करते हुए उनका कथन है कि जीव को जो अमूर्तिक कहा गया, वह जीव स्वभाव का कथन तो है, साथ ही इस कथन से चार्वाकों के आत्मा विषयक स्पर्श, रस, गन्ध, वर्णादिरूप मूर्तिकत्व का निराकरण भी होता है।¹⁸

इस प्रकार हम देखते हैं कि 'स्वरूप-सम्बोधन' की विवेचना में आचार्य श्री ने न केवल स्वरूप आत्मा का विवेचन किया है, बल्कि पूजा और आराधना के नाम पर व्याप्त कुरीतियों की ओर भी हमारा ध्यान आकृष्ट किया है। इस ग्रंथ में जहाँ हम सरलतापूर्वक स्वरूप का ज्ञान प्राप्त करते हैं, चिन्तन करते हैं, वहीं आज की कुरीतियों को तर्कपूर्ण विवेचनाओं को समझकर, उनसे दूर रहने का यथासम्भव प्रयास करते हैं। आचार्य श्री ने स्वरूप-सम्बोधन की विवेचना कर जनसामान्य के ज्ञान-चक्षु खोलने का सफल प्रयत्न किया है। मैं ऐसे सरल और सुबोध विवेचक को बारम्बार नमोस्तु करता हूँ।

अन्ततः कहना चाहता हूँ कि आत्मस्वरूप का उक्त प्रतिपादन उपयोगस्वरूपी आत्मा, रत्नत्रय, विधि-निषेध, कर्तृत्व-भोक्तृत्व, वस्तुस्वतंत्रय, मूर्त-अमूर्तत्व आदि अनेक विवक्षाओं से किया गया है, वहाँ प्रयोजन यही है कि यह जीव अपने स्वरूप से अनभिज्ञ है। अतएव वह अपने वास्तविक स्वरूप को जानकर आत्म अनुभव करे और अपना कल्याण करे।

आधारभूत ग्रन्थ— आचार्य अकलंकदेव विरचित, स्वरूप-सम्बोधन परिशीलन, परिशीलनकार, आचार्य विशुद्ध सागर जी महाराज।

संदर्भ सूची—

1. स्वरूप - सम्बोधन परिशीलन पृ० 21-22

2. वही, पृ० 5
3. स्वरूप-सम्बोधन परिशीलन, श्लोक-11
4. वही, पृ० 17
5. वही, पृ० 21
6. वही, पृ० 88
7. वही, पृ० 210
8. वही, पृ० 155
9. वही, पृ० 161
10. वही, पृ० 163
11. वही, पृ० 169
12. वही, पृ० 167
13. वही, पृ० 194
14. वही, पृ० 82
15. वही, पृ० 82
16. वही, पृ० 86
17. वही, पृ० 86
18. वही, पृ० 86

स्वरूप-सम्बोधन के आधार पर

सिद्ध परमात्मा मुक्त हैं या अमुक्त?

एक ऊहापोह

—डा० भागचन्द्र जैन 'भास्कर'

आचार्य अकलंक जैन न्याय के पितामह कहे जा सकते हैं। उन्होंने सातवीं-आठवीं शती में जैन दर्शन को नई पहचान दी और लघीयस्त्रय, न्यायविनिश्चय, सिद्धिविनिश्चय, प्रमाण संग्रह, तत्त्वार्थ वार्तिक, अष्टशती जैसे ग्रंथों की रचना कर न्याय के क्षेत्र को संबर्धित किया। उन्हीं की अन्यतम कृति "स्वरूप-सम्बोधन" पच्चीस पद्यों की भले ही हो (स्वरूप सम्बोधन पञ्चविंशतिः, मंगलरूप पद्य 26) पर वह न्याय विद्या का अवलम्बन करने वाली। स्वरूप देशना के क्षेत्र में एक ऐसी अनुपम कृति है जो साधक को परमात्म सम्पदा प्राप्त कराने में अहं भूमिका अदा कर सकती है।

स्वरूप सम्बोधन में आचार्य अकलंक देव ने 'स्व' के यथार्थ रूप को पहचानने की अभिव्यक्ति दी है। इस सदर्भ में उसका मंगलाचरण उल्लेखनीय है—

मुक्तामुक्तैकरूपो यः कर्मभिः संविदादिना।

अक्षयं परमात्मानं ज्ञानमूर्तिं नमामि तम्॥

इसमें आचार्य अकलंक देव ने उस परमात्मा को नमस्कार किया है जो कर्मों से तथा सम्यग्ज्ञान आदि से क्रमशः मुक्त और अमुक्त होता हुआ एक रूप है, अविनाशी है, ज्ञानस्वरूप है। इस पर प० पू० आचार्य श्री विशुद्ध सागर जी ने 'स्वरूप देशना' प्रवचन के माध्यम से समूचे सम्बद्ध विषय को स्पष्ट करने का श्लाघ्य प्रयत्न किया है। आचार्य अकलंक देव ने इस मंगलाचरण में मुक्त सिद्धों के साथ ही अमुक्त सिद्धों को भी नमस्कार किया है। इसलिए उनकी दृष्टि में सिद्ध कथञ्चित् मुक्त हैं और कथञ्चित् अमुक्त हैं। उनकी मुक्तामुक्त अवस्था ही वन्दनीय है। व्यवहार नय से पंचपरमेष्ठी ही वन्दनीय हैं। निश्चयनय से निज ध्रुवात्मा ही वन्दनीय है। वे सिद्ध परमेष्ठी कर्मों की अपेक्षा से मुक्त हैं और अनन्त ज्ञानादिक गुणों की अपेक्षा से अमुक्त हैं।

प्रस्तुत आलेख का उद्देश्य इसी लक्ष्य को स्पष्ट करना है। अनेकान्तवाद के आधार पर स्वरूप सम्बोधन में सिद्ध के इसी मुक्तामुक्त रूप को प्रस्थापित किया गया है।

जैन दर्शन के अनुसार व्यक्ति स्वयं रत्नत्रयी साधना करता हुआ अन्तरात्मा से परमात्मा बन सकता है। उस परमात्मा की दो अवस्थाएँ हैं— प्रथम शरीरी जीवन्मुक्त अवस्था और द्वितीय अशरीरी देह मुक्त अवस्था। प्रथम अवस्था को अर्हन्त और द्वितीय अवस्था को सिद्ध कहा जाता है। अर्हन्त दो प्रकार के होते हैं— तीर्थंकर और सामान्य। तीर्थंकरों के पंचकल्याणक होते हैं और शेष सभी सामान्य अर्हन्त की श्रेणी में आते हैं उन्हें केवली भी कहा जाता है। ये केवली ज्ञानावरण का अत्यन्त क्षय हो जाने के कारण अनन्त ज्ञानी और परम आत्मज्ञानी होते हैं—

तं सुद केवलिमिसिणो भणंति लोयप्पईवयरा। (स. सार. 9)

केवलियों के अनेक भेद होते हैं। उनमें तद्वस्थ केवली वे हैं जो जिस पर्याय में केवल ज्ञान प्राप्त हुआ उसी पर्याय में अवस्थित रहते हैं और सिद्ध जीवों को सिद्ध केवली कहा जाता है (क. पाहुड. 1.311)।

आचार्य अकलंक देव ने ऐसे ही अक्षय परमात्मा को नमन किया है। जो फिर कभी वापिस नहीं आता चाहे कितने ही कल्पकाल बीत जायें या प्रलय हो जाये (काले कल्पशतेऽपि च, र. श्राव. (33)। यह कथन अवतारवाद के खण्डन में दिखाई देता है। आत्मा का स्वभाव परभावों से अत्यन्त भिन्न है। (आत्मस्वभाव परभावभिन्नम्)। यहाँ ज्ञानमूर्ति अशरीरी सिद्ध का वैशिष्ट्य दृष्टव्य है।

समस्त ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अन्तराय इन तीनों को एक साथ एक काल में, सर्वथा निर्मूल करके मेघपटल से निकले हुए सूर्य के समान केवल ज्ञान की किरणों से लोकालोक के प्रकाश के तेरहवें गुणास्थानवर्ती जिन को सयोगी केवली कहा जाता है। (पंचसंग्रह, प्राकृत, 1.27-30; द्रव्यसंग्रह टीका, 13.35)। जिनके पुण्य-पाप के जनक शुभ-अशुभ योग नहीं होते वे अयोगी केवली कहे जाते हैं। सकल कर्मों से मुक्त होने पर वह आत्मा चतुर्दश गुणस्थानवर्ती हो जाता है और सम्पूर्णतः ज्ञानशरीरी बन जाता है। इसी को अकलंक देव ने 'ज्ञानमूर्ति' (पद्य, 1) कहा है। सयोग केवली के चारित्र मोह का उदय नहीं रहता, फिर भी निष्क्रिय आत्मा

के आचरण से त्रियोग का व्यापार चारित्र में दूषण उत्पन्न करता है और अन्तिम समय में उन अघातिया कर्मों का मन्द उदय होने पर चारित्र में दोष का अभाव होने से अयोगी जिन मोक्ष को प्राप्त हो जाते हैं (द्र.सं० टीका, 13)। आचार्य विशुद्ध सागर जी ने इसी अशरीरी सिद्ध पर्याय को कार्य समयसार कहा है। (पृ० 49)। जैनेन्द्र व्याकरण में इसी पर्याय को 'स्वतंत्रतः कर्ता' कहा गया है। सयोग केवली और अयोग केवली प्रत्येक शरीर वाले होते हैं, क्योंकि उनका निगोद जीवों के साथ सम्बन्ध नहीं होता।

भाव मोक्ष, केवल ज्ञान की उत्पत्ति, जीवन्मुक्त और अर्हन्तपद के सभी शब्द समानार्थक हैं। जो अष्टविध कर्मों से रहित हैं, अत्यन्त शान्तिमय हैं, निरंजन हैं, नित्य हैं, आठ गुणों से युक्त हैं, कृतकृत्य हैं, लोक के अग्रभाग में स्थित हैं, वे सिद्ध कहलाते हैं।

अद्भुविहकम्मवियडा सीदीभूदा निरंजणा णिच्चा।

अद्भुगुणा कदकिच्चा लोयग्गणिवासिणो सिद्धा॥ (सि.भ.)

अर्हन्त का तात्पर्य है ऐसा साधक जिसने घातिया कर्मों को नष्ट कर केवल ज्ञान के द्वारा सम्पूर्ण पदार्थों को हस्तामलकवत् देख लिया है— खविदद्यादिकम्मा केवलणाणेण दिट्ठसवट्ठ अरहन्ता णाम (धवला बंधस्वामित्व०, तीर्थकर बंधकारण०)। अर्हन्त 46 मूल गुणों से संयुक्त रहते हैं उत्कृष्टता की अपेक्षा से। अनुत्कृष्टता की अपेक्षा से हीन गुणवाला भी अर्हन्त होता है। चार घातिया कर्मों में मोह प्रबलतम कर्म है। वह केवल ज्ञानादि सम्पूर्ण आत्म गुणों के आविर्भाव को अवरुद्ध कर देता है। साधारणतः मोहनीय ज्ञानावरण और दर्शनावरण कर्मों के विनाश का उपदेश दिया जाता है। यह इसलिए कि शेष सभी कर्मों का विनाश इन तीन कर्मों का नाश होने पर अवश्यम्भावी है।

अन्तरायकर्म का विनाश शेष तीन घातिया कर्मों के विनाश का अविनाभावी है और अन्तराय कर्म का विनाश होने पर अघाति कर्म अष्टबीज के समान निःशक्त हो जाते हैं। संयोग और अयोग दोनों प्रकार के केवली अर्हन्त होते हैं। 46 गुणों में से जो अन्तरंग गुण हैं वे समान रूप से सभी अर्हन्तों में पाये जाते हैं तथा जो बहिरंग (जन्म के दस अतिशय आदि) हैं उनमें हीनाधिकता हो सकती है। यही केवली जब गुणस्थान को पार कर लेते हैं तब उन्हें सिद्ध कहा जाता है। तीर्थकर केवली उपसर्ग

केवली, अन्ततःकृत केवली, मूक केवली आदि तेरहवें गुणस्थानवर्ती होने से अर्हन्त केवली हैं तथा सिद्ध केवली अरहन्त केवली हैं। अर्थात् सिद्ध केवली अवस्था भेद से कथञ्चित् मुक्त हैं और कथञ्चित् अमुक्त है।

इसी तरह का सिद्धान्त अद्वैत वेदान्त में भी मिलता है। तुलनात्मक दृष्टि से हम उस पर भी एक दृष्टिपात कर लें।

वेदान्त दर्शन में मुक्ति के स्वरूप पर विस्तार से विवेचन मिलता है। उसके बीज उपनिषदों में मिलते हैं अवश्य, पर उनका परिवाक शांकर वेदान्त में ही हुआ है। वेदान्त के अनुसार आत्मबोध न होने के कारण व्यक्ति अविद्या के कारण मिथ्या सम्बन्ध स्थापित कर लेता है जो बन्धन के कारण है। बन्धन की यह मूलभूत कारणात्मक प्रवृत्ति की जब निवृत्ति हो जाती है तभी जीव मुक्त कहलाता है। परन्तु बन्धन एवं मोक्ष की व्यवस्था पारमार्थिक न होकर मायिक ही है। शंकराचार्य ने उसे पारमार्थिक, कूटस्थ, नित्य, आकाश के समान सर्वव्यापी, निष्क्रिय, नित्य तृप्त, निरवयव और स्वयं ज्योति स्वभाव कहा है। इसी अशरीरी स्थिति को उन्होंने मोक्ष कहा है (ब्रह्म सूत्र, शा. भा. 1.14)

शांकर वेदान्त में मुक्ति के जीवन्मुक्ति और विदेह मुक्ति ये दो भेद मिलते हैं। अविद्या की निवृत्ति और ब्रह्मबोध होने पर कर्मादि का बन्धन समाप्त हो जाता है पर प्रारब्ध कर्मों का भोग समाप्त नहीं होता और मुक्त पुरुष को जीवन धारण करना ही पड़ता है। उसके समाप्त होते ही उसका देह नष्ट हो जाता है और वह विदेह केवल्य की उपलब्धि करता है। वही विदेह मुक्ति है। जैन परम्परा में इसी को सिद्ध केवली कहा है जो अवस्था भेद से कथञ्चित् मुक्त है और कथञ्चित् अमुक्त है।

शंकराचार्य के इस सिद्धान्त का विरोध उनके उत्तरकालीन अनुयायी आचार्यों ने किया। सर्वाज्ञात्म मुनि तो जीवन्मुक्ति को ही अस्वीकार करते हैं। उनका तर्क है कि तत्त्व साक्षात्कार हो जाने से लेश रूप से भी अविद्या की अनुवृत्ति नहीं हो सकती। विद्यारण्य, मण्डनमिश्र आदि विद्वानों ने भी इस सिद्धान्त पर प्रश्नचिन्ह खड़ा किया है। परन्तु शंकराचार्य अविद्या की पूर्वनिवृत्ति के पक्षधर हैं।

आचार्य भर्तृहरिश्च का दार्शनिक सिद्धान्त भेदाभेदमाद या द्वैताद्वैतवाद अथवा अनेकान्तवाद कहा जाता है। उनके अनुसार परमार्थ में एकत्व भी है और अनेकत्व

भी है। ब्रह्म एक होने पर भी समुद्र तरंग के समान द्वैतमय है, अनेक रूपमय है। अतः वह अनेकान्तात्मक है। इससे ज्ञान एवं कर्म के समुच्चय की स्थापना की गयी है।

रामानुजाचार्य (1037-1137 ई०) के अनुसार जीवचित् एवं जड़ जगत् अचित् है। चित् एवं अचित् से विशिष्ट ब्रह्म ही उनका विशिष्टाद्वैत तत्त्व है। इसमें जीव और जगत् की स्वतंत्र सत्ताएँ हैं।

हम सभी इस तथ्य से सुपरिचित हैं कि 'सिद्ध' को आत्मा का एक विशेषण माना गया है। इसका तात्पर्य है कि सिद्ध ज्ञानावरणादि अष्टकर्मों से विमुक्त अवस्था है। यह विशेषण भट्ट और चार्वाक के सामने रखकर संयोजित किया गया है। भट्ट दर्शन में मुक्ति के स्थान पर स्वर्ग की अवधारणा है। उसकी दृष्टि में आत्मा सदा संसारी ही रहता है, उसकी कभी मुक्ति होती ही नहीं और चार्वाक दर्शन तो जीव के अस्तित्व को ही स्वीकार नहीं करता है। ऐसी स्थिति में वहाँ मुक्ति तत्त्व को स्वीकार करने का कोई अर्थ ही नहीं है। वह तो स्वर्ग के अस्तित्व को भी नहीं स्वीकार करता है। इसके विपरीत जैन दर्शन यह मानता है कि आत्मा का अस्तित्व है। वह जीव है, उपयोगमयी है, अमूर्त है, कर्ता है, स्वदेहपरिमाण है, भोक्ता है, संसारस्थ है, सिद्ध है और स्वभाव से ऊर्ध्वगमन करने वाला है। यह संसारी आत्मा अपने सभी कर्मों को नष्ट कर विशुद्ध स्वभाव को प्राप्त कर सकता है जिसे सिद्ध कहा जाता है। जैन दर्शन में कुछ ऐसे जीव अवश्य माने गये हैं जो कभी सिद्ध नहीं हो सकते। ऐसे जीवों को अभव्य कहा जाता है। इन जीवों की अपेक्षा आत्मा के 'सिद्धत्व' विशेषण का मेल नहीं बैठता। यही उनके साथ समन्वय कहा जा सकता है। किन्तु यह भी ध्यान रखना आवश्यक है कि उन जीवों में सिद्ध बनने की शक्ति तो सन्निहित है ही।

सिद्ध वस्तुतः वे हैं, जो शान्ति रूप जल से संसार रूप अग्नि को बुझाकर निर्वाण रूप अपने स्वभाव में स्थित हो गये हैं। जिनके जन्म, जरा एवं मरण रूप रोग नहीं रहे हैं। उन्हें अशरीरी मुक्तात्मा कहा जाता है। जैसे आग में तपाया हुआ सोना किट्टिका (बहिरंगमल) और कालिमा (अन्तरंगमल) से छूट जाता है। उसी प्रकार ध्यान के द्वारा शरीर तथा दुष्टकर्म (ज्ञानावरणादि, अष्टकर्म रूप बहिरंगमल) एवं भावकर्म (रागद्वेषादि भावरूप अन्तरंगमल) रहित होकर यह जीव सिद्धात्मा बन जाता है। काय के बन्धन से मुक्त हुए ये जीव अकायिक कहलाते हैं—

णिष्वावइतु संसार महगिं परमणिव्वुदिजलेण।

णिष्वादिसभावत्थो गदजाइजरामरणरोगो॥ भाग. आ. 2136

इसी प्रसंग में अरिहन्तों का स्वरूप भी दृष्टव्य है—

णट्ठचदुघइकम्मो दंसण सुहणाणवीरियमइओ।

सुहदेहत्थो अप्पा सुद्धो अरिहो विचित्तिज्जो॥ द्रव्य संग्रह, 50

इय घाइकम्ममुक्को अट्ठारह सवज्जिओ सयलो।

तिहुवण भवणपदीवो देउममं उत्तमं बोहिं॥ भाव पाहुड, 152

शंकराचार्य के अनुसार मुक्ति जीव की ब्रह्मदशा प्राप्ति का नाम है। परन्तु रामानुज मुक्त जीव एवं ब्रह्म की पृथक सत्ता स्वीकार करते हैं। रामानुज वेदान्त में जहाँ मुक्त जीव का चन्द्रादिलोकगमन संगत है वहाँ शंकर वेदान्त में मुक्त जीव की परलोकादि गमनशीलता का पूर्णतया निराकरण किया गया है (ब्र.सू. शं भाष्य 4-37)। शंकराचार्य जीवन्मुक्ति एवं विदेहमुक्ति दोनों के समर्थक हैं जबकि रामानुजाचार्य केवल विदेह मुक्ति को ही स्वीकार करते हैं। इसी तरह मायावाद में भी उनमें मतभेद हैं। शंकर का अद्वैतवाद मायावाद पर ही आधारित है। उनके अनुसार जगत मायावी परमेश्वर की शक्ति है। यह शक्ति सत्-असत् से विलक्षण होने के कारण अनिर्वचनीय एवं मिथ्या है। रामानुजाचार्य का विशिष्टाद्वैतावाद सिद्धान्त मायावाद की ही प्रतिक्रिया से उत्पन्न हुआ है। उन्होंने जगत को सिद्ध किया है। साथ ही भक्ति को ज्ञान एवं कर्म का समन्वय माना है।

इससे अधिक लिखना यहाँ अप्रासंगिक होगा। शंकर का वेदान्त और रामानुजाचार्य का विशिष्टाद्वैतवाद दर्शन का गम्भीर विषय है जो ऊहापोह का विषय हो सकता है पर उसका सीधा सम्बन्ध सिद्धावस्था से अधिक नहीं है। बस इतना ही है कि सिद्ध को कथञ्चित, मुक्त और कथञ्चित अमुक्त रूप वेदान्त की जीवन्मुक्त एवं विदेहमुक्त अवस्थाओं के साथ काफी रूप में समानता दृष्टव्य है।

स्वरूप-देशना में द्रव्य दृष्टि-

पर्याय दृष्टि एक विवेचना

-प्रस्तुति: श्रमण मुनि सुप्रमसागर
(संघस्थ-आचार्य श्री विशुद्ध सागर जी महाराज)

अनेकान्तात्मकं उक्तं कर्म कलंकं शान्तये।

कल्याणकारि तेऽस्माकं, जयेत् नमोऽस्तु शासनं॥ 1

1. जैन धर्म- दर्शन पक्ष-

इस विश्व में या तीन लोक में अगर कोई सनातन धर्म, दर्शन, शासन है तो वह एक मात्र अर्हत जैन दर्शन, नमोऽस्तु शासन है। मात्र दिगम्बर जैन श्रमण संस्कृति ही अनादि अपर्यवसान रूप स्वीकार की है, क्योंकि यहाँ किसी एक ईश्वर को विश्व का कर्ता-हर्ता नहीं स्वीकारा गया और न ही विश्व को एक ब्रह्ममय स्वीकारा, परन्तु फिर भी एक ब्रह्म के अस्तित्व को नहीं नकारा। 'एकको खलु ब्रह्म द्वितीयो नास्ति' उक्ती का भी अनेकान्तमयी जैन दर्शन की स्याद्वाद शैली से कथन हो तब तो ठीक है, परन्तु भिन्न मतावलम्बियों के एकान्त से मान्य नहीं हैं। क्योंकि जैन दर्शन एक ब्रह्म-तत्त्व को तो स्वीकारता है, पर सत् अपेक्षा। प्रत्येक द्रव्य की सत्ता त्रैकालिक है, वही सत् है, सत्य है जिसे संग्रह नय से एक ब्रह्म रूप माना है। अन्य मतावलम्बियों की मान्यता है कि सृष्टि का कर्ता-हर्ता एक ईश्वर (ब्रह्मा) है और शेष जीव उसी के अंश हैं परन्तु ऐसा कदापि नहीं है। हमारे पूर्वाचार्यों ने अष्टसती अष्टसहस्री, प्रमेय-कमल-मार्तण्ड आदि ग्रंथों में कर्तावाद, अवतारवाद एकेश्वरवाद का पुरजोर खण्डन किया है तथा द्रव्य की त्रैकालिक सत्ता का (सत्) मण्डन किया है, वस्तुतः यही द्रव्य-दृष्टि है।

जैन दर्शन में जीव द्रव्य का क्रमिक विकास ही स्वीकार किया है। जो बहिरात्मा है वही अन्तरात्मा बनकर पुरुषार्थ पूर्वक परमात्मा बनता है। उक्त अपेक्षा से वह कर्ता भी है, परन्तु स्व का पर-द्रव्यों का नहीं (परमार्थ दृष्टि से)। सम्प्रति काल तक जो अनंतानंत चौबीसियाँ हुई हैं, उन्होंने किसी सिद्धान्त की स्थापना नहीं की है और न ही वस्तु-व्यवस्था को स्थापित किया है- अपितु वस्तु-व्यवस्था अरु सिद्धान्तों का व्याख्यान किया है, क्योंकि वस्तु व्यवस्था तो त्रयकालिक व्यवस्थित ही है।

अतः परमागम के कर्तृत्व को भी हम अपने इष्ट अरिहंत-सिद्धों को नहीं सौंपते। उनका मात्र उपदेश देने का कर्तृत्वपना मानते हैं, वह भी मात्र व्यवहार से, परन्तु फिर भी 'जो है, सो है'।

प्रत्येक दर्शन, धर्म-पक्ष को स्थापित करने में तर्क, न्याय की भी अपनी अहम-भूमिका होती है। 'नीयते परिच्छिद्यते वस्तु तत्त्वं येन स न्यायः।' ² भ्वादिगण की 'नी' धातु 'ले जाने' के अर्थ में आती है। 'नौका की तरह समुद्र पार ले जा सके वह न्याय है।' 'अन्याय को दूर करना न्याय है।' न्याय का प्रणयन, आश्रय सभी दर्शनों (पक्षों) ने अपने-अपने प्रकार से किया है।

जैन न्याय इन सभी दर्शनों में वैशिष्ट्य को प्राप्त है जिसे सम्प्रति में भगवत् कुन्द-कुन्द, अकलंकादि आचार्यों ने लीपिबद्ध कर पारायण हेतु प्रस्तुत किया। जैन-न्याय अपनी अनेकान्तमयी - स्याद्वादी शैली से प्रख्यातता को प्राप्त हुआ। 'परस्पर-विरोधी अनेक अन्त अर्थात् धर्म विद्यमान होने वाली वस्तु को तद्रूप अपनी दृष्टि में लाना अनेकान्त दृष्टि है। उन्हीं धर्मों में से किसी एक धर्म का सापेक्ष कथन करना कथंचित् अर्थात् किसी अपेक्षा से (किञ्चित्) वस्तु/द्रव्य ऐसी और अन्य अपेक्षा से ऐसी स्याद् अस्ति, स्याद् नास्ति, स्याद् नित्य, स्याद् अनित्य आदि वचन प्रणाली ही स्याद्वाद वाणी-स्याद्वाद शैली है।' जो कि जैन-दर्शन का प्राण है।

2. आचार्य भट्ट अकलंक देव मूल ग्रन्थकर्ता- एक दृष्टिक्षेप

'नमोऽस्तु-शासन' की धर्म-ध्वजा को तीर्थंकर भगवंत, केवली भगवंत, श्रुत केवली भगवंतो के उपरांत हमारे अनेकान्त धुरंधर मनीषी, श्रुतधर आचार्यों ने जयवंत किया। जैन न्याय का लेखनरूप उद्योतन भगवत् कुन्दकुन्द स्वामी, उमास्वामी आदि आचार्यों ने किया। भगवत् समन्तभद्र स्वामी, भगवत् सिद्धसेन स्वामी ने उस बीजरूप वृक्ष को पुष्पित-पल्लवित किया। इसी क्रम में 'सांख्यव्यवहारिक प्रत्यक्ष' का प्रतिपादन करने वाले आचार्य भगवन् भट्ट अकलंक स्वामी वट-वृक्ष फलित हुये, ऐसा कहो कि वे जैन-दर्शन के मेरुदण्ड बन गये।

आचार्य भगवन् भट्ट अकलंक स्वामी ने प्रारम्भ से ही अपना जीवन न्याय एवं जैन-दर्शन के लिए दिया। म्यानखेट नगर के राजा शुभतुंग के मंत्री पुरुषोत्तम हुए, जिनके दो पुत्र, अकलंक-निकलंक हुए। विद्याध्यन की ललक से उन्होंने महाबोधि विद्यालय, जो कि बौद्ध-दर्शन का था, वहीं शास्त्रों का अध्ययन करना प्रारम्भ किया। बौद्धों का विशेष जोर होने से अन्य कोई संस्था / विद्यालय नहीं था जहाँ इच्छित शिक्षा मिलती हो। एक दिन कक्षा में एक दिन शिक्षक सप्तभंगी सिद्धान्त समझा रहे थे, परन्तु वहाँ जैन-दर्शन की पुष्टि न हो जाए, अतः विपरीत कथन कर शिक्षक बाहर चले गये और जैसे ही शिक्षक कक्षा से बाहर गये, अकलंक ने श्याम-पट पर सूत्र शुद्ध कर दिया। देखते ही शिक्षक समझ गये कि यहाँ कोई

स्याद्वादी जैन विद्यार्थी है। जैनियों का विशेष-विरोध होने से अपना नाम, धर्म छुपाकर जैनियों को पढ़ाई करनी पड़ी, अन्यथा धर्म परिवर्तन का भय था। शंका के निरसन के लिए परीक्षा करना प्रारम्भ किया, अरिहंत की प्रतिमा को जमीन पर रखा और उसे लांघने के लिए कहा गया तब दोनों भाईयों ने एक धागा डालकर उसे लांघ लिया। पुनः परीक्षा हुयी- वसतिगृह में रात के समय भयंकर आवाज की गयी, जिससे डरकर उन्होंने भगवान अर्हन्त का नाम लेना प्रारम्भ किया, अतः वह पकड़े गये पर बंदीगृह से भी भाग गये, परन्तु खोज में पीछे से सैनिक भेजे गये। अकलंक छिप गये और निकलक को प्राण खोने पड़े। अनुज के सिर विहीन धड़ को देखकर संकल्प किया कि इन रक्तांबरों को देश से बाहर निकाल कर रहूँगा। यह था 'दृढ़ धम्मो पिय्य धम्मो' ³ धर्म प्रिय होना चाहिए और धर्म में दृढ़ होना चाहिए। भट्ट अकलंक देव ने अपनी प्रतिज्ञा कि पूर्ति के लिए अनेकों शास्त्रार्थ किये, उसमें प्रसिद्ध रतनसंचपुर नगर का है। 'हिमशीतल राजा की रानी मदन सुन्दरी - जिनदेव का रथ निकालना चाहती थी, पर बुद्ध-गुरु का कहना था, जब कोई जैन गुरु उसे शास्त्रार्थ में पराजित करेगा तभी रथ निकल पायेगा। अकलंक स्वामी ने स्वीकार किया- छह माह तक शास्त्रार्थ चला जिन-शासन रक्षक देवी ने स्वप्न में साक्षात्कार देकर वास्तविकता (तारादेवी) का ज्ञान कराया। बौद्ध गुरु ने घट में तारादेवी को स्थापित करके रखा था, तब अकलंक देव ने तारादेवी को प्रताड़ित कर परास्त कर दिया और जैन धर्म की जय जयकार हो गयी। ऐसी अनेक कथायें तार्किक शिरोमणी भट्ट अकलंक स्वामी के जीवन की सुमनावलियां बनी थी। बौद्ध नैय्यायिक हावी होने पर भी भट्ट अकलंक देव ने नमोऽस्तु शासन की ध्वजा को इस प्रकार ऊँचाई दिलाई। वह युग भी 'अकलंक युग' नाम से प्रचलित हो गया और रक्तांबरों को देश छोड़ना पड़ा।⁴

यह जो आचार्य भगवन का न्याय/दर्शन क्षेत्र में विशेष योगदान रहा, उसमें अत्यन्त महत्वपूर्ण 'सांख्यवहारिक प्रत्यक्ष' जिससे इस 'नमोऽस्तु शासन' में उन्हें मेरुदण्ड बना दिया। सिद्धान्त में विरोध ना आये और जन सामान्य का लोक-व्यवहार भी निर्विवाद चलता रहे इसलिए उन्होंने 'सांख्यवहारिक प्रत्यक्ष' का प्रतिपादन किया। यह सिद्धान्त से तो परोक्ष ही है, इन्द्रिय मन से होने के कारण जन-सामान्य को समझाने के लिए उसे प्रत्यक्ष नहीं पर व्यवहारिक-प्रत्यक्ष का रूप दिया। जिसे उत्तरवर्ती सभी आचार्यों ने एक स्वर से स्वीकार किया। "प्रमाणमकलंककस्य....."⁵ कहकर अनंतर काल में भी उनकी अच्छी प्रसिद्धि थी, क्योंकि सिद्धान्त और न्याय के वह विशेष ज्ञाता थे। अपरवर्ती आचार्यों ने अकलंक

देव की प्रशंसा करने के लिए अपनी अविराम लेखनी को बाधित नहीं किया। गुणियों के गुणों का गुणगान गाना ही गुणियों का गुण होता है। जैसे जिनसेन स्वामी ने अपने महापुराण के प्रथम पर्व में 93वें श्लोक में कहा है.....

“भट्टकलंक श्रीपाल पात्रकेसरिणांगुणाः।

विदुषां हृदयारूढा हारायन्तेऽतिनिर्मलाः॥ 93॥”⁶

‘प्रमेयकमल मार्तण्ड’ जैसी टीका जिस पर लिखी गयी हो ऐसे ‘परिक्षामुख’ ग्रंथ के कर्ता आचार्य भगवन् माणिकनदी स्वामी कहते हैं, “यह जो कुछ भी कहा है, वह मैंने अकलंक महोदधी से प्राप्त किया है।” “हे प्रभु! अकलंक स्वामी! आपने आलौकिक कृपा की है कि ऐसे अनोखे ग्रंथों को देकर चले गए। ऐसे भी लोग होते हैं कि लोग जिसका नाम नहीं लेना चाहते। एक वे लोग हैं जो आज हमारे बीच नहीं हैं, परन्तु हमारे बीच से बाहर गये नहीं हैं।” इन शब्दों में ‘स्वरूप देशना’ में भी उल्लेख आया है।

3. स्वरूप संबोधन की भूमिका

सातवीं शताब्दी में हुए आचार्य भट्ट अकलंक देव के टीकात्मक और मूल रूप कई प्रदेय दिये हैं, जैसे आचार्य भगवन् समन्तभद्र स्वामी की ‘आप्तमीमांसा’ पर आठ सौ श्लोक प्रमाण ‘अष्टशती’ टीका की है, जिस पर ‘अष्टसहस्री’ आठ हजार श्लोक प्रमाण टीका आचार्य विद्यानन्द स्वामी ने की है। ‘तत्त्वार्थराजवार्तिक’—तत्त्वार्थ सूत्र पर टीकात्मक सृजन आपके द्वारा ही हुआ है। मूलग्रन्थ के रूप में ‘लघीयस्त्रय’ जिस पर ‘न्यायकुमुदचन्द्र’ नामक टीका अति प्रसिद्ध है तथा ‘न्याय-विनिश्चय’, ‘सिद्धि-विनिश्चय’, ‘प्रमाण-संग्रह’, ‘अकलंक प्रतिष्ठा-पाठ’, ‘बृहस्त्रय’, ‘न्याय-चूलिका’, ‘अकलंक स्तोत्र’ और ‘स्वरूप-संबोधन’ आदि साहित्य का कर्तृत्व का श्रेय आचार्य भगवन् भट्ट अकलंक देव को ही दिया जाता है। ‘स्वरूप संबोधन’, एक अलौकिक रचना है, जिसमें न्याय की अनूठी शैली में अध्यात्म परोसा गया है। आज तक हमने आत्मा को मात्र चेतन ही माना, सिद्धों को मुक्त ही स्वीकारा, पर आत्मा चेतनाचेतनात्मक है, सिद्ध मुक्तामुक्त हैं, यह सुना ही नहीं था, परन्तु आचार्य देव ने अपने लेखन में नवीन पक्ष प्रस्तुत किया। कहावत है, कि जिसके पास जो होता है वह वही देता है।

“..... ददाति यत्तु यस्यास्ति सुप्रसिद्धामिदं वचः॥”⁷

जो स्वयं न्याय चूड़ामणी हों वह भले ही अध्यात्म लिखें परन्तु वह न्याय-शून्य अध्यात्म कैसे लिख पाते? आचार्य भट्ट अकलंक देव मानो अध्यात्म में न्याय मिश्रित

कर अध्यात्म को न्याय से प्रतिपादित कर स्वरूप की प्राप्ति के लिए स्वात्म-संबोधन ही किया है। कृति को पारायन कर ऐसा लगता है, कि प्रकृत-कृति आचार्य भगवन ने अपने आयु के उत्तरकाल में स्वयं को दिग्दर्शन करने के लिए ही प्रणयन की हो, इसलिए यह 'स्वरूप-संबोधन' है। अध्यात्म के रहस्यमयी अर्थों को न्याय-तर्क की कठिन परिभाषाओं को अपनी सामान्य भाषा में लिपिबद्ध किया है। यह ग्रन्थ 25 श्लोक प्रमाण है। कई प्रतियों में एक श्लोक अधिक भी आया है, जिसका उल्लेख देशनाकार ने भी किया है।

4. स्वरूप-देशना और देशनाकार आचार्य विशुद्ध सागर जी महाराज - एक दृष्टि-

अवक्तव्य गूढ़ विद्या (अध्यात्म) पर वक्तव्य देने वाले, 'स्वरूप-संबोधन' के देशनाकार, 'स्वरूप-देशना' के कृतिकार, अध्यात्मयोगी युवा दिग्म्बर-श्रमणाचार्य मम दीक्षा शिक्षा गुरु विशुद्ध सागर जी ने इस कृति पर इन्दौर (म० प्र०) स्थित समवशरण मंदिर में देशना देकर तत्त्व-बुभुत्सु जिवों पर परम उपकार किया है। पूर्व में आचार्य भगवन् ने स्वरूप-संबोधन पर परिशीलन लिखकर तत्त्व जगत् में तत्त्व मनीषा में तत्त्वज्ञ विद्वानों को ही नहीं, अपितु भिन्न दार्शनिक नैयायिकों को भी ग्रंथ की अतल गहराई, मार्मिकता, सिद्धान्त, न्याय आदि पर सोचने पर विवश किया था। जिस पर त्रिदिवसीय राष्ट्रीय विद्वत् संगोष्ठी 25 से 27 जून 2010 तक आयोजित हुयी थी। इतना ही नहीं अपितु एक आचार्य महाराज ने परिशीलन पढ़ कर कहा कि इस छोटे 25 श्लोक प्रमाण ग्रन्थ में भी इतना रहस्य भरा है। यह तो देशनाकार की वाणी का, शैली का कमाल है कि उन्होंने बूढ़-बूढ़ से सिन्धु की अनुभूति करवायी, 'गागर में सागर' भर दिया है। यह 'स्वरूप देशना' आचार्य विशुद्ध सागर जी की 25वीं कृति है। देशनाकार का स्व-पर दर्शन एवं सिद्धान्त का तलस्पशी ज्ञान पूर्व की अन्य कृतियों से ज्ञात होता है, वही छटा इस कृति में झलकती है। देशनाकार अपनी देशना की प्रांजलता से बालक युवा-वृद्ध को भी न्याय-अध्यात्म की कठिन गूढ़ विद्या सहजता से आत्मसात करवा देता है। तार्किक, मार्मिक देशना सबके मन को छू जाती है और श्रोताओं को अपनी गलतियों पर सोचने को मजबूर करा देती है। देशनाकार की अलौकिक शैली आबालवृद्धों को कीलीत सा कर, शांत चित्त होकर देशना का पान करने को प्रेरित कर देती है। शब्द-सौष्टव की लाघवता, योग्य शब्द संयोजना, जगह-जगह पर मार्मिक संबोधन, छंद-अलंकार का प्रयोग देशना को अधिक प्रभावशाली बनाता है। समय-समय पर प्रांतिक-भाषा बुंदेली-ब्रज आदि का प्रयोग भी प्रभावी देशना का

मुख्य पहलु है। भविष्य की समाज को जानकर देशनाकार की युवाओं के प्रति विशेष करुणा-दृष्टि, उनके लिए दिये उद्बोधक वाक्यों से प्रतिभासित होता है। धारा प्रवाह में ग्रन्थ के श्लोकों के पदों का विस्तार दृष्टान्त सहित वक्तृत्वता का आजस्वीपना श्रोताओं को झकझोड़ देता है। ऐसी अनेक विशेषताओं से युक्त प्रस्तुत ग्रन्थ 'स्वरूप देशना' है।

5. द्रव्य दृष्टि-पर्याय दृष्टि-

दृष्टि अर्थात् किसी वस्तु को देखने का नजरिया अपेक्षा या दृष्टिकोण है। वस्तु तो जो है सो है पर व्यक्ति जैसे उसे देखता है, देखना चाहता है वैसे ही उसे वस्तु प्रतीत होती है। यहाँ चाक्षुस दर्शन की बात नहीं है, अपितु चक्षु या इन्द्रिय से रहित अतिन्द्रिय से होने वाले ज्ञान की सोच की चर्चा है। वस्तु में परस्पर विरोधी अनन्त, अन्त अर्थात् धर्म हैं, नित्य, अनित्य, द्वैत, अद्वैत, अस्ति, नास्ति आदि जिस अपेक्षा की प्रधानता होगी वैसे वस्तु को देखना, कहना या जानना ही दृष्टि है। गुण पर्याय से युक्त है वही द्रव्य है और उसकी सत्ता त्रैकालिक है, वही सत् है और सत् का उत्पाद नहीं होता और व्यय भी नहीं होता है, क्योंकि जो होता है वह होता नहीं और जो होता है वह नहीं होता। यह द्रव्य दृष्टि है। जो द्रव्य का, गुण का विकार है वही पर्याय है। जो द्रव्य का प्रतिक्षण स्व-चतुष्टय में चलने वाला परिणमन / परिवर्तन ही तो पर्याय है। जो हो रहा है वह उसीमें ही होता है, जो होता है, होने वाले को (पर्याय को) देखना पर्याय दृष्टि है। परिणमन होते हुए भी, विकार को प्राप्त होते हुए भी द्रव्य अपने स्वभाव रूपी स्व-चतुष्टय को नहीं छोड़ता, अपनी सत्ता नहीं खोता, पूर्व पर्याय का विनाश, उत्तर-पर्याय का प्रादुर्भाव तो हुआ पर वह विनाश निरवयव विनाश नहीं होता वही ध्रुव्य द्रव्य-दृष्टि है। पर हमें कथंचित् चाक्षुस है, उसे देखना पर्याय दृष्टि है, जैसे शरीरादि को देखना, संभालना, सजाना पर्याय दृष्टि है और उसमें विराजमान भगवान्-आत्मा को निहारना द्रव्य दृष्टि है।

(5) I स्वरूप संबोधन के परिपेक्ष में-

द्रव्यदृष्टि - पर्यायदृष्टि दोनों ही द्रव्य को जानने के लिए हैं। द्रव्य-दृष्टि, द्रव्य की सत्ता को, तो पर्याय-दृष्टि द्रव्य का परिणमन दर्शाती है। अशुद्ध में शुद्ध को निहारना द्रव्य-दृष्टि है और शुद्ध में शुद्ध, अशुद्ध में अशुद्ध को दृष्टव्य बनाना पर्याय दृष्टि है। वस्तु तो एक ही होती है, द्रव्य तो वही है, जो कि गुण और पर्याय से रहित न था, न है, न होगा। व्यक्ति की जैसी दृष्टि होगी वैसा द्रव्य दृष्ट्यमान होगा। दृष्टि द्रव्य पर होगी, त्रैकालिक सत्ता पर होगी तो द्रव्य - दृष्टि और दृष्टि उसके

परिणमन पर पर्याय पर होगी तो पर्याय – दृष्टि है। माना की आटा द्रव्य है और कोई पराठा बनाना चाहे, कोई रोटी, कोई पूरी तो उस आटे को सभी पर्यायों में देखना, द्रव्य दृष्टि है और रोटी, पराठा, पूरी रूप निहारना पर्याय दृष्टि है।

मूल ग्रन्थकर्ता, आचार्य भट्ट अकलंक देव मुख्यतः से प्रारम्भ के दस श्लोकों में जीव द्रव्य के स्वभाव का कथन द्रव्य दृष्टि से कर रहे हैं। अनंतर द्रव्य दृष्टि और स्वभाव प्राप्ति के उपाय की प्ररूपना की है। श्लोक क्र० १ में “अक्षयं परमात्मनं”^८ पद देकर आचार्य देव ने द्रव्य की त्रैकालिक सत्ता बतलाकर अवतारवाद कर्तावाद का खण्डन किया है। जीव-द्रव्य का क्रमिक विकास कैसे होता है, यह बताते हुए द्वितीय श्लोक में “क्रमाद्धेतुफलावहः।”^९ चरण देकर द्रव्य दृष्टि का कथन किया है। आचार्य कुन्दकुन्द स्वामी ‘पञ्चास्तिकाय’ जी में लिखते हैं—

“अण्णोण्णं पविसंता देत्ता ओगासमण्णमण्णस्स।

मेलंता वि णिच्चं सग सभावं ण विजंहति॥७॥”^{१०}

द्रव्य परस्पर में मिले होने पर भी, अपने स्वभाव को नहीं छोड़ते। जीव –द्रव्य और द्रव्य कर्मों का संश्लेश संबंध होने पर भी दोनों अपने चतुष्टय को नहीं छोड़ते, पर चतुष्टय को ग्रहण नहीं करते। इस अपेक्षा से आत्मा ग्राह्य – अग्राह्य है। यह बात अकलंक देव बता रहे हैं “यो ग्राह्योऽग्राह्यनाद्यन्तः।”^{११} चरण से श्लोक २ में। पूर्वाचार्यों का कथन “उत्पाद-व्ययध्रौव्य-युक्तं सत्”^{१२} को पुष्ट करते हुए श्लोक क्र० २ में “स्थित्युत्पत्तिव्ययात्मकः।”^{१३} अंतिम पद में द्रव्य की उत्पत्ति और व्यय भूत पर्याय रूप परिणमन और ध्रौव्य अर्थात् स्थिति की त्रैकालिकता से द्रव्य दृष्टि का प्रतिपादन किया। जो जैसा करेगा वैसा ही भरेगा और पुरुषार्थ करेगा तो स्वयं ही उससे मुक्त हो जायेगा, इससे आचार्य देव की द्रव्य-पर्याय दृष्टि श्लोक नौ, दस में दिखती है।

(5) II स्वरूप – देशना के परिपेक्ष में—

‘स्वरूप-देशना’ में देशनाकार आचार्य भगवन् 108 श्री विशुद्ध सागर जी ने द्रव्य दृष्टि-पर्याय दृष्टि की विशद चर्चा की है। यथार्थ है जिसने द्रव्य-दृष्टि को समझकर पर्याय-दृष्टि में लीन होना छोड़ दिया है, ऐसा जिन वीक्षाधारी दिगम्बर योगी ही वास्तविक द्रव्य के स्वरूप का कथन सम्यक् कर सकता है। ‘स्वरूप देशना’ में ऐसी कोई विरली ही देशना होगी जहाँ द्रव्य या पर्याय दृष्टि का व्याख्यान नहीं किया हो। कहीं न कहीं विषय वहीं पहुँचता है, क्योंकि मूलग्रन्थ ही अध्यात्म का है और द्रव्य दृष्टि वास्तव में अध्यात्म नय का ही विषय है। देशना में योगी और भोगी

दोनों को संबोधन करके, वस्तु स्वरूप की व्याख्या देशनाकार ने की है। भोगी द्रव्य दृष्टि को समझेगा तो योगी बनेगा और योगी अपने वैराग्य को दृढ़ करके परम उपादेय द्रव्यदृष्टि में लीन होगा तो वही परमात्मा बन पायेगा। परमात्मा और पर-आत्मा में अन्तर है, पर-आत्मा में और निज-आत्मा में परमात्म स्वरूप को देखना ही द्रव्य दृष्टि है।

**“जो मैं हूँ वह हैं भगवान्, मैं वह हूँ जो हैं भगवान्।
अंतर यही ऊपरी जान, वे विराग यहाँ राग वितान॥”¹⁴**

मात्र राग, विराग का अंतर, मेरे में और आप में कोई अन्तर नहीं है। आप ‘मैं’ तो नहीं बन सकते हो, परन्तु मैं ‘आप’ नियम से बनूँगा। ओहो! यहाँ भगवान् से भी ऐसे बोला जाता है। हे परमेश्वर! मैं आप हूँ शक्ति रूप, आप मैं हूँ लेकिन आपमें ‘मैं’ तो भूतप्रज्ञापन नय है, परन्तु हे स्वामी! मैं ‘मैं’ वर्तमान में हूँ, भविष्य में मैं भी ‘आप’ हो जाऊँगा लेकिन आपमें कोई सामर्थ्य नहीं बची कि आप मैं हो सको। मैं का मतलब मेरे-जैसे। शुद्धात्मा कभी अशुद्ध होती नहीं।¹⁵ यह कहकर देशनाकार ने अवतारवाद का खण्डन कर शुद्ध - द्रव्य की त्रैकालिक सत्ता बतलायी है, द्रव्य-दृष्टि से। जो आटे में पराठा, पूरी, दूध में घी, तिल में तेल को निहारेगा, देखेगा वही तो उसको बना पायेगा, निकाल पायेगा, खा पायेगा। आटे में पराठा, पूरी बनने की शक्ति को नहीं समझ पाया तो पूरी, पराठा बनायेगा कैसे?

6. उदाहरण-

जैन-दर्शन ने क्रमिक विकास का सिद्धान्त प्रतिपादित किया है, जो बहिरात्मा है, वही अन्तरात्मा और वही परमात्मा बनेगा, पुरुषार्थ पूर्वक, द्रव्य दृष्टि को ज्ञातव्य/ज्ञातत्व बनाकर, पर्याय-दृष्टि से विमुख होगा तो ही अन्यथा नहीं। इसलिए देशनाकार अपनी ‘स्वरूप-देशना’ में किसी मिथ्यादृष्टि के प्रति भी अशुभ भाव करने के लिए, भगाने के लिए निषेध करते हुए कहते हैं कि

“कोई मिथ्यादृष्टि भी यहाँ आकर बैठ जाए तो उसके प्रति भी अशुभ-भाव नहीं करना। घोर-मिथ्यादृष्टि भी आकर बैठ जाए उसके प्रति भी अशुभ भाव नहीं करना। ये श्रमण संस्कृति है। ये सिद्ध को सिद्ध नहीं करती, ये असिद्ध को सिद्ध करती है। सूत्र देखो। आप लोग अध्यात्म हो, अध्यात्म नहीं सुन रहे। बीच-बीच में दर्शन चल रहा है। सिद्ध को सिद्ध नहीं करना पड़ता, असिद्ध को सिद्ध करना पड़ता है। ‘प्रसिद्धो धर्मी’¹⁶ धर्मी प्रसिद्ध होता है। असिद्ध सिद्ध होता है, सिद्ध-सिद्ध नहीं होता।..... लेकिन ज्ञानी जो है वह कहेगा कि असिद्ध प्रसिद्ध होना चाहिए। जो

प्रसिद्ध असिद्ध है उसे ही हम प्रसिद्ध सिद्ध कर पायेंगे। घोर—मिथ्यादृष्टि जीव भी बैठा हो तो अशुभ—भाव मत लाना। क्यों? हे ज्ञानी। कच्चा माल नहीं होगा तो पक्का माल कहाँ से आएगा? निमाड़ मालवा में कपास न हो तो आप फैक्टरी में वस्त्र कहाँ से लाओगे? मिथ्यादृष्टि जीव नहीं होंगे, तो सम्यग्दृष्टि जीव कहाँ से लायेंगे? मारीचि नहीं होता, तो महावीर कहाँ से मिलते आपको?" 17

यही बात दोहराते हुए श्लोक तीन की देशना में कहते हैं..... "सुनो, मिथ्यादृष्टि भी यहाँ बैठा हो तो उसे भगाना मत, क्योंकि असिद्ध को सिद्ध करना पड़ता है, सिद्ध को सिद्ध नहीं करना पड़ता है, ये प्रसिद्ध सिद्धान्त है। मिथ्यादृष्टि होंगे तभी तो सम्यग्दृष्टि बनेंगे। मिथ्यादृष्टि जीव ही नहीं बचेगें तो सम्यग्दृष्टि कहाँ से आयेंगे? निगोद में अनन्त सम्यग्दृष्टि है क्या? निगोद में अनन्त मिथ्यादृष्टि हैं, वे ही निकलते हैं। कच्चे माल ही तो यहाँ पक्के बनते हैं। इसलिये भैया! यदि किंचित् भी आपको द्रव्यदृष्टि समझ में आ रही हो तो आज से किसी भी जीव को गाली मत देना। मारीचि की पर्याय को जिसने गाली दी, उसने महावीर को गाली दी कि नहीं दी?" 18

दूध—जल में मिला होने पर भी दोनों अपने स्वभाव को नहीं छोड़ते, और न पर रूप होते हैं। इसी प्रकार आत्मा और कर्मादि पर द्रव्यों का संश्लेश संबंध होने पर भी एक ही समय में आत्मा ग्राह्य और अग्राह्य कैसे हैं? यह समझाते हुए अकलंक देव ने जो श्लोक 2 में चरण दिया "योग्राह्योऽग्राह्यनाद्यन्तः... 11। उसका विस्तार करते हुए स्फटिक और पुष्प का दृष्टान्त दिया है। स्फटिक मणि के सामने जैसा पुष्प आए वैसी दिखना प्रारम्भ कर देती है, लेकिन मणि पुष्परूप नहीं होती। ऐसी ही आत्मा है। आज तक मेरे आत्मद्रव्य ने परद्रव्य को स्वीकार नहीं किया। मैं समझ रहा हूँ कि कर्म, नोकर्म, भावकर्म से बद्ध है आत्मा। इतना होने के उपरान्त भी जैसे स्फटिक के सामने पुष्प आया अवश्य है, लेकिन स्फटिक ने पुष्प को किंचित भी अपने में स्वीकार नहीं किया। उस स्फटिक रूप नहीं है। ये पारदर्शिता का प्रभाव है कि उसमें झलकता है, लेकिन स्पर्शित नहीं हुआ। ऐसे ही आत्मा की पारदर्शिता का स्वभाव है। शुद्ध आत्मा ने कभी भी परद्रव्य को स्पर्शित नहीं किया। इसलिए अग्राह्य है ये आत्मा। स्पर्श, रस, गंध आदि द्रव्यों से खींचा नहीं जा सकता, इसलिए अग्राह्य है; परन्तु निज स्वरूप में लीन होता योगी, इसलिए ग्राह्य है।" 19

आज के भौतिक—विज्ञान के सिद्धान्तों का खण्डन करते हुए द्रव्य की धौव्य—सत्ता को अभिव्यक्त करते हुए वीतराग विज्ञान का सूत्र देते हैं.....

"ऐसे ग्राह्य व अग्राह्य स्वरूप, भगवत् स्वरूप आत्मा अनादि से है और अनन्त काल तक रहेगा।"

ये ध्रुव सूत्र याद रखना कि एक मात्र श्रमण संस्कृति ऐसी है, जो इस पर्याय के परिणामन को तो स्वीकारती है, लेकिन द्रव्य के विनाश को नहीं स्वीकारती।

यह कोई वैज्ञानिक का नियम नहीं है कि ऊर्जा का विनाश नहीं होता। ये सब जैन-दर्शन के सिद्धान्त है परिणामन तो स्वीकार है, लेकिन विनाशक नहीं है। लकड़ी जल गई तो आप कहते हैं कि नष्ट हो गयी, लेकिन ज्ञानी! नष्ट कहाँ हुयी वह राख बन गई। नष्ट तो कोई द्रव्य होता ही नहीं है। असत् का उत्पाद नहीं होता और सत् का विनाश नहीं होता द्रव्य दृष्टि से। यह भी ध्यान रखना सत् का विनाश भी होता है, असत् का उत्पाद भी होता है। पर्याय दृष्टि से जो पर्याय आज यहाँ नहीं है, ये जीव मनुष्य पर्याय को छोड़ता है, देव पर्याय को प्राप्त होता है, तो वर्तमान की मनुष्य पर्याय में देव पर्याय का असत् है और वर्तमान में मनुष्य पर्याय का सत् है। इस पर्याय का जब विनाश होगा तभी देव पर्याय का उत्पाद होगा पर्याय दृष्टि से सत् का विनाश भी होता है, पर्याय दृष्टि से असत् का उत्पाद भी होता है, लेकिन द्रव्य – दृष्टि से सत् का विनाश नहीं होता और असत् का उत्पाद नहीं होता।²¹

द्रव्य-दृष्टि ही ध्रौव्य दृष्टि है यह बतलाते हुए देशनाकार अपने जीवन वृत्त में गुरु विराग सागर जी और दादा गुरु विमल सागर जी महाराज का सोनागिर में हुए मिलन की चर्चा करते हुए कहते हैं..... “विराग सागर महाराज ने कहा आचार्य श्री से, प्रभु! आप तो गुरु हैं, मैं शिष्य हूँ, ऐसा कैसा नियोग है कि गुरु शिष्य की अगवानी करने आएँ? मुझे बहुत शर्म लगती है। गुरुदेव! मुझे क्षमा करें। आप मेरी अगवानी करने क्यों आएँ? उस समय उन वात्सल्य योगी के मुख से मंत्र निकला— विराग सागर! ये आपकी दृष्टि है, ये आपका सोच है कि विमल सागर अपने शिष्य की अगवानी करने आया नहीं। जब मैं अपने आसन पर होता हूँ और विराग सागर वन्दना करते हैं, तब मेरा शिष्य होता है। मैं विराग सागर की अगवानी करने आया ही नहीं हूँ, मैं तो, अरहन्त की मुद्रा की अगवानी करने आया हूँ। ये शब्द मेरे कानों में हमेशा गूँजते हैं। जिसको जिन मुद्रा में अरहन्त नजर आए, वही तो समयसार की आँख है। कुन्दकुन्द स्वामी कहते हैं मुझे तो वनस्पति में भी अशरीरी सिद्ध भगवान् दिखते हैं। वे आँखें किस काँच की होगी जिन्हें निर्ग्रंथों में भी भगवान् न दिखते हों। ज्ञानी! ध्रुव दृष्टि और द्रव्य दृष्टि ये कोई कषायिक भाव नहीं है, कषायिक भाव का उपशमन भाव है।”²²

“घट घाते घट—प्रदिपो न हन्यते.....”²³

आगमोक्त सूत्र को जीवन में यथार्थ उतारने वाले योगियों की चर्चा, आचार्य भगवन् श्री विशुद्ध सागर जी ने समय-समय पर की है, कहा है.....

‘जिनको ज्ञानियो 105 डिग्री बुखार चढ़ा हो, तो आज उस परम तत्त्व को निहारना कि वास्तव में समयसार (द्रव्यानुयोग) की दृष्टि क्या है? भैया! जिस योगी को 105 डिग्री बुखार चढ़ा हो और कटनी के जिनालय में मंदिर की वेदी के सामने श्री जी के सामने कायोत्सर्ग मुद्रा में खड़े होकर सामायिक कर रहे हों। भैया आज कोई और जीव होता तो रजाई के अन्दर कराह रहा होता। 105 डिग्री बुखार में वे आचार्य महावीर कीर्ति महाराज कटनी के जिनालय में श्रीजी के सामने कायोत्सर्ग मुद्रा में जाप कर रहे थे, उस आलौकिक दृश्य को देखो, वहाँ का श्रावक कह रहा था महाराज! मैंने आँखों से देखा। वेदी में एक छेद था, उस छेद में से कालिया नाग निकल पड़ा। उस कालिया नाग ने मुनिराज की अँगुली को पकड़ लिया। ठहर जाओ, यही तो ‘स्वरूप- सम्बोधन’ है। एक अँगुली पकड़े है, एक देख रहा है। ‘समयसार’ ग्रन्थ के अक्षरों को ज्ञेय बनाना बहुत सरल है, परन्तु ज्ञानियो! कालिया नाग के मुख में ऊँगली हो और ऊँगलीवान, ज्ञेय बना रहा हो। तू जिसे भक्षण करना चाहता है, वह भक्ष्य ही नहीं है और तू जिसे पकड़े है, वह मैं नहीं हूँ।”²⁴

‘साँप महावीर कीर्ति महाराज की ऊँगली दबाए था और वे कह रहे थे ‘ज्ञानी! बैर है तो देर क्यों है और बैर नहीं तो अंधेर क्यों? मुझे सामायिक करने दो। तू भी भगवान् आत्मा है और मैं भगवान् बनने जा रहा हूँ।’ भगवान् के चरणों में खड़ा हूँ। इतनी सामर्थ्य जिस दिन आ जाए, उस दिन कहना मेरे अन्दर भेद-विज्ञान जग गया। यदि नहीं आई, तब तक अभ्यास करो।”²⁵

यही भेद-विज्ञान की दृष्टि रखने वाले आचार्य भगवन् विशुद्ध सागर जी महाराज के जीवन में भी करगुवाँजी क्षेत्र में सदृश्य घटना घटी थी, अंतर इतना था, मुनिश्री अपने कक्ष में विश्राम कर रहे थे और कालिया नाग ने ऊँगली दबायी थी। द्रव्य-दृष्टि के धारक मुनिश्री ने भी वही चिन्तवन किया और कालिया चुपचाप निकल गया।

इन समयसार भूत श्रमणों की प्रत्येक क्रिया में होने वाली द्रव्य-दृष्टि, तत्त्व दृष्टि दर्शाते हैं.....

‘भूलाचार ग्रन्थ में लिखा है कि एक श्रमण जब शुद्धि को जाये तब दक्षिण दिशा में खड़े होकर उस मल पिंड को निहारे, ठहरना थोड़ा कुछ रहस्य है आगम के। भोगी भोग को भोगता ही रहता है। विसर्जन करता है, तब भी पाप का बंध करता है

और सेवन करता है, तब भी पाप का बंध करता है। लेकिन धन्य हो श्रमण की दशा को। आहार लेने जाता है तब भी निर्जरा करता है और मल विसर्जन करने जाता है तब भी निर्जरा करता है। योगी में और भोगी में कितना अंतर है? एक रागी मल-विसर्जन करने जा रहा है और एक वैरागी उत्सर्ग समिति का पालन करने जा रहा है। एक भोगी भोजन करने जा रहा है, एक योगी एषणा समिति का पालन कर रहा है। तत्त्वज्ञानी भी भोग भोगते कर्म की निर्जरा करता है। ज्ञानी एषणा समिति का पालन कर रहे हैं, वहाँ पर भी दृष्टि है कि मेरी समिति भंग न हो जाए। मल विसर्जन करने भी गये हैं, वहाँ पर भी निहार रहे हैं कि किसी जीव की विराधना न हो जाए। निशिचद्र भूमि है, स्थिंडिल (प्रासुक) भूमि है और वहाँ खड़े होकर निहार रहे हैं। जिसे निहार रहे हैं, उस बात को सुनो! आप लोग आश्चर्य करोगे कि महाराज! क्या करते हो? मल के पिंड को भी देख रहे हैं एक दृष्टि से।”²⁶

संसार की असारता, संसार में होने वाला संयोग-वियोग का कथन करते हुए कहते हैं..... दूसरे श्लोक के अन्तिम चरण में “स्थित्युत्पत्तिव्ययात्मकः।” 13 पर टिप्पण करते हुए द्रव्य का जो सत् लक्षण है उसका विस्तार करते हुए कहते हैं.....

“यहाँ लगाइये द्रव्य दृष्टि! ज्ञानी जीव का जन्म नहीं जीव का मरण नहीं। पर्याय का वियोग है मरण और पर्याय का संयोग है जन्म। जीव तो त्रैकालिक ध्रुव है। “स्थित्युत्पत्तिव्ययात्मकः।” 13 द्रव्य का लक्षण सत् है, “उत्पाद व्यय ध्रौव्य युक्तं सत्” 12 जो उत्पाद व्यय, ध्रौव्यात्मक हो, वह सत् है। पण्डित जी! ये सब बुजुर्ग क्या बोलते हैं? इन सब बच्चों को क्या आगम की बातें समझ में आयेंगी? यदि समझ में न आती होती, तो एक दिन आते, लेकिन दूसरे दिन नहीं आते। ये है द्रव्य का लक्षण। कूट-कूट कर अन्दर भर लेना। “सद्-द्रव्य लक्षण” 12 द्रव्य का लक्षण सत् है और जो सत् है, वह उत्पाद - व्यय ध्रौव्यात्मक है। जिसमें उत्पाद-व्यय हो रहा है, वही द्रव्य है। लेकिन निहारिए, थोड़ा भीतर जाइये। भाई! वस्तु के स्वभाव को बदल दोगे क्या? नहीं बदल पाओगे। सत्य बोलना। आपके बाल काले हैं कि कर लिए है? भैया! कुछ लगा लिया है न? आप कल्पना करो कि कितना गम्भीर तथ्य है “स्थित्युत्पत्तिव्ययात्मकः।” 13 एक कहते हैं कि मेरा सोच है मैं इन्दौर के सभी लोगों को बदल दूँ, अच्छा करूँ अथवा ये बदलने न पाएँ। लोगों की जो मानसिकता है, उस पर ध्यान दो जरा। जो विषय चल रहा है, यदि यह अंदर चला गया। तो मुझे घर की व्यवस्थाएँ बनवानी नहीं पड़ेगी, अपने आप बनेगी। कोई बुजुर्ग बताओ भैया! तेरे पिताजी ने कभी तुझे दूध पीने को दिया कि नहीं? दिया है। और मुझे यह अच्छे से विश्वास है कि जितना आज के बच्चे पानी पी पाते हैं उतना आपने दूध पिया

होगा, घी खाया होगा। लेकिन दादा फिर मेरी समझ में नहीं आ रहा, तूने इतना दूध पिया, घी खाया, काजू, किशमिश के बघार लगा लगा के तूने सबकुछ किया है, फिर भी तेरे बाल सफेद कैसे हो गये और युवावस्था आपके देखते-देखते समाप्त हो गयी। रोज दर्पण में चेहरा देखा, बेचारा सोचता रहा कि बचा लेगा, लेकिन फिर भी अपने शरीर के लावण्य को बचा कर नहीं रख सका। जब तू अपने शरीर को ही नहीं बचा पाया, इन्हें नहीं रोक पाया बदलने से, तो दुनियां को बदलने का ठेका तूने कब से ले लिया है? क्या बदल जाएगा? क्या बदलने से बचा जाएगा? विश्वास रखना कोई बचा नहीं जाएगा। हम शरीर के उत्पाद-व्यय को तो देख रहे हैं। मेरे तो वर्तमान की पर्याय में दो उत्पाद - व्यय चल रहे हैं। असमान जाति में तो ये शरीर में चल ही रहा है, समान जाति अंतरंग में मेरे निज चैतन्य द्रव्य गुण- पर्याय में भी परिणमन चल रहा है और शरीर में भी परिणमन चल रहा है।”²⁷

पर्याय से पर्यायान्तर होने पर भी द्रव्य - ध्रौव्य है यह कहते हैं.....

“सम्यग्दृष्टि जीव, तत्त्व ज्ञानी जीव शांत रहता है चाहे वियोग हो रहा हो, चाहे संयोग हो रहा हो। ध्रुव आत्मा का विनाश होता नहीं। जो मनुष्य है, वह देव पर्याय को प्राप्त हो गया। मनुष्य पर्याय का व्यय, देव पर्याय का उत्पाद लेकिन जीवत्व ध्रुव है तो अब रोना क्यों?”²⁸

संयोग-वियोग पर्याय का है इसलिए दुःख नहीं करने का निर्देश करते हुए कहते हैं.....

“अरे भैया! रोने की क्या जरूरत है? संयोग था तो सेवा की, वियोग हो गया तो शांति से जियो। संयोग हो जाए तो अच्छे से उसका पालन करो, वियोग हो जाए तो विसर्जन करो, रोने की कोई आवश्यकता नहीं है। त्रस होगा तो त्रसनाली के बाहर नहीं जाएगा। अब बताओ, ज्ञानी! तू रोता क्यों है? आज तक छः द्रव्यों में से एक भी द्रव्य किंचित मात्र भी कम नहीं हुआ, न बढ़ा है।”²⁹

“जो त्रस राशि में था, वह सिद्ध राशि में चला गया और जो निगोद राशि में था वह त्रस राशि में आ गया। जीव कहाँ गया है? ऐसा धैर्य चिंतवन में आ जाए तो घर-घर में आनन्द का अनुभव प्रतिदिन होने लग जायेगा।”³⁰

“जब द्रव्य दृष्टि की वाणी इतना आनन्द देती है, तो द्रव्य-दृष्टि की अनुभूति क्या आनन्द देगी, एक बार लेकर तो देख। ज्ञानी! ‘तू भी भविष्य का भगवान् है।’ इस वाक्य की महिमा है। इस वाक्य ने शेर को श्रावक बना दिया। ‘भो! भावी भगवान्! तू किसे पंजा मार रहा है? तू भविष्य का भगवान् है।’ पंजा छूट गया और

नयनों से नीर टपक गया, 'स्वरूप-संबोधन' हो गया। यही तो स्वरूप-संबोधन है।

³¹ ऐसा कथन कर ग्रन्थ के नाम की यथार्थता को बताया है।

ग्रन्थ के मंगलाचरण पर देशना देते हुए, वस्तु व्यवस्था का कथन करते हुए कहते हैं.....

"ध्यान देना यदि प्राणी वस्तु-स्वतंत्रता पर किंचित भी ध्यान देता तो उसके नयनों में नीर उसी क्षण समाप्त हो जाते। जिसको वस्तु विवक्षा, वस्तु व्यवस्था, वस्तु स्वतंत्रता का भान नहीं है, वही रो रहा है। छह द्रव्यों में आपके द्वारा कोई परिवर्तन नहीं है। जगत् का प्राणी राग-द्वेष ही कर पायेगा, लेकिन वस्तु व्यवस्था को भंग नहीं कर पायेगा। जगत् के कर्ताओं! तुम जगत् का कुछ नहीं कर पाओगे, परन्तु जगत् कर्तृत्व भाव से आप अपनी पर्याय को जरूर विपरीत कर सकते हो। समझ में आ रहा है? राग-द्वेष के ही कर्ता आप हैं, लेकिन वस्तु के कर्ता नहीं हैं।"³²

इस कर्तृत्व का खण्डन करने के लिए पिता-पुत्र का दृष्टान्त देते हुए कहते हैं कि-

जनक सोचता है कि मैं पुत्र का कर्ता हूँ और वह अहं में डूबकर बोलता है कि बेटे मैंने तुम्हें जन्म दिया है। परन्तु पिताश्री! तुम भूल गये हो इस बात को कि जिस क्षण तुमने बेटे को जन्म दिया था, उस क्षण बेटे ने आपको भी जन्म दिया था। यदि बेटे का जन्म नहीं होता तो आपको पिता कहने का अधिकार कौन देता?..... लेकिन अहो जनको! तुम सत्य बताना कि जब तुम अपने जनक नहीं हो, तो पुत्र के जनक कब से हो गए? छः द्रव्य त्रैकालिक हैं, जीव द्रव्य का कोई जनक आज तक हुआ ही नहीं है। पुद्गल द्रव्य का कोई जनक नहीं हुआ। धर्म, अधर्म, आकाश, काल द्रव्य का कोई जनक नहीं हुआ है। ये पारिणामिक भाव में रह रहे हैं, इनका कोई जनक नहीं है। हे जीव! तू अपने रागादिक भावों का जनक तो है, तू अपने शुभाशुभ परिणामों का जनक तो है, परन्तु जिसमें शुभाशुभ परिणाम हो रहे हैं उस परिणामी का जनक तू भी नहीं है। हे जनक! तू वास्तव में जनक किसी का है तो, अपनी काम इच्छाओं का जनक है, तू अपने पुत्र का जनक नहीं है। उपादान दृष्टि से जनक किसके हो? पुत्र पर्याय के जनक हो कि आत्मा में हर्ष-विषाद पर्याय के जनक हो?"³³

इस प्रकार व्याख्यान कर द्रव्य-दृष्टि से द्रव्य की त्रैकालिकता बताई है।

ज्वलन्त सामाजिक समस्या भ्रूण हत्या का कारण द्रव्य-दृष्टि का अभाव और पर्याय दृष्टि में लीनता ही है। समस्या दूर करने के लिए पर्याय-दृष्टि छोड़कर

द्रव्यदृष्टि का आलम्बन लेने का निर्देशन करते हुए कहते हैं कि.....

“पुत्र ने जन्म ले लिया तो हर्षित हो गया और पुत्री ने जन्म ले लिया तो विषाद करने लगा। यही तेरी दृष्टि में खोट है। जो न पुत्र पर्याय को देखे, न पुत्री पर्याय को देखे, मात्र जीव द्रव्य को देखे, वह ज्ञानी कहेगा कि जीव द्रव्य आया है। उसको न हर्ष है, न विषाद है। मध्यस्थ भाव। अक्षयं परमात्मा की प्राप्ति चाहिए है तो क्षय होने वाली पर्याय से परिणति को हटाना पड़ेगा।.....”³⁴

इस पर्याय-दृष्टि की हेयता बताते हुए कहा

“जो उत्पन्न हो रही है, वह पर्याय है। जिसमें मैं हूँ, वह मैं नहीं हूँ। जो मैं हूँ, वह इसमें नहीं है। जो उत्पन्न हो रहा है वह पर्याय है। हो रही है, परन्तु थी नहीं। जो थी नहीं, हुयी है, वह रहेगी नहीं। जो थी नहीं, लेकिन है, वह रहेगी नहीं। जो रहेगी नहीं, उनके पीछे तूने कितनों को कष्ट दिया है? अरे मुमुक्षु! इस शरीर की रक्षा के पीछे अनंत शरीरों के नाश का तू विचार करता है। जैसे वे नश गए, ऐसे ये भी नशेगा। ऐसे नाशवान् के पीछे अनंतों का नाश मत करिये। ‘स्वरूप-संबोधन’ सुन रहे थे। जितने समय जिनालय आते हो, बीच-बीच में शमशान भी चले जाया करो। हे मुमुक्षु! तू जिनमन्दिर आता है, दिन में तीन बार आता है तो एक बार शमशान घाट भी चले जाया करो। जिनालय में भगवान् की भक्ति करने आना और शमशान में वस्तु स्वरूप को समझने जाना। जितने गोरे थे, जितने सुन्दर थे, कितना श्रृंगार किया, कितना शरीर को सजाया, परन्तु सबको वहाँ देखने चले जाना। वहाँ सबका रंग काला ही होता है। राख का ढेर ही मिलेगा। अहो ज्ञानियो! जिसमें राग किया है, उसकी राख होगी। अरे राख के रागियो! तुम्हे राख से ही राग करना था, तो चूल्हे की राख को भी साबुन लगा देता? क्यों भैया! सुन रहे हो, कि झेल रहे हो? बुरा लग रहा है? हे जनक! थोड़ा ठंडा मस्तिष्क करके फिर सुनो। हे जनक! मत देखो पुत्र को अब तुम पुत्र की पर्याय के आप निमित्त कर्ता तो हो सकते हो, परन्तु पुत्र के जीवत्व भाव के आप निमित्त कर्ता भी नहीं हो। “कण-कण स्वतंत्र है। परमाणु-परमाणु स्वतंत्र है।” ज्ञानियो! तीर्थ प्राप्ति के लिए तीर्थों में नहीं जाया जाता। तीर्थ स्वभाव के लिए, शांत उपदेश की खोज के लिए आप तीर्थों में जाते हो। तीर्थ की प्राप्ति तो अंदर ही होगी समझना, भटकना नहीं। किसी ने नदियों में स्नान किया, किसी ने सागरों में स्नान किया। ज्ञानी! शरीर को ही स्वच्छ कर पाओगे, शुद्ध भी नहीं कर पाओगे। ये नदियाँ, सागर, सरिताएँ, सरोवर इस शरीर को स्वच्छ करने के स्थान तो हो सकते हैं, लेकिन शरीर को शुद्ध करने के स्थान नहीं हैं। शरीर शुद्ध तो हो ही नहीं सकता। जिसमें नव मल द्वार स्रवित हो रहे हों, मल-मूत्र का पिण्ड ही हो, वह शुद्ध कैसे हो

सकता है? जो शरीर को शुद्ध करने का विचार रखता है, उससे बड़ा अज्ञ जगत में कोई हो ही नहीं सकता। शरीर को शुद्ध करने का विचार आज से समाप्त कर देना। लौकिक शुद्धि तो हो सकती है, लेकिन परमार्थ भूत कोई शुद्धि शरीर की नहीं होती। देह की शुद्धि हो ही नहीं सकती, क्या करोगे? सुगन्धित श्रेष्ठ से श्रेष्ठ द्रव्य इस शरीर के सम्पर्क मात्र से अपवित्र हो जाते हैं। आप लोग भोजन करते हो, मधुर पेय पीते हो। ओ हो! तनिक भी शर्म नहीं आती। कितने कीमती द्रव्य आप पेट में रख लेते हो और ऐसे द्रव्यों को तुम सुबह छोड़कर आ जाते हो। थोड़ा संभाल कर तो रखा करो। ओ हो! पूरे जीवन की कमाई को झोंक दिया, नष्ट कर दिया! समझो जरा, मैं कुछ कह रहा हूँ।³⁵

पृष्ठ 156 पर, पर्याय में लिपटा जीव किस प्रकार परिणमता है, बताते हैं.....

“सुनते जाओ! जिनके घरों में व्यर्थ की वस्तु रखी हों, सब निकाल देना, अलग कर देना, कहीं ऐसा न हो जाए, इसी राग में कहीं आयु बंध हो गया तो उन्हीं गंदे कपड़ों में कही कीड़ा बनकर न आ जाएं? जो मैं कह रहा हूँ वह आप सब जानते हैं। मैं तो याद दिला रहा हूँ और तो और क्या या तो अपने किसी अंग विशेष पर तुझे राग है, अपने शरीर को ही घूर-घूर के देखता है, यदि बंध अबाधकाल आ गया तो, हे मुमुक्षु! अपने शरीर के उस अंग में आकर कीड़ा बन जायेगा। स्वयं के ही शरीर में कीड़ा बन जाएगा और एक साथ दो पर्यायों का संस्कार होगा। इधर मरण चल रहा था। ओ हो! इतना सुन्दर शरीर अब कब मिलेगा मुझे? मैं कितना सुन्दर था। साँवला था, सुन्दर लगता था न तू? किसे सुना रहा है? तू सुन्दर है, कि ये चर्म सुन्दर है? अहो चर्मकार! तू चमड़े की सुन्दरता को देखकर सुन्दर कह रहा है। परिणति सुन्दर हो जाए तो चमड़े की सुन्दरता की कोई आवश्यकता नहीं। मुमुक्षु! पर्याय के सुन्दर होने से निर्वाण नहीं मिलता, परिणति सुन्दर होने से निर्वाण मिलता है। पर्याय की सुन्दर तो वेश्याएँ भी घूम रही हैं, पर्याय के सुन्दर तो नट-बट कितने घूम रहे हैं, पर्याय के सुन्दर तो अनेक नेता-अभिनेता घूम रहे हैं। पर्याय के सुन्दर होने से मोक्षमार्ग बनता होता, तों पता नहीं आज तक कितने लोग मोक्ष चले गये होते। पर्याय के सुन्दर होने से मोक्ष नहीं होता है, परिणति के सुन्दर होने से मोक्ष होता है। मत लगा देना अपना पूरा जीवन पर्याय की सुन्दरता के लिए। इसलिए आज से भैया! चेहरे को सजाना बंद कर दो। सजा सको तो चेहरेवान को सजाना। जितना चेहरावान बिगड़ा होगा, उतना ही चेहरा सजा होगा। अब तो मैंने आपको बता दिया सबके सामने। जो जितना सज कर आए, बस बिना पूछे समझ जाना। अनुमान ज्ञान भी प्रमाण है। “साधनात् साध्य विज्ञानमनुमानम्।”³⁶ साधन से

साध्य का ज्ञान होता है। धुआँ निकल रहा है, तो अग्नि कहीं होनी चाहिए। जो ज्यादा श्रृंगार करके आ रहा है और भगवान के मन्दिर में भी सजकर आ रहा है, तो तात्पर्य कुछ और है; क्योंकि वीतरागी को तेरे चेहरे की सुन्दरता की आवश्यकता नहीं है, भक्ति की आवश्यकता है।”³⁷

इष्टोपदेश का श्लोक देते हुए योगियों की दृष्टि कह रहे हैं.....

“उस निर्ग्रथ योगी से पूछना, महाराज! आप मल विसर्जन करने जा रहे हो, यह तो समझ में आ गया कि उत्सर्ग समिति का पालन करने जा रहे हो, लेकिन आपने जो यह बात कह दी कि उसको खड़े होकर देखना, ये कोई बात—जैसी नहीं लगती—किसको ज्ञेय बना रहे हो? मल को ज्ञेय बना रहे हो? आपको क्या मालूम किसे ज्ञेय बना रहे हैं? मल के पिण्ड को भी देख रहे हैं और वहाँ वैराग्य की धारा प्रारम्भ हो गयी।

“भवन्ति प्राप्य यत्सङ्गमशुचीनि शुचीन्यपि।

स कायः सन्ततापायस्तदर्थं प्रार्थना वृथा॥१८॥”³⁸

जिसका संयोग पाकर पवित्र पदार्थ भी अपवित्र हो जाते हैं तथा वह शरीर सद विनाशीक बना रहता है, अतः उसको पवित्र करने की कामना व्यर्थ है।”³⁹

पुराण पुरुषों का दृष्टान्त देते हुए समझा रहे हैं कि घर-घर में द्रव्य-दृष्टि लगाने की आवश्यकता है, जिसके प्रति अशुभ भाव-परिणाम हो रहे हैं उसके रूप को नहीं स्वरूप को देखकर स्वरूप-अस्तित्व का चिंतन करने का उपदेश देते हुए कह रहे हैं.....

“ज्ञानी! लंकेश से पूछ लेना कि, हे लंकेश! तूने क्या देखा? तूने क्या देखा? तूने सीता के रूप को ही तो देखा! हे रावण! जिस आँख से तूने सीता के रूप को देखा, उस आँख से सीता के स्वरूप को देख लेता, तो सीता तुझे नारी नहीं दिखती, तुझे सीता में तीन लोक के नाथ भगवान दिखाई देते। जितने बेचारे बैठे हैं यहाँ वे किसी से बंधे नहीं हैं। बेचारे रूपों से बंध गए और रूपातीत को भूल गये, सो रूप बेचारों के बिगड़ गये। क्यों भैया! क्या हो गया? ज्ञानी! किसी कन्या के रूप को तू न देखता, तो आज तेरा ये रूप न होता। आज तेरा यही रूप होता, जो इन लोगों (मुनिराजों) का रूप है। (मुनियों की ओर इशारा करते हुए) कितने भोले हैं? दादा! आप वृद्ध होकर क्यों सभा में हँसी करा लेते हो? आप मेरे से बोल रहे थे कि मैंने रूप को देखा ही नहीं है। हे ज्ञानी! आँखों से देखने नहीं गया था, परन्तु तूने और गहरा देखा। मन से देख रहा था। देखा कि नहीं देखा? रूप को ही तो देखा। जितने आज तक बंधे हैं,

सब रूप से ही बंधे हैं और जितने आज तक छूटे हैं, सब स्वरूप से ही छूटे हैं। क्या देखा वज्र कुमार ने? रूप ही तो देखा। जब रूप निहारा था, उसमें स्वरूप-देख लेता, रूपातीत पर लक्ष्य चला जाता, तो मोक्षमार्ग में गमन हो ही जाता।⁴⁰

विक्रमादित्य की द्रव्य-दृष्टि बताते हुए कहा है कि.....

“दृष्टि हो तो ज्ञानी विक्रमादित्य जैसी हो। रहस्य की बात। सम्राट विक्रमादित्य पर एक स्त्री मोहित हो गयी। उसने उसी भाषा का प्रयोग किया। सीधे तो नहीं बोल सकी। क्या बोली? स्वामी मेरी तीव्र भावना है कि आप जैसे वीर सुभट बालक को जन्म दूँ। राजा विक्रमादित्य समझ गये कि इसकी दृष्टि खोटी हो गयी है। सम्राट धीरे से झुकता है और चरण पकड़ लेता है, कहता है ‘माँ! मैं ही तेरा बालक हूँ। बालक होने में देर लगेगी मैं आज से ही तेरा बालक हूँ। उस माँ की आँखों से आँसू टपकने लगे। हाय! मेरे पापी मन को, क्या सोच रही थी? और धन्य हो इस वीर पुरुष को, जो हर नारी को माँ कहता हो। ये भारत भूमि ऐसे ही महान नहीं है। ऐसे महान जीवों को अपनी छाती पर, गोदी पर रख चुकी है।’⁴¹

छोटे-छोटे सत्य दृष्टान्तों के माध्यम से आचार्य श्री ने द्रव्य-दृष्टि, पर्याय-दृष्टि की चर्चा देशना में सर्वत्र की है। तत्त्वज्ञ - व्यक्ति को प्रत्येक दृश्य में तत्त्व दृष्टि दिखाई देती है। इन दृष्टान्तों के द्वारा जन-सामान्य तक तत्त्व-दृष्टि पहुँचाने का प्रयास किया है। पृष्ठ 376 पर अमरावती चातुर्मास की घटना बताते हैं...

“अमरावती चातुर्मास में, हम लोग शुद्धि को जा रहे थे। एक महाराष्ट्रियन अजैन छोटा सा बालक अपने घर द्वार पर खड़ा था। मेरा पैर एक क्षण को रूक गया। वह छोटा सा 5 वर्ष का बच्चा होगा। वो मराठी में कहता है - आई आई लवकर ये जैनियों के भगवान् जा रहे हैं। एक क्षण को शरीर रोमांचित हो गया। यह बालक क्या बोल रहा है? यह ‘साधु’ नहीं बोल रहा है। जब इसको जैनियों के भगवान् दिखाई देते हैं, तो जो भगवान् की मुद्रा में है, उनको तो सिद्ध ही अपने आपको स्वीकारना चाहिए।

जैनियों के भगवान् जा रहे हैं, पाँच वर्ष के बालक को किसने सिखा दिया? अहो जैनियों! किसी को तो पत्थरों में भगवान् खोजने पड़ते हैं, तुम्हारे सामने तो भगवान् होते हैं। तब भी भैया! किसी को भगवान् न दिखें तो ‘पद्मनन्दि पंचविंशतिका’ में पद्मनन्दि स्वामी कहते हैं- उसकी आँखें पत्थर की ही हैं। जैसे पाषाण की मूर्ति में हम चतुर्थ काल के अरहन्तों की कल्पना करके उनकी पूजा आराधना करके, उसी फल को प्राप्त होओगे।⁴²

व्यक्ति की दृष्टि ही बन्ध-निर्जरा का कारण है। दृष्टि जीव द्रव्य पर है तो निर्जरा है, अजीव-पर्याय पर हो तो बंध नियम से है। आचार्य भगवन् कुन्दकुन्द स्वामी समयसार जी में कहते हैं.....

“ जीवेव अजीवे वा संपदि समयमिह जत्थ उवजुत्तो।

तत्थेव बंधमोक्खो हवदि समासेण णिदिदट्ठो॥”⁴³

जीव अजीव के दृष्टान्त पूर्वक हमारी दृष्टि में बन्ध-मोक्ष निहीत है, यह आचार्य भगवन् कहते हैं। अगर द्रव्य पर दृष्टि है, तो द्रव्य दृष्टि नहीं प्राप्त कर पाओगे, भगवान् नहीं बन पाओगे। उपयोग की, दृष्टि की निर्मलता कैसे हो जिससे हम भी निर्बन्ध हो सकें? यह करुणा वश हमें बताते हुए कहते हैं कि

“एक पिता ने बेटे से कहा कि मैं दर्शन करके आता हूँ, तू साग लेके आना। वो दर्शन करने चला गया। बेटे ने क्या किया कि उस साग मण्डी में कूँजड़े ने कहा कि दस का नोट, तो बेटे ने दस का नोट दे दिया और तुरन्त साग लेके आ गया। पिताजी जब दर्शन करके आए, तो पूछता है – क्यों तू क्या करके आया? बोला साग लेकर आया हूँ। कितना नोट दिया? बोला- दस माँगा, सो दे दिया बनिया का लड़का। तू पागल है। मुझे देखना, मैं कैसे साग लेके आता हूँ। दूसरे दिन वह कूँजड़े के यहाँ जाता है। कूँजड़ा कहता है दस रुपये। नौ दूँगा। पन्द्रह मिनट उसने कूँजड़े से लड़ने में लगा दिये और नौ देके मुस्करा के घर आकर कहता है बेटे! देख मैं नौ देके आया हूँ। बेटा था समझदार वो मेरे साथ रह चुका था। पिताजी! आप पागल। अब शास्त्रीजी का चेहरा बिगड़ गया कि बेटा मुझे ही पागल कह रहा है। हाँ आप पागल नहीं तो क्या हैं? आप इतने बड़े पंडित के लड़के और स्वयं पंडित हो करके आपको ये मालूम नहीं था? एक रुपये के राग में तीन लोक के नाथ को छोड़ करके सुबह से दर्शन करने नहीं गया, कूँजड़े को देखने गया। फिर भगवान् छोड़े और क्या? जब आप कूँजड़े से बोल रहे थे कि मैं दस नहीं नौ दूँगा, उस समय वीर्यान्तराय कर्म का क्षयोपशम नष्ट हो रहा था कि नहीं? पिताजी! उस समय आपका ज्ञानावरणीय कर्म का क्षयोपशम नष्ट हो रहा था कि नहीं? आयुकर्म क्षय हो रहा था कि नहीं? आप क्या ज्ञानी निकले? इतनी सारी सम्पत्ति एक रुपये के पीछे देके आ गये, मैंने एक नोट पटका और अपनी रक्षा करके आ गया, बताओ ज्ञानी कौन है? एक सिक्के के पीछे ऑटो रिक्शा वाले से लड़ रहा था। एक सिक्के के पीछे भाजी वाले से लड़ रहा था, फिर मालूम चला कि अंतिम श्वास का समय आ गया। डॉक्टर से कहता है बेटा, कि तुम जितने लाख हजार रखवाना सो रखवा लो। 5 मिनट के लिए 5 लाख देने को तैयार। धिक्कार तुम्हारी बुद्धि के लिए। अब समझ जाओ कि मैं क्या कह रहा हूँ?

नहीं समझे! अब लड़ोगे कूँजड़ों के यहाँ जाकर?" 44

“यज्जीवस्योपकाराय, तद्देहस्यापकारकम्।

यद् देहस्योपकाराय, तज्जीवस्यापकारकम्॥” 45

जो देह का उपकार करना चाहता है, वह जीव का अपकार करता है और जीव के उपकार से देह का अपकार नियम से होगा। आज जो समाज में, देश में विपरीतता प्रवेश कर रही है, रक्त देने को 'रक्तदान' संज्ञा दी जा रही है। उसकी अनुचितता दर्शाने के लिए 'रक्तदान' निषेध करते हुए कहा है, जब कोई प्रश्न करता है, रक्त देने से व्यक्ति की मृत्यु टल जाती है, अगर वह बच जायेगा, तो धर्म करेगा? धर्म करने के लिए अधर्म मत करना। ऐसा कहकर, रक्तदान से जीव का अपकार नियम से है, जिसकी पर्याय दृष्टि है वही देह का उपकार करेगा और जीव का अपकार नियम से होगा ही। पुण्य रूपी/आयु रूपी जल मात्र चुल्लुभर है, चाहे देह रूप बगीचे को खिला दो या जीव रूपी बगीचा को सिद्ध अवस्था रूप फलित करा देना। जीव का उपकार द्रव्य-दृष्टि है, शरीर का उपकार पर्याय-दृष्टि है। पृष्ठ 384 में गजरथ के दृष्टान्त से कहते हैं.....

“बुन्देलखण्ड में गजरथ की परम्परा है। पहले व्यक्तिगत गजरथ चलते थे। कोई सेठ बनता था, कोई सिंघई बनता था। और भैया! खाने को घी मले न हो, परन्तु गजरथ के चक्के में घी डालेगा, कहीं चीक न आए। अन्यथा चीके सिंघई बन जाएँगे। बड़े भैया ने गजरथ चलवाया, लेकिन क्या करें? मन के मुटाव बड़े विचित्र होते हैं। छोटे भैया को नहीं बुलाया। भैया ध्यान से सुनना। इतनी छोटी सी बात हमारी मानकर चलना। एक बार बेटे को चाहे खाने को न मिले रात को सहला करके पुचकार कर सुला देना, परन्तु भैया को भूखा मत सोने देना। कारण क्या है? हे ज्ञानी! छोटा भैया न होता तो तुझे बड़ा भैया किसने बनाया? इन छोटे भाईयों को भूल मत जाना। गजरथ चलवाया, परन्तु छोटे भैया को नहीं बुलाया और क्या किया? साले-साहब को उपरिम मंजिल में अपने बगल में बिठाया। अब क्या करें? देवी का डर लगता था? घूमते-घामते पत्रकार महोदय छोटे भैया के पास पहुँच गया। कहता है धीरे से सिंघई जी-सिंघई जी। रथ अच्छे चल गए। भैया तो रथ की एक भी फेरी में गया नहीं, परन्तु सगा भैया घर में बैठा 'सिंघई' हो गया और सातों फेरियों में साला बगल में बैठा रहा, उसको किसी ने 'सिंघई' नहीं कहा। ध्यान दो सातों फेरियों में साला साथ में रहा, लेकिन सिंघई नहीं कहलाया, लेकिन घर में बैठा सगा भैया रथ की एक भी फेरी में नहीं गया, फिर भी सिंघई बन गया।

भैया! ये है साला (शरीर की ओर इशारा करके) सातों फेरियों में साथ में घूमेगा। ये पर्याय तेरे साथ चौबीस घंटे घूम रही है, विश्वास रखना, फिर भी सिंघई नहीं बन पाएगी। सिंघई जब भी बनेगा, वह आत्म-भैया ही बनेगा। उसे मत भूल जाना।”⁴⁴

दुग्ध में घी को देखना द्रव्य-दृष्टि है, पर दूध घी नहीं है। दुग्ध घी है, तिल तेल ही है, तो फिर व्यर्थ का पुरुषार्थ क्यों? दूध में तिल में ही पूड़ीयाँ सेंक लेना चाहिए, पर ऐसा नहीं होता। देशनाकार उसे अज्ञानी कहकर एकान्तवादी पर कटाक्ष करते हुए कहते हैं कि

“..... ये अज्ञानी लोग हैं जो स्वभाव की जगह द्रव्य-दृष्टि को द्रव्य ही मान बैठे हैं।”⁴⁵

अज्ञानियों ने अशुद्ध पर्याय में अव्यक्त शुद्ध द्रव्य को ही पूजना प्रारम्भ किया, पूजा तो द्रव्य की होती है, न की द्रव्य - दृष्टि की। द्रव्य दृष्टि तो द्रव्य निक्षेप है, भूत-भविष्य की पर्याय की अपेक्षा है, वर्तमान में व्यक्त रूप नहीं है भगवत्ता, पर शक्ति रूप अवश्य है। जो पूजा हम करते हैं वह भाव निक्षेप से है। पूज्य तो शुद्ध द्रव्य है, शुद्ध पर्याय सहित, व्यक्त रूप।

पृष्ठ 388 पर वाचना काल में, आशीर्वादार्थ पधारे दीक्षार्थियों को लक्षित करते हुए द्रव्य-दृष्टि को कहते हैं.....

“ज्ञानी! जिनकी शवयात्रा निकलने वाली होती है, उनका तो आपने अनेक बार सम्मान किया, परन्तु जिनकी शिवयात्रा चलने वाली हो, उनके सम्मान आज तुम कर रहे हो। इसे भैया लोगों का, बहनों का सम्मान तुम नहीं समझना। ये हैं भावी आर्यिकारें, भावी मुनिराज। अरे! भावी मुनिराज आर्यिकारें क्या, द्रव्य-दृष्टि से देखो तो ये भावी अरहंत-सिद्ध भगवान हैं।”⁴⁶

जीव ने संज्ञावान् संज्ञान को नहीं समझा, संज्ञान की संज्ञा को संज्ञान से भिन्न नहीं जाना, इसलिए पंच परावर्तन कर रहा है। संज्ञा भिन्न है, संज्ञान भिन्न है। संज्ञान तो द्रव्य है, संज्ञा पर्याय का नाम है। जिसने संज्ञान के वास्तविक स्वरूप को जान लिया है वही ‘ज्ञानी’ संज्ञा को समझ पायेगा, द्रव्य-दृष्टि को समझ पायेगा। पृष्ठ 374 पर आचार्य श्री कहते हैं कि

“पुण्य के द्रव्य का भोग तो जगत् में बहुत सारे लोग करना जानते हैं, परन्तु पुण्य के द्रव्य को पुण्य-पाप से रहित करने में जो लगा देता है, उसका नाम ‘ज्ञानी’ है। ज्ञानी! द्रव्य तो हर व्यक्ति को मिलता है, परन्तु द्रव्य को द्रव्य-दृष्टि में लगा दे उसका नाम ‘ज्ञानी’ है।⁴⁹

द्रव्य-दृष्टि, पर्याय-दृष्टि में द्रव्य-दृष्टि ही श्रेष्ठ है, जो मोक्षसुख दिला देगी और पर्याय-दृष्टि नीचे ही भेजेगी, इस भाव को व्यक्त करते हुए कहते हैं कि.....

“चौदहवें गुणस्थान में विराजे सकल परमात्मा वे ‘परा’ आत्मा हैं और आप सब ‘अपर’ आत्मा हो। थोड़ा तो समझो, मैं क्या कह रहा हूँ। परा अर्थात् उत्कृष्ट। वे उत्कृष्ट आत्मा हैं, इसलिए परमात्मा हैं और आप सब अपर आत्मा हो, हीन आत्मा हो। जानियो! परमात्मा बनना है तो परिणामों को परा करो, परिणामों को श्रेष्ठ करो। पर्याय-दृष्टि से दृष्टि मोड़ लो, द्रव्य-दृष्टि पर दृष्टि करलो। धन्य हैं परमात्मा।

“पर्याय दृष्टि नरकेश्वरा, द्रव्यदृष्टि महेश्वरा।”⁵⁰

जितने नरकेश्वर बनने वाले हैं, वे सब पर्याय में लिप्त मिलेंगे, मिलने ही चाहिए। जिनको नरकेश्वर बनना हो वे सब पर्याय में लिप्त हो जाओ। अपनी पर्याय में लिप्त हो जाओ और पर की पर्याय में लिप्त हो जाओ बड़े आनन्द के साथ, प्रेम से। बिना किसी रोक-टोक के सहज टपक जाओगे, नरकेश्वर बन जाओगे। यदि परमेश्वर बनना है तो द्रव्य-दृष्टि लानी पड़ेगी। ये धन-पैसे वाली नहीं द्रव्य-दृष्टि की बात करो।⁵¹

7. उपसंहार-

उद्धरित अनेक उद्धहरणों से विषय की प्ररूपना को विराम देते हुए उपसंहार रूप इतना ही सार है, कि “संसार सागर से तरना हो तो प्रत्येक मुमुक्षु को पर्याय-दृष्टि से हटकर ‘मैं पुरान हूँ, पुमान हूँ। मैं अजन्मा हूँ, अहेतुक हूँ, इस परम द्रव्य-दृष्टि की प्राप्ति के लिए उद्यम करना होगा। आलेख मुख्यतः सात खण्डों से प्रवाहित हुआ है।

- (1) जैन धर्म - दर्शन पक्ष
- (2) आचार्य भट्ट अकलंक देव मूल ग्रन्थकर्ता- एक दृष्टिक्षेप
- (3) स्वरूप संबोधन की भूमिका
- (4) स्वरूप देशना और देशनाकार आचार्य विशुद्ध सागर जी महाराज- दृष्टि
- (5) द्रव्य-दृष्टि, पर्याय-दृष्टि-

(1) स्वरूप-संबोधन के परिपेक्ष में...

(2) स्वरूप-देशना के परिपेक्ष में...

- (6) उद्धहरण
- (7) उपसंहार

अध्यात्मिक न्याय ग्रन्थ 'स्वरूप संबोधन' के सूत्रों पर श्लोकों पर देशनाकार ने अपनी प्ररूपना में कहीं अन्याय किया हो ऐसा नहीं लगता। आगमोक्त न्याययुक्त कथन ही देशना में किया गया है। स्वरूप-देशना में द्रव्य-दृष्टि की उपादेयता और पर्याय-दृष्टि की हेयता सर्वत्र निहित है, पर फिर भी कुछ उद्धरण जिसे विशेष समझा उसे अपनी मंद-बुद्धि से यहाँ प्रस्तुत किया है। अपनी अल्पज्ञता प्रगट करने के लिए भी शब्दों की अपूर्णता/कमी है। सिद्धान्त न्याय-दर्शन, भाषा का सौष्ठव, साहित्यिक भाषा की परिपूर्णता के अभाव में जो कुछ त्रुटियाँ हो गयी हो, वह मेरी हैं और जो अच्छी बात है वह आचार्य श्री का ही है। आचार्य श्री की देशना पर आलेख लिखना कुछ कठिन इसलिए लगा, जो भी मैं लिखूँगा तो वह उनसे ही प्राप्त होने से मेरा कुछ भी नहीं है, हिन्दी भाषा का स्त्रोत भी आचार्य भगवन् ही हैं। मात्र 'स्वरूप-देशना' आदि उनकी कृतियों से और देशना के श्रुत-पान से प्राप्त, कागज पर उतारने का कर्ता हूँ अन्य का नहीं। जो भट्ट अकलंक देव ने लिखा वही आचार्य भगवन् विशुद्ध सागर जी ने कहा वही मैंने भी यहाँ अपनी कमजोर भाषा में, गुरु भक्ति से प्रेरित होकर लिखा है। समय-समय पर संघस्थ श्रमणों का वात्सल्य और सहयोग लेकर- आलेख लिखने का प्रथम प्रयास किया है, कमतारतार्ये क्षम्य हों।

इस पंचमकाल में स्वदीक्षित शिष्यों को भी अरिहंत का भेष धारण करने वाले, भावी भगवन्त् जानकर प्रतिदिन प्रति - नमोऽस्तु करने वाले, ध्रुव द्रव्य-दृष्टि के धारक आगमोक्त चर्या के धनी, आचार्य भगवन् विशुद्ध सागर जी की कृति 'स्वरूप-देशना' पर आलेख लिखने के भाव होने का हेतु, इस ग्रन्थ के प्रति विशेष लगाव कहो या अनुराग कहो, क्योंकि इस नर पर्याय में अगर कोई जैनागम का श्लोक कण्ठस्थ किया है तो इस ग्रन्थ का मंगलाचरण 'मुक्तामुक्तैकरूपो यः.....' ही है। जब संघ सोलापुर चातुर्मास के उपरान्त महाराष्ट्र की यात्रा में था, तब विहार में मुनिश्री विशुद्ध सागर जी महाराज ने संघ के साथ-साथ एक श्रावक गृहस्थ को पढ़ाया था, कण्ठस्थ करवाया था, वही मेरे लिए मोक्षमार्ग का सोपान बना, 'स्वरूप-देशना' से स्वरूप-सम्बोधन हुआ।

इति अलम्

परिशिष्ट:-

1. स्वरचित
2. वही
3. मूलाचार

4. कथा-नेमिदत्त आराधना कोष
5. जिन श्लोकार्णव
6. महापुराण (आदि पुराण पूर्व 1, श्लोक 52)
7. इष्टोपदेश (श्लोक 23)
8. स्वरूप - सम्बोधन (श्लोक 9)
9. स्वरूप - सम्बोधन (श्लोक 2)
10. पञ्चास्तिकाय (श्लोक 7)
11. स्वरूप - सम्बोधन (श्लोक 2)
12. तत्त्वार्थ सूत्र
13. स्वरूप - सम्बोधन (श्लोक 2)
- 14.
15. स्वरूप-देशना (पृ० 378)
16. परीक्षामुख सूत्र (आ० 3 सूत्र 23)
17. स्वरूप - देशना (पृ० 28-29)
18. स्वरूप - देशना (पृ० 74)
19. स्वरूप - देशना (पृ० 58-59)
20. स्वयंभू स्तोत्र
21. स्वरूप - देशना (पृ० 59)
22. स्वरूप - देशना (पृ० 53)
23. समयसार, (आत्मख्याति
24. स्वरूप - देशना (पृ० 85)
25. स्वरूप - देशना (पृ० 95)
26. स्वरूप - देशना (पृ० 162)
27. स्वरूप - देशना (पृ० 70-71)
28. स्वरूप - देशना (पृ० 72)

29. स्वरूप – देशना (पृ० 72)
30. स्वरूप – देशना (पृ० 73)
31. स्वरूप – देशना (पृ० 97)
32. स्वरूप – देशना (पृ० 9, 10)
33. स्वरूप – देशना (पृ० 11)
34. स्वरूप – देशना (पृ० 11, 12)
35. स्वरूप – देशना (पृ० 161, 162)
36. परीक्षामुख सूत्र (अ-3, सू-10)
37. स्वरूप – देशना (पृ० 157)
38. इष्टोपदेश (श्लोक-18)
39. स्वरूप – देशना (पृ० 164)
40. स्वरूप – देशना (पृ० 319)
41. स्वरूप – देशना (पृ० 169)
42. स्वरूप – देशना (पृ० 396)
43. समयसार
44. स्वरूप – देशना (पृ० 34-35)
45. इष्टोपदेश (श्लोक-19)
46. स्वरूप – देशना (पृ० 384)
47. स्वरूप – देशना (पृ० 29)
48. स्वरूप – देशना (पृ० 388)
49. स्वरूप – देशना (पृ० 394)
50. स्वरूप – देशना (पृ० 394)
51. स्वरूप – देशना

स्वरूप-देशना - सूक्तियाँ एवं नीति वाक्य

पं० (डा०) रमेशचन्द्र जैन
मुशर, ग्वालियर

मुक्तामुक्तैकरूपो यः, कर्मभिःसंविदादिना।
अक्षयंपरमात्मानं, ज्ञानमूर्तिं नमामि तम्॥१॥

आचार्य श्री भद्र अकलंक देव द्वारा विरचित प्रस्तुत ग्रन्थ में इस मंगलाचरण के माध्यम से मुक्त और अमुक्त रूप अविनाशी ज्ञानमूर्ति परमात्मा को नमन किया है।

स्वःस्वं स्वेन स्थितं, स्वस्मै स्वस्मात्स्वस्याविनश्वरम्।
स्वस्मिन् ध्यात्वा लभेत, स्वोत्थमानन्दामृतं पद्म॥२५॥

और इस अन्तिम श्लोक में श्री भद्र अकलंकदेव ने निज आत्मा अपने स्वरूप को सात विभक्तियों के ध्यान से प्राप्त कर सकती हैं। यह समझाया है।

परम पूज्य आचार्य श्री विशुद्ध सागर जी महाराज ने प्रस्तुत ग्रन्थ पर एक सामान्य ज्ञानी एवं भव्य जीवों के कल्याण हेतु अनेक सूक्तियों एवं नीति वाक्यों के माध्यम से अत्यन्त सरल भाषा में देशना की है जो बार-बार चिन्तन - मनन एवं स्वाध्याय योग्य है। गुरुदेव का प्राणी मात्र पर यह बड़ा उपकार है।

सूक्तियाँ-

1. जैन योगी वातरसायन है अलौकिक है।
2. 'प्रियधम्मो, दृढ धम्मो'।
3. जिनागम में चार कथाएँ प्रसिद्ध हैं-- (1) आक्षेपिणी (2) निक्षेपिणी (3) संवेगिणी (4) निर्वेदिनी।
4. नारियल के वृक्ष में कोई पानी भरने नहीं आता। अपने आप आता है पानी।
5. तर्क शास्त्र से जो श्रद्धा बनेगी वह टूट नहीं पायेगी।
6. 'भवत्यभद्रोऽपि समन्तभद्रः' प्रभो आपके पादमूल में अभद्र भी आता है, तो वह समन्तभद्र हो जाता है।
7. 'आत्मस्वभावं परभाव भिन्नं'
8. छः द्रव्य त्रैकालिक हैं, जीव द्रव्य का कोई जनक आज तक हुआ ही नहीं।
9. कण-कण स्वतंत्र है, परमाणु-परमाणु स्वतंत्र है। इस सिद्धांत को बोलने

वाला कोई है तो ज्ञानियो! एक मात्र जैन दर्शन ही है।

10. जो वस्तु स्वरूप है, वह मिश्र में भी अमिश्र है।
11. एक में अनेकत्व है, अनेकत्व में एकत्व है, यही स्याद्वाद है।
12. इन शब्द वर्गणाओं का दुरुपयोग नहीं करना। सम्हाल – सम्हाल कर रखना।
13. 'मूर्तमिव मोक्षमार्गमवाग्विसर्गं वपुषा निरूपयन्तं' निर्ग्रन्थ मुनि का शरीर बिना बोले ही मोक्षमार्ग का उपदेश देता है।
14. सम्यग्दृष्टि जीव भगवान की पूजा करने नहीं आता, पूज्य होने के लिए आता है।
15. 'अक्षयं परमात्मानं' मैं उस परमात्मा की वन्दना करता हूँ जो अक्षय है।
16. 'न पूजयाऽर्थस्त्वथि वीतरागे, न निन्दयानाथ विवांत – वैरे।' हे प्रभु आपकी कोई निन्दा करे, तो बैर धारण नहीं करते हो और कोई आपकी पूजा करे तो आप प्रसन्न नहीं होते हो, तो मैं आपकी पूजा क्यों करूँ?

तथापि ते पुण्य-गुण-स्मृतिर्नः

पुनातु चित्तं दुरिताञ्जनेभ्यः॥57॥

मैं दुरित चित्त की पवित्रता के लिए प्रभु आपकी वन्दना करता हूँ।

17. अशरीरी सिद्ध भगवान न तो घोड़े के आकार में हैं, न हाथी के आकार में। अशरीरी सिद्ध भगवान तो पुरुषाकार में हैं।
18. 'सत् द्रव्य लक्षणं' द्रव्य का लक्षण सत् है।
19. 'प्रसिद्धोधर्मी' धर्मी प्रसिद्ध होता है।
20. महावीर के जीव सिंह का उपादान निर्मल हुआ और उसके लिए दो मुनिराजों की वाणी निमित्त बन गयी और सिंह से महावीर बन गये।
21. आज घर-घर में जैनी तो हैं, परन्तु जैन बहुत कम हैं।
22. कारण समयसार, कार्य समयसार। बिना कारण के कार्य नहीं होता।
23. रक्त पट और श्याम पट, इनसे न मुनियों को दान देना पड़ता है और न अरहन्तो की पूजा करनी पड़ती है न धर्मक्षेत्रों में जाना पड़ता है। 'मूलाचार' में लाल व काले वस्त्र का निषेध है। दोनों कलंक के सूचक हैं।
24. मणि मंत्र-तंत्र बहु होई, मरते न बचावे कोई।
25. 'प्रक्षीण पुण्यं विनश्यति विचारं।

26. 'श्राद्धं भुञ्जीत ।
श्राद्ध का भोजन न करें ।
27. जब भी रोटी सिकती है, चूल्हे में सिकती है, जब भी रोटी जलती है तो चूल्हे में ही जलती है ।
28. 'सधर्माविसंवादः । तीर्थंकर जिनेन्द्र की आज्ञा है, कि धर्मात्माओं के साथ वात्सल्य के साथ रहना चाहिए ।
29. 'बन्ध्या से मत पूछना कि संतान उत्पत्ति का कष्ट कैसा होता है?
30. सम्यक्त्व-पर्याय कारण-समयसार है, चारित्र-पर्याय कार्य-समयसार है ।
'क्रमाद्धे हेतु फलावहः ।
31. मुख्याभावे सति प्रयोजने निमित्ते चोपचारः प्रवर्तते' आलाप पद्धति-212
जब मुख्य का अभाव होता है, तब प्रयोजन की सिद्धी के लिए उपचार की अराधना करते हैं ।
32. हे वर्द्धमान! आप नहीं होते, तो मूर्ति किसकी? और आप है तो मूर्ति क्यों? मुख्य के बिना उपचार नहीं होता ।
33. 'वंसणभङ्ग भङ्गा' -- दर्शनपाहुड
दर्शन से भ्रष्ट है वो भ्रष्ट ही है ।
34. 'परमात्म प्रकाश' में योगिन्दु देव ने रत्नत्रय को ही तीर्थ कहा है ।
35. 'यो ग्राह्योऽ ग्राह्य नाद्यन्तः ।'
अब सब विकल्प छोड़ दो ।
36. 'नैवाऽसतो जन्म सतो न नाशो'
जो इस पर्याय के परिणमन को तो स्वीकारती है, लेकिन पर द्रव्य के विनाश को नहीं स्वीकारती है ।
37. धर्म होना बहुत जरूरी है और धर्मात्मा होना भी बहुत जरूरी है ।
38. आप अकेला अवतरे, मरे अकेला होय ।
यों कबहूँ इस जीव को साथी सगा न कोय ॥
39. संसार में वियोग व संयोग तो होते ही रहते हैं, लेकिन संयोग-वियोग में धैर्य आ जाए तो ज्ञानी! आनन्द आ जाए ।
40. 'किं सुंदरम् किं असुंदरम्'

41. स्वप्न में भी किसी को गाली दी, तो वह कर्म बन्ध का ही कारण है।
42. आप मुझे सुनने नहीं आते हो, असिद्ध को सिद्ध करने के लिए आते हो।
43. अनिष्ट भी इष्ट होता है।
44. अनन्त भटके जीव न हों, तो भगवान की क्या जरूरत?
45. 'सबके दिन एक से, सब दिन एक से नहीं होते।'
46. धर्म का नाश करके धर्म प्रचार की बात की जाए, वह धर्म कैसा?
47. जो जीवन व मरण को मिटाने के लिए मुनि बने, वह महाज्ञानी है।
48. पुण्य-द्रव्य के अभाव में हाथ पैर के पुरुषार्थ कार्यकारी होते नहीं विश्वास रखना।
49. भो ज्ञानी! अमृतचन्द्र स्वामी ने पैसा ग्यारहवा प्राण कहा है। इसलिए चोरी मत करो।
50. एक बेचारा सोते-सोते सामायिक नहीं कर पाया और एक सोते हुए को देखते-देखते सामायिक नहीं कर पाया। चलो तुम दोनों प्रायश्चित्त लो। जैन दर्शन हर नीति को जानता है।
51. मात्र आपको अपनी श्रद्धा को व्यवस्थित करने की आवश्यकता है।
52. कषायों की लीनता में जो ले जाए, ज्ञानी! वह अज्ञान नहीं अज्ञान धारा है।
53. मिथ्यात्व की पुष्टि में ले जाए, वह सद्बोध नहीं अज्ञान धारा है।
54. कूटनीति/कुनीति में ले जाए, वह अज्ञान धारा है।
55. द्रव्यदृष्टि से दूर कर दे और द्रव्य में दृष्टि डाल दे, वह अज्ञान धारा है।
56. ध्रुव सत्य यह है कि जो ज्ञान है, जिन शासन में सम्यक् ज्ञान को ही ज्ञान कहा है।
57. जिससे तत्व का बोध हो, जिससे चित्त का निरोध हो, आत्मा का शोध हो, उसे जिनेन्द्र के शासन में ज्ञान कहा है।
58. भेद से अमेद की ओर ले जाए, खण्ड से अखण्ड की ओर ले जाए, उसका नाम सम्यग्ज्ञान है।
59. खण्ड-खण्ड परिणामों को अखण्ड कर दे, उसका नाम सम्यग्ज्ञान है।
60. टूटे हृदयों को जो जोड़ दे, उसका नाम ज्ञान है।
61. हाथ में दीपक, ज्ञानी फिर भी गड्ढे में गिर जाए तो इसमें दीपक का क्या दोष?

62. आपके मस्तिष्क से कम्प्यूटर की रचना हो सकती है, कम्प्यूटर से किसी मस्तिष्क की रचना नहीं हो सकती।
63. ज्ञान आत्मा का ही गुण है, ऐसा जानना चाहिए।
64. आहार, भय, मैथुन और परिग्रह ये चार संज्ञाएँ हैं।
65. आए राम गये राम, आत्माराम सदा राम।
66. 'अर्पितानर्पित सिद्धे।'

मार्ग बन्द नहीं मार्ग जारी है, बस किसे मुख्य करें, किसे गौण करें यह ध्यान रखना पड़ता है।
67. गुण गुणी से भिन्न नहीं है।
68. जिनशासन हाँजू-हाँजू का नहीं है। यह सिंह की दहाड़ के समान है।
69. भारत भूमि में मुख्य श्रवण संस्कृति है। आर्यों के आने के पहले यहाँ श्रमण थे। इतिहास पढ़ो।
70. मेरी आत्मा का जो ज्ञान गुण है, वह नट का खेल नहीं है, दीपक की ज्योति है। दीपक स्वयं को भी प्रकाशित करता है और पर को भी प्रकाशित करता है।
71. 'स्याद्वाद वाणी जयवन्त हो।' वह एकान्तमयी नहीं, अनेकान्तमयी वाणी है।
72. अरहंत की भक्ति पूर्व कर्मों का क्षय करा देती है।
73. स्वजातीय उपचरित असद्भूत व्यवहार नय से स्त्री पुत्र आदि आपके हैं।
74. छोटे को देखकर मोटे होकर इतराओ मत।
75. जो उपकारी के उपकार को भूल जाता है, जगत् में उससे बड़ा पापी नहीं है।
76. लोक में हीन भावना ही सबसे बड़ा रोग है।
77. जिन-जिन निमित्तों से हीन भावना आती है, ऐसे निमित्तों को देखना बन्द कर दो।
78. यदि पूर्वाचार्यों के मन में भाव नहीं आता कि जिनवाणी की रक्षा कैसे हो? तो हमारे पास क्या बचता?
79. आचार्य भगवन् भद्रबाहु स्वामी के समय से लेखन शुरू हो जाता, तो आज हमारा श्रुत कितना अपूर्व-अपूर्व होता।
80. पर्याय के सुन्दर होने से मोक्ष नहीं होता, परिणति के सुन्दर होने से मोक्ष होता है।

81. आज के ज्ञानी, कहना तो बहुत जानते हैं, परन्तु करना भूल गये। इसलिए उनकी बात का असर नहीं होता।
82. माता-पिता भगवान् का सहारा लेते हैं, तो उनके बेटे अपने आप उनका सहारा ले लेंगे।
83. लौकिक शुद्धि तो हो सकती है, लेकिन परमार्थभूत कोई शुद्धि शरीर की नहीं होती।
84. श्रमण की दशा देखो, जब आहार लेने जाते हैं, तब भी निर्जरा करते हैं और मल विसर्जन करने जाते हैं तब भी निर्जरा करते हैं। योगी में और भोगी में कितना अन्तर है?
85. 'जो त्यागी, योगी और अतिथि का सत्कार किए बिना भोजन कर लेता है, वह निशाचर है।
86. वस्तु को मत बिगाड़िए, वस्तु को मत बदलिए, अपनी दृष्टि को फेर लीजिए।
87. वैराग्य का अर्थ निमित्तों का नाश मत समझना। वैराग्य का तात्पर्य है, पर-भावों से दृष्टि को मोड़ लेना। निज स्वभाव में दृष्टि ले जाने, इसी का नाम वैराग्य है।
88. इन्द्रियों को वश में नहीं करना पड़ता, इन्द्र (आत्मा) को वश में करना पड़ता है।
89. जब विषयों का व्यापार शान्त हो जाता है, चित्त थक जाता है, तब ज्ञानी! भगवान् आत्मा निर्विकल्प नजर आता है।
90. दो द्रव्यों में क्रियावती शक्ति है— जीव और पुद्गल में।
91. श्रद्धापूर्वक जिन वचन जो सुनता रहेगा, वह छटवें काल में कभी नहीं आयेगा।
92. वान में दिया गया द्रव्य और पड़ोसी को दिया गया द्रव्य दोनों में बहुत अन्तर है।
93. काना पौड़ा पड़ा हाथ यह चूँसे तो रोवे।
फलै अनन्त जो धर्मध्यान की भूमि विषै वोवे ॥
94. आत्मा सर्वथा न तो वक्तव्य है और न अवक्तव्य है।
95. जन्म लेना और जन्म देना ये तो पशु भी करना जानते हैं। परन्तु जन्म-मरण से मुक्त कैसे होना? इसे मनुष्य मात्र जानता है।
96. दूसरे को समझाने के लिए ज्ञान चाहिए, जबकि स्वयं को समझाने के लिए विवेक और धैर्य चाहिए।

97. मंदिरों में चित्र उन्हीं के होते हैं, जिनके चारित्र विशाल होते हैं।
98. जिससे हृदय अंधकार में चला जाए, ऐसे चित्र देखना घोर मिथ्यात्व है।
99. कषायों के निमित्त पराश्रित हैं, कषायें करना, नहीं करना स्वाश्रित है।
100. दिगम्बर मुनियों के छह समय (काल) होते हैं—
 1. दीक्षा काल, 2. शिक्षा काल, 3. गणपोषण काल, 4. आत्म संस्कार काल, 5. सन्यास काल 6. उत्तमार्थ काल।
101. योगों का अर्थ ही ये है, कि आत्म प्रदेशों को चंचल कर दे उसी का नाम योग है।
102. पर की निन्दा में न अणुव्रत पलते हैं, न महाव्रत पलते हैं। लेकिन जिनागम को कहते में दोनों पलते हैं।
103. यदि उत्तम प्रकृति है, तो कुसंग क्या करेगा? ये चन्दन के वृक्ष में विषधर साँप लिपटे रहते हैं, फिर भी चन्दन को विषाक्त नहीं कर पाते।
104. जितना द्वादशांग है, सम्पूर्ण द्वादशांग में द्रव्य, गुण, पर्याय का ही वर्णन है।
105. एक ही माँ के दो लाल, एक मुस्करा रहा है, दूसरा विलख रहा है, इसमें माँ का क्या दोष? कर्म का ही विपाक है।
106. दोष देने के स्थान पर साम्यभाव को विराजमान कर लो। ज्ञानी निर्दोष परमात्मा को प्राप्त कर लेगा।
107. जो विशुद्धिपूर्वक निज निंदा की जाए गुरु साक्षी में वह आलोचना है और संक्लेशता में बदल जाए, वह आलोचना नहीं वह संक्लेश स्थान है।
108. जब तक विषय—कषाय न छूटें, भगवान् की पूजन मत छोड़ देना, वह तो परम्परा से मोक्ष का कारण है।
109. ज्ञानी लोग जिनवाणी को मनन करते—करते सोते हैं और उठते हैं, लेकिन अज्ञानी चिंता में सोते हैं और चिंता में उठते हैं।
110. बोध मूर्ति, ज्ञान मूर्ति की अपेक्षा से आत्मा अमूर्तिक है। स्पर्श, रस, गंध, वर्ण का अभाव होने से आत्मा अमूर्तिक है।
111. प्रमाद से ज्ञान नहीं और ज्ञानी को प्रमाद नहीं।
112. ज्ञानी का शत्रु, प्रमाद और कषाय है।
113. जो कुशल क्रिया में अनादर भाव है, इसका नाम प्रमाद है।
114. दो पर तर्क नहीं चलता। एक आगम पर तर्क नहीं चलता और दूसरा स्वभाव

पर तर्क नहीं चलता।

115. जो जीव संसार में पतित हो रहा है, वह दूसरे को क्या मोक्ष का उपदेश दे सकेगा।
116. जो आप्त के वचनों से निबंधन है वह मात्र आगम है। परन्तु हमें आप्त की पहचान करनी चाहिए, फिर आगम की पहचान करनी चाहिए।
117. यदि संयम से शिथिल है, तो स्वयं का घातक है। यदि ज्ञान में शिथिल है, तो स्व पर घातक है।
118. दान देना और पूजा करना श्रावक का मुख्य धर्म है। यदि तू इसका ही निषेध कर देगा तो श्रावक करेंगे क्या? ये निषेध वो ही कर पाते हैं, जिन्हें धर्म से कोई प्रयोजन नहीं है।
119. चार अभिषेक होते हैं— पहला तीर्थंकर बालक का होता है — जन्म-कल्याणक, दूसरा राज्याभिषेक, तीसरा दीक्षाभिषेक, इसके बाद अरहंत की प्रतिमा विराजमान हो जाती है, तब चौथा प्रतिमाभिषेक होता है।
120. अन्य क्षेत्रे कृतं पापं पुण्य क्षेत्रे विनश्यति।
पुण्यक्षेत्रे कृतं पापं, वज्रलेपो भविष्यति ॥
121. जो दुर्गति से निकलकर आया है या दुर्गति में जाने वाला है उसी जीव की मति दुर्मति होती है।
122. शिष्य बनाना साधुता का कार्य है, सेवक बनाना परिग्रह का कार्य है। सच्चा वीतरागी श्रमण कभी सेवक नहीं बनाता, शिष्य बनाता है।
123. श्रद्धा आत्मा का अखण्ड गुण है। आत्मा सम्यक्त्व से भिन्न नहीं होती।
124. पर्याय दृष्टि नरकेश्वरा, द्रव्यदृष्टि महेश्वरा।
125. सिंहनी का दुग्ध स्वर्ण पात्र में ही रखा जाता है।
126. जो सद्भाव में भी अभाव को देखे, उससे बड़ा अभागा कौन होगा।
127. श्री जिनेन्द्र के अभिषेक को जो जड़ की क्रिया कहे, जगत् में उससे बड़ा पापी कौन हो सकता है?
128. दुर्गति से बचना है, सुगति को पाना है, तो चरित्र को स्वीकार करो।
129. भाई—भाई ने जो झगड़ा किया था वह कलंक तुम भगवान् बनकर भी नहीं मिटा सके/पाये।

130. भूत का पुरुषार्थ वर्तमान का भाग्य है।
131. सुखमय जीवन जियो, 'होता स्वयं जगत परिणाम'।
132. शमशान घाट में भी जीवधर को पालने वाला मिल गया था।
133. समाधि के लिए आक्षेपणी-विक्षेपणी से काम नहीं चलेगा। सलेखना के लिए संवेगिनी-निर्वेगिनी कथा ही चाहिए।
134. आनन्द का जीवन जीना है, तो श्री और स्त्री से दूर रहना।

नीति वाक्य—

1. जब तक अग्नि और अम्बर है और जब से अग्नि और अम्बर है तब से दिग्म्बर है और तब तक दिग्म्बर है।
2. जब से जिनशासन है तब से वाचना है और जब से जिन वाचना है तब से जिनशासन है।
3. नमोस्तु शासन में निर्ग्रन्थ की आराधना है, सग्रन्थ की नहीं है।
4. हमने प्रजा को दूसरे के खण्डन में तो प्रयोग किया, स्याद्वाद के मण्डन में प्रयोग कर लेता, तो पर का खण्डन स्वयमेव हो जाता।
5. लोग तत्त्व से इतना भ्रमित हो चुके हैं कि देवी-देवता के नाम पर और जादू-टौना के नाम पर तीर्थंकर के शासन की शक्ति तो महसूस नहीं होती।
6. जो कर्मों से तथा सम्यग्ज्ञान आदि से क्रमशः मुक्त और अमुक्त होता हुआ एक रूप है, उस अविनाशी, ज्ञानमूर्ति परमात्मा को मैं (भट्ट अकलंक) नमस्कार करता हूँ।
7. यदि सुकुमाल कुशल पुत्र का जन्म हुआ है तो पिता का पुण्य है और उत्कृष्ट कुल में जन्मा है, तो बेटे का पुण्य है।
8. हे जनक! तू कस्तव में जनक किसी का है, तो अपनी काम-इच्छाओं का जनक है। तू अपने पुत्र का जनक नहीं है।
9. यदि जैन दर्शन का बोधन ही है, तो जैन कुल में जन्म लेने के उपरान्त भी जैनत्व की पहचान नहीं है।
10. न तू ऊपर किसी को ले जा पायेगा, न तुझे कोई ऊपर ले जायेगा। इस पर्याय के राग में पर्यायी विलखेगा। ऊपर जाना चाहता है, तो पर्याय के सम्बन्धियों को छोड़ दे और परिणामों को सम्भाल ले।

12. यदि तुझे कुछ हासिल करना है तो राष्ट्रीय, अन्तर्राष्ट्रीय छोड़ो, विश्व की कोई विभूति है, तो ये अरहंत की देशना है।
13. एक व्यक्ति के पास एक खेत था, सो वो चिल्लाता था 'मेरा खेत- मेरा खेत। दूसरे ने खरीद लिया, तो वो चिल्लाने लगा मेरा खेत - मेरा खेत। खेत बोलता तो कहता, 'क्या अज्ञानियों की टोली बैठी है। मैं अपने स्थान से हटा नहीं, हिला नहीं, चला नहीं, मैं अपने में स्थिर हूँ, परन्तु ये ज्ञानी मुझे देख-देख कर कितने भूपति हो कर चले गये, परन्तु मैंने किसी को कभी स्वीकारा ही नहीं।
14. सिद्ध को सिद्ध नहीं करना पड़ता, असिद्ध को सिद्ध करना पड़ता है।
15. निवाड़ मालवा में कपास न हो, तो आप फैक्ट्री में वस्त्र कहाँ से लाओगे? मिथ्यादृष्टि जीव नहीं होंगे, तो सम्यग्दृष्टि जीव कहाँ से आयेंगे? मारीचि नहीं होता, तो महावीर कहाँ से मिलते आपको?
16. उन रागियों से कह देना कि अभी मैं मुनि बनना तो चाहता हूँ लेकिन अभी घर की व्यवस्था देखता हूँ। अरे ज्ञानी! तू स्वयं में व्यवस्थित हो जा, घर की क्या व्यवस्था देखेगा? घर की व्यवस्था किसने देखी? मोक्षमार्ग व्यवस्थाओं का मार्ग नहीं है, मोक्षमार्ग तो व्यवस्थित रहने वालों का मार्ग है।
17. तू संकल्पी हिंसा कर रहा है, स्वर्ण के नाग बनाकर नदी में छोड़ रहा है। हे ज्ञानी! तुझे हिंसा का दोष नहीं लगेगा तो क्या होगा? जब आटे के मुर्गे को चढ़ाने से दुर्गति हो सकती है, तो सोने के नाग चढ़ाकर भी दुर्गति होगी।
18. किसी ने कहा महाराज पंचमकाल है। आचार्य श्री ने कहा मुझे मालूम है पंचमकाल है। पंचमकाल में मोक्ष नहीं होता, पंचमकाल में चक्रवर्ती नहीं होते, पंचमकाल में केवली नहीं होते, पंचमकाल में ऋद्धिधारी मुनिराज नहीं होते, पंचमकाल में मन:पर्याय ज्ञान नहीं होता। पंचमकाल में बड़े देव नहीं आते, लेकिन पंचमकाल यह नहीं कहता, कि तुम हमारे नाम पर कुछ भी करो और कहे पंचमकाल है।
19. विश्वास रखना जब तक तेरे तीव्र असाता का उदय है, तब तक अरहंत भक्ति भी कुछ नहीं कर पायेगी। निश्चिन्ता- निश्चिन्ता जैसे कर्मों का शमन करने वाली यदि कोई है, तो अरहंत भक्ति है।
20. भैया! कागज के फूलों में सेंट छिड़का जाता है, तो उसमें भी सुगन्ध आती है, लेकिन भोली आत्मा यह बताओ कि उन फूलों में सुगन्ध कितनी देर आयेगी?
21. जब भूत को भगाने के मंत्र हैं, तो मोह को भी भगाने के मंत्र है। भूत को भगाने

के लिए भूतवादी के पास जाओ और मोह को भगाने के लिए माँ जिनवाणी के पास आओ।

22. ये धर्मात्मा का दया भाव है, करुणा भाव है, परन्तु ध्रुव सत्य यह है कि समझना तो चाहिए, सुधारना किसी को भी नहीं चाहिए। समझाने में अनुकम्पा भाव है और सुधारने में कर्ताभाव है।
23. समाज का व्यक्ति हो, चाहे मुनि संघ का सदस्य हो, दो बातें सीख लेगा तो कभी फेल नहीं होगा। पहली नीति और दूसरी बात रीति।
24. सौधर्म इन्द्र के पास जितना वैभव होता है, ऊपर के स्वर्गों में उतना वैभव नहीं होता, लेकिन वे सुखी क्यों होते हैं? वे अहमिन्द्र होते हैं। न किसी को आज्ञा देते हैं, न किसी से आज्ञा लेते हैं, इसलिए सुखी होते हैं।
25. जब अकौआ में महावीर बैठ सकते हैं, जब सिंह में महावीर बैठ सकते हैं, जब वैश्या में महावीर बैठ सकते थे, तो इनमें भी अनेक वीर बैठे होंगे। इसलिए किसी के प्रति अशुभ भाव मत लाइये।
26. साम्यदृष्टि जीव, तत्त्व ज्ञानी जीव शांत रहता है, चाहे वियोग हो रहा हो।
27. धर्म स्व सापेक्ष है, पर सापेक्ष नहीं है। हम अपने चिंतवन में स्वतंत्र है, अपने उपादान को पवित्र करने में स्वतंत्र है, पर के उपादान को बदलने में, मैं स्वतंत्र नहीं हूँ। अहो पिताजी! तुम बेटा कहने के लिए स्वतंत्र हो, परन्तु बेटा तुमसे पिताजी कह दे इसके लिए तुम स्वतंत्र नहीं हो।
28. यदि किंचित भी आपको द्रव्य दृष्टि समझ में आ रही हो तो आज से किसी भी जीव को गाली मत देना। मारीचि की पर्याय को जिसने गाली दी, उसने महावीर को गाली दी कि नहीं?
29. जो भोजन की इच्छा रखे, पूजन की इच्छा रखे, उनको मैं भगवान् नहीं मानता और जो भगवान् होते हैं वे पूजा की इच्छा नहीं रखते हैं।
30. यदि अपने बेटे को भी तूने गाली दी, तो विश्वास रखना, अपने भविष्य के भगवान् को गाली दी।
31. मत किसी को हीन समझो। रोड़पति भी करोड़पति हो सकता है और करोड़पति भी रोड़पति हो सकता है।
32. वैभव मिलना इतना बड़ा पुण्य नहीं है, जितना कि निर्मल सोच मिलना पुण्य है।
33. धन्य हो वर्द्धमान आपको! त्रिकाल नमोस्तु, त्रिकाल नमोस्तु! आपने यह चिंता

नहीं की, कि आपका नाम विदेशों में जाएगा कि नहीं जाएगा? आपको यह मालूम था कि हमारी अहिंसा स्वदेश से पलायन न कर जाए।

34. जैसे पानी की धार निम्न है। नदी का नाम निम्ना है, पानी नीचे की ओर चलता है, ऐसे ही कषाय नीचे की ओर ले जाती है, अपने को कभी नहीं दिखती।
35. कषाय की मंदता नहीं है, तो धर्मात्मा से दुःखी जगत् में कोई नहीं है। अतः कषाय की मंदता रखो।
36. पानी जैसे जीना! पानी बहता अवश्य है, परन्तु बीच में गड्ढा आ जाए तो पहले उसे भरता है, फिर आगे बढ़ता है। परन्तु भूल-वे कर लेते हैं कि बीच के गड्ढे भरते नहीं हैं और आगे चले जाते हैं, लेकिन फिर कभी भी पीछे मुड़ना पड़ जाता है।
37. बेटे का पुण्य भी तेरे काम नहीं आएगा। तेरा पुण्य ही तेरे काम आएगा, तेरा पाप ही तेरे काम में आएगा।
38. सौ का नोट जब कटने में गया तो रो रहा था और 1000 रुपये मंदिर की गोलक में डाल आया तो मुस्करा रहा था। छोड़ने में मुस्कराहट आती है।
39. ये भारत भूमि यंत्रों की प्रचारक नहीं है, ये निग्रन्थों की प्रचारक है।
40. भारत भूमि यंत्रों की नहीं मंत्रों की प्रचारक है।
41. नकुल और साँप एक साथ बैठ जाएं, सिंह और गाय एक साथ बैठ जाएं, ये अरहंत के तंत्र का ही प्रभाव है।
42. अनेक-अनेक प्राणियों को एक करदे, यही तो वीतराग वाणी का तंत्र है। इसलिए जैन आगम में ग्रन्थ को तंत्र भी कहा जाता है।
43. समाधि तंत्र बिना प्रमाण के नहीं बोलता। तंत्र अर्थात् ज्ञानतंत्र अर्थात् आगम।
44. व्यक्ति जितना सात्विक होगा, पवित्र होगा, उसका मष्तिष्क भी उतना ही पवित्र होगा और विशद् काम करेगा।
45. कोष्ठ बुद्धि ऋद्धि, बीज बुद्धि ऋद्धि ये ऋद्धियाँ जो थीं, ये हमारे ऋषियों के मस्तिष्क के बड़े-बड़े कम्प्यूटर थे। 'तिलोयपण्णति में 64 ऋद्धियों का विषय वर्णित है।
46. आचार्य माणिक्यनंदी स्वामी कह रहे हैं, कि जिससे हित की प्राप्ति हो, अहित का परिहार हो, वही प्रमाण है।
47. वैशेषिक दर्शन गुण को गुणी से अत्यन्त भिन्नमानता है, परन्तु जैनाचार्य कहते

हैं कि संज्ञा लक्षण—प्रयोजन की दृष्टि से द्रव्य, गुण, पर्याय में भेद है, परन्तु अधिकरण की दृष्टि से एक हैं।

48. बहुत आरम्भ—परिग्रह किया है, तो तुम बड़े प्रेम से नरक चले जाओगे, चिंता मत करना और मायाचारी की है तो तुम पशु बन जाओगे। सम्यक् के साथ जीवन जिया है, सराग संयम किया है, त्याग, तप किया है तो देव बन जाओगे।
49. अरहंत भगवान होते हैं, सिद्ध भगवान होते हैं, लेकिन भगवती आत्मा कभी नहीं होती, वह तो होती ही है।
50. अरहंत पर्याय प्रकट हुयी है, सिद्ध पर्याय प्रकट हुयी है। लेकिन आत्मा क्या प्रकट हुयी है? नहीं।
51. जब भी मोक्ष मिलेगा, तो भगवान आत्मा की आराधना से ही मिलेगा और भगवती आराधना के पास तभी पहुँचेगा जब अरहंत, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय, साधु की आरधना करेगा। नहीं तो ज्ञानी भटक जायेगे बेचारे।
52. अहो मुमुक्षु! अरहंत, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय, साधु ये भगवान आत्मा के समीप हैं। उनसे भगवान आत्मा का समाचार लेने के लिए उनका सम्मान करना पड़ता है, उनकी आराधना करनी पड़ती है, जैसे आगन्तुक से पत्नी का समाचार लेने के लिए पहले बच्चों के विषय में पूछते हैं।
53. सबसे बड़ा दरिद्री वह है जो मुनियों के गुण कहने से मौन लेता है और जो गुणी के गुण न कह पाये। क्यों नहीं कह पाता? क्योंकि ईर्ष्या से भरा है, बेचारा क्या करे?
54. समाधि चाहिए तो सम्मान छोड़ना पड़ेगा और सम्मान चाहिए तो समाधि छोड़नी पड़ेगी। समाधि चाहिए थी आचार्य ज्ञान सागर जी महाराज ने तो सम्मान छोड़ दिया। एक गुरु अपने शिष्य से कहे कि बेटा! मैं आपके संघ में समाधि करना चाहता हूँ।
55. वृद्धों के साथ रहने से अनुभव मिलता है, साधना बढ़ती है, ज्ञान मिलता है। इसलिए वृद्धों की सेवा कर लेना। इन बूढ़ों का अपमान मत करना। इन पके बालों से पकी सामग्री माँग लेना।
56. हिला दिया है, हैलो कहके। क्या हिला दिया? वात्सल्य हिला दिया, अनुराग हिला दिया, प्रीति हिला दी, राग बढ़ा दिया। इन मोबाइलों ने तो सब नष्ट कर दिया।
57. हर व्यक्ति की दृष्टि, हर व्यक्ति का सोच अपने क्षयोपशम से होगा।

58. माता-पिता न सुख देते हैं, न दुःख देते हैं। इसलिए आज से यह मत कहना कि पिताजी ने कुछ नहीं दिया।
59. प्रद्युम्न कुमार (पूर्व पर्याय में मधु) का दैत्य ने हरण तो कर लिया पर चञ्चल ने नीचे दबाकर भी मार नहीं सका। क्योंकि चरम शरीरी, कामदेव, पुण्यात्मा के ऊपर किसी का वार नहीं चलता, उसका कोई बाल बाँका भी नहीं कर सकता।
60. कबूतर-कबूतरी को अलग-अलग करने से सीता को भी पति का वियोग सहन करना पड़ा था। - पद्म पुराण।
61. अपने घर में पानी में डुबोकर रोटी खा लेना परन्तु लम्बे समय तक ससुराल के रसगुल्ले नहीं खाना।
62. गरीब के यहाँ पैसा आ जाए तो यह कोई नहीं कहेगा कि पुण्य आ गया है, यही कहेंगे कि कहीं डाँका डाला होगा।
63. शेर से मत डरना, मच्छरो से मत डरना, परन्तु चुगली करने वालो से बहुत डरना।
64. एक वे आचार्य भगवन्त हैं, जो कह रहे हैं कि वर्णों से, अक्षरों से शब्द बने हैं, शब्दों से वाक्य बने हैं, वाक्यों से अध्याय बने हैं और अध्यायों से ग्रन्थ बने हैं, मैंने क्या किया।
65. भैया! हम निमित्त तो बन सकते हैं, परन्तु किसी के उपादान को नहीं बदल सकते। आँखों के चश्मे उन्हीं के लिए कार्यकारी है, जिनकी आँखों में ज्योति है। यदि ज्योति नहीं है तो चश्मा कुछ भी नहीं कर सकता।
66. कोई व्यक्ति अच्छा-बुरा नहीं है। जिससे तुम्हारे स्वार्थ की सिद्धि हो रही है, वह आपको अच्छा दिखाई देता है और जिससे स्वार्थ की सिद्धि नहीं हो रही है वह बुरा दिखाई देता है।
67. जगत में जितने भी शत्रु हुए हैं, बाहर एक भी शत्रु का जन्म नहीं हुआ। लोक में जितने भी महापुरुष हुए हैं, उन पर घर-घर के लोगों ने ही उपसर्ग किया है। चाहे वे पार्श्वनाथ, सुकुमाल, सुकौशल मुनिराज हों अथवा पाण्डव, गजकुमार मुनिराज हों- पुराण साक्षी हैं।
68. जो साम्यभावी होगा, उसके साथ सब रह लेंगे। जिसका स्वभाव साम्य नहीं है, उसके अपने ही दूर भाग जायेंगे। बहुत अच्छी बात सीख कर चलना कि किसी को अपना बनाने का प्रयास मत करना अपने आपको साम्य बनाने का प्रयास करना।

69. शरीर शुद्ध तो हो ही नहीं सकता। जिसमें नव मलद्वार स्रवित हो रहे हों, मल-मूत्र का पिण्ड ही हो, वह शुद्ध कैसे हो सकता है?
70. वैरागी को वैराग्य जीवित रखने के लिए चौबीस घंटे जीना पड़ेगा। मर-मर कर कभी वैराग्य की रक्षा नहीं हो सकती और वैराग्य की मृत्यु हो जाए तो चारित्र की कभी रक्षा नहीं हो सकती।
71. चारित्र की रक्षा करने से पहले वैराग्य की रक्षा करो, नहीं तो ये जीवन ऐसा होगा, जैसे अभ्यास का जीवन होता है।
72. गुड़ से मिश्रित दुग्ध को पीने वाला कालिया नाग कभी निर्विष नहीं होता, ऐसे ही अभव्य जीव कोटि-कोटि व्रतों का पालन कर ले फिर भी भव्य नहीं होता।
73. अनन्तानुबन्धी के मंद उदय में व्यक्ति को घानी में पेल दो तो भी चीं नहीं करता और संज्वलन के तीव्र उदय में बारह योजन का नगर जल जाता है।
74. जब भी जीव काषायिक भाव करेगा, तब पर का घात हो पाए या न हो पाए पर स्वयं का घात तो निश्चित होगा।
75. वीतरागी मुनि एकेन्द्रिय तक की रक्षा के लिए पिच्छी रखते हैं। यदि धूप से छाया में या छाया से धूप में जाएं तो अपने शरीर का मार्जन कर लेते हैं।
76. एक व्यक्ति ने दूसरे व्यक्ति को चाँटा मारा और कहता है, भैया सुन, तेरे कर्म का उदय था, मैं तो अकर्ता स्वभावी हूँ। मैं तो कुछ कर ही नहीं सकता हूँ। दूसरा कम समझदार नहीं था, उसने चार चाँटे लगाए और कहता है, 'हे मुमुक्षु! आत्म स्वभाव परभाव भिन्न।
77. सहज भाव से बैठे-बैठे जो मस्तिष्क में चिंतन नहीं आ पाता, वह गणधर की गद्दी पर बैठने से आ जाता है। यही तो गद्दी की शक्ति है।
78. हे ज्ञानी! जो लोक जिनदेव का नहीं हुआ तो अपना क्या होगा?
79. आत्मा में ही शक्ति है बोलने की। भाषात्मक और अभाषात्मक। ये भाषा के दो भेद हैं। जो लिखी जाती है वह भाषा भाषात्मक है। जिसका लेखन नहीं होता, मात्र ध्वनि है, वह अभाषात्मक भाषा है।
80. ये पुण्य-पाप की व्याख्या है, सर्वत्र लागू होती है। जब तक मोक्ष न मिल जाए, तब तक पुण्य-पाप की व्याख्या लागू होगी।
81. एक आत्मा ही ऐसी है जहाँ न पुण्य है न पाप है। उसका नाम अशरीरी सिद्ध परमात्मा है।

82. पूर्व में किये ये दोष जो आज उदय में आ रहे हैं। अब उनको शान्ति से सहन कर लेता तो निर्जरा हो जाती। लेकिन सहन न करने के स्थान पर दूसरे को दोष दे रहा है, जिससे नवीन कर्मों को और आमंत्रण कर रहा है।
83. श्रेष्ठ साधन भी करते रहोगे और दोषों का प्रायश्चित भी नहीं करोगे तो विश्वास रखना कुमरण ही होगा, सुमरण नहीं होगा।
84. उस मोहनीय कर्म को भी आप ज्ञेय बनाइये, हेय बनाइये। क्यों उसे उपादेय मान रहे हो? धिक्कार हो उस जीव को, जो मोह को भी अपना मान रहा है।
85. गृहस्थी में आप रह रहे हो, सो रहो, लेकिन गृहस्थी में रहने पर संतुष्ट मत हो जाना।
86. जिसका उदय नहीं, उदीरणा नहीं, क्षयोपशम नहीं वह पारिणामिक भाव है।
87. दिगम्बर मुनि से कहा जाता है, कि आपको मौन रहना चाहिए लेकिन हे मुनिराज! कहीं धर्म का नाश हो रहा हो, क्रिया का ध्वंस हो रहा हो, ऐसे काल में कोई न भी पूछे तो भी आप मुखर हो जाना।
88. साधु स्वभाव क्या है? जो शत्रु में भी शत्रुता न रखता हो और मित्र में मित्रता न रखता हो, साम्यभाव रखता हो।
89. 'ज्ञान से यश मिलता है, चारित्र्य से पूजा मिलती है, सम्यक् से देवत्व मिलता है और तीनों से शिवत्व की प्राप्ति होती है।
90. अपने चेहरे के अन्दर की मुस्कराहट समाप्त नहीं करना चाहते हो, तो आज से दूसरे की प्रवृत्ति को ज्ञेय बनाना छोड़ दो।
91. अल्पज्ञान मोह रहित है तो मोक्ष का साधन है और बहुज्ञान भी मोह सहित है, तो संसार का ही कारण है।
92. जब भी तुम जिनेन्द्र के चरणों में आना, निसंग होकर आना, निशंक होकर और निःकांक्षित होकर आना। इन तीनों में से एक भी भुलाओगे तो परमेश्वरी के प्रति तेरी जो सम्यक धारणा थी वह विचलित हो जाएगी।
93. शास्त्रों का पार नहीं है, आयु का काल थोड़ा है, हम लोगों की बुद्धि अल्प है इसलिए उसे ही सीखना चाहिए, जिससे जन्म व मरण का नाश हो।
94. जो समीचीन वृत्ति से कमाई जाए, उसका नाम सम्पत्ति है। जो लात जाओ, धरत जाओ और मरत जाओ, उसका नाम धन है।
95. लक्ष्मण-गुणमाला से- हे देवी! मैं यदि वापस न आऊँ, तो मुझे वह दोष लगे

जो रात्रि भोजन करने वाले को लगता है और विश्वास रखो, यदि मैं वापिस नहीं आया तो मैं पंचमकाल का मनुष्य बनूँ— पद्म पुराण ।

96. किसी को कितना भी अपना बना कर रखो, परन्तु अपना कोई नहीं है।
97. ईर्ष्या से न तेरा काम बनता है, न जिस पर ईर्ष्या कर रहा है उसका काम बिगड़ता है। बनता या बिगड़ता क्षयोपशम से है।
98. वस्तु की प्राप्ति ईर्ष्या से नहीं होती, लाभान्तराय कर्म के क्षयोपशम से होती है।
99. सुन्दर को सुन्दर देखना भी असंयम है और असुन्दर के प्रति असुन्दर भाव लाना भी असंयम है।
100. वस्त्र से रहितपना यदि संयम हो गया तो प्रकृति में जितने भी निर्वस्त्र हैं, वे सब संयमी हो जाएंगे।
101. जब भी तुमको जिनदेव मिलें, निर्ग्रन्थ गुरु मिलें, भगवती जिनवाणी मिले तो अपने इन्वर्टर/बैटरी को चार्ज कर लो।
102. भक्ति भी गुरु की हो जाए और तीर्थकर वर्द्धमान के शासन का सिद्धान्त भी न टूटे, ऐसी भक्ति करो।
103. एक महीने के उपवास कर लेना बहुत कठिन नहीं है, नीरस भोजन करना इतना कठिन नहीं है, जितना निन्द्रा का रस पान छोड़ना कठिन है।
104. जिसकी दुर्गति सुनिश्चित हो चुकी है, उसकी दुर्बुद्धि नियम से होगी। जिसकी दुर्बुद्धि चल रही है, उसकी दुर्गति सामने खड़ी है।
105. यदि गति सुधारना चाहते हो तो अपनी दुर्गति को सुधार लो। दुर्गति सुधर गयी, मति सुमति हो गयी, तो गति सुगति स्वयमेव हो जायेगी।
106. प्रवचन सभा में चेहरा नहीं मुस्कराता, मन मुस्कराता है और नाट्यशाला में मन नहीं मुस्कराता, चेहरा मुस्कराता है।
107. भावकर्म जैसा होगा, वैसा द्रव्य कर्म का आस्रव होगा। जैसा कर्म बन्ध होगा, विपाक भी उसका वैसा ही होगा। सर्वज्ञ जिनेन्द्र के शासन की आज्ञा स्वीकार करो।
108. ज्ञान हीन चारित्र का भी नाश होता है और चारित्र हीन ज्ञान का भी नाश होता है। शिवत्व की प्राप्ति चाहते हो तो ज्ञानी दोनों का संयोग करो। अंधा और लंगड़ा मिल जाएँ तो दोनों की रक्षा हो सकती है। जलते जंगल से बाहर निकल सकते हैं।

109. 'स्वरूप सम्बोधन' का तात्पर्य निज आत्मा को निज आत्मा से समझना है।
110. कदाचित तुम जंगल में फँस जाओ, जहाँ देव भी न मिलें, गुरु भी न मिलें, भगवती जिनवाणी भी न मिले, तब भी विश्वास रखना कि जब भी निर्वाण होगा, इनके श्रद्धान से ही होगा।
111. हे जीव! न तुझे कोई लक्ष्मी देता है, न कोई उपकार करता है, न कोई अपकार करता है। उपकार या अपकार करने में कोई निमित्त भी बनता है, तो मेरे पुण्य-पाप का हेतु ही होता है।
112. जो अबुद्धि पूर्वक तुम्हारा इष्ट-अनिष्ट हो रहा है-वह वर्तमान का पुरुषार्थ है, वही भविष्य का भाग्य है। भूत का पुरुषार्थ वर्तमान का भाग्य है।
113. पंचकल्याणक में रथ चलवा रहा है, छोटे भाई को नहीं बुलाया और रथ में साले को बगल में बैठकर सात फेरी लगाई फिर भी सिंघई साला नहीं कहलायेगा घर बैठा भाई ही कहलायेगा।
114. धन से धर्म की रक्षा नहीं होती है। पवित्र भावनाओं से होती है। पवित्र भावनाएँ क्षेत्र पर बनती हैं, इसलिए आप क्षेत्र की रक्षा करना।
115. इस जगत् में उत्कृष्ट स्तुति व निंदा के पात्र दो ही हैं। एक वह जो विषय-कषाय के लिए तपस्या छोड़ता है, वह निन्द्या का पात्र है और दूसरा जो तपस्या के लिए चक्री पद छोड़ रहा है वह स्तुति का पात्र है।
116. आप तो नेत्रों से देखकर चलते हो, लेकिन साधु आगम से देखकर चलते हैं। सिद्ध सर्वांग से देखते हैं, देव अवधिज्ञान से देखते हैं और साधु आगम से देखते हैं
117. सोनागिर में चन्द्रप्रभु भगवान् का समवशरण लगा था। नंग-अनंग कुमार दीक्षा लेने नहीं आये थे, वे वन्दना करने आये थे, परन्तु वन्दनीय की वन्दना करने का फल यह होता है कि वन्दना करते-करते स्वयं वन्दनीय बन बैठे।
118. अभीक्षण ज्ञानोपयोग की जो धारा है, प्रतिक्षण विवेक में जीवन जीना है, प्रतिक्षण निज आचरण में आचरित होना है।
119. त्यागियों के दो ही तो काम हैं। या तो साधना करो या समाधि करो। षट् आवश्यक को कर रहे हैं, सो साधना है और सामायिक कर रहे हैं सो समाधि है। समाधि का अर्थ मरण नहीं है, यह ध्यान रखना। समाधि का अर्थ है 'सम-धी'। प्राणीमात्र के प्रति समान बुद्धि का होना, उसका नाम है, 'समाधि' और निज स्वरूप में लीन होना इसका नाम है 'समाधि'।

स्वरूप देशना में प्रमाण - प्रमेय व्याख्या

— सोनल के. शास्त्री

जिससे वस्तुतत्त्व का निर्णय किया जाता है— उसे सम्यक् रूप से जाना जाता है, उसे प्रमाण कहते हैं। प्रमाण के विषय को प्रमेय कहते हैं। प्रमेय की व्यवस्था प्रमाणाधीन है, इसी से सभी दार्शनिक प्रमाण को मान्य कहते हैं। प्रत्येक दर्शन में प्रमाण शास्त्र की स्थिति महत्वपूर्ण मानी जाती है। जैन दर्शन में भी प्रमाण शास्त्र का अपना विशिष्ट स्थान है। प्रमाण शब्द की व्युत्पत्ति बताते हुए आ० पूज्य पादमहाराज लिखते हैं—

“प्रमिणोति प्रमीयतेऽनेन प्रमितिमात्रं वा प्रमाणम्” 1

अर्थात् जो अच्छी तरह मान करता है, जिसके द्वारा अच्छी तरह मान किया जाता है या प्रमितिमात्र प्रमाण है।

प्रमाण को परिभाषित करते हुए आचार्य अकलंकदेव कहते हैं—

“ज्ञानं प्रमाणमात्मादेः.....॥” 2 अर्थात् आत्मादि पदार्थों का जो ज्ञान है वही प्रमाण है।

आ० हेमचन्द्र सूरि के अनुसार —“प्रकर्षेण संशयादित्यवच्छेदेन जीयते परिच्छिद्यते वस्तुतत्त्वं येन तत्प्रमाणम्” 3 जिसके द्वारा वस्तु तत्त्व को सच्चे रूप में (संशयादि रहित) जाना जाता है, पहचाना जाता है, उसे प्रमाण कहते हैं।

आ० माणिक्यनन्दि परमत— खण्डन की विशेष विवक्षा पूर्वक प्रमाण का लक्षण लिखते हैं—

“स्वापूर्वार्थव्यवसायात्मकं ज्ञानं प्रमाणम्” 4

अर्थात् स्व और अपूर्व अर्थ का व्यवसायात्मक (निश्चयात्मक) ज्ञान ही प्रमाण है। प्रमाण का यह लक्षण अन्य दर्शन सम्मत प्रमाण लक्षण का खण्डन करता है और इसका प्रत्येक पद साभिप्राय है। उक्त लक्षण में ‘स्व’ पद का प्रयोग परोक्ष ज्ञानवादी मीमांसक, ज्ञानान्तर प्रत्यक्षवादी यौग और अस्वसंवेदन ज्ञानवादी सांख्यों की मान्यता का निराकरण करने के लिए किया गया है जो ऐसा मानते हैं कि ज्ञान स्वयं को नहीं जानता— अस्वसंवेदी होता है। 5 ‘अपूर्व’ पद का प्रयोग गृहीतग्राही धारावाहिक ज्ञान की प्रमाणता के निराकरण हेतु किया गया है। 6 जैन न्याय में प्रमिति

के प्रति साधकतम नहीं होने से अर्थात् अज्ञान की निवृत्ति नहीं करने से धारावाहिक ज्ञान को प्रमाण नहीं माना है।⁷ 'अर्थ' पद का प्रयोग विज्ञानाद्वैतवादी, पुरुषाद्वैतवादी और शून्यैकान्तवादियों के निराकरण हेतु किया गया है जो बाह्य पदार्थों की सत्ता नहीं मानते हैं।⁸ लक्षण में 'व्यवसायात्मक' पद का प्रयोग बौद्धों के निराकरण हेतु किया गया है जो ज्ञान को प्रमाण मानकर भी निर्विकल्पक प्रत्यक्ष ज्ञान को ही प्रमाण मानते हैं।⁹ 'व्यवसायात्मक' पद के प्रयोग द्वारा संशय-विपर्यय-अनध्यवसाय रूप समारोप की प्रमाणता का भी निराकरण होता है। इस प्रकार के उपर्युक्त लक्षण का प्रत्येक पद साभिप्राय है।

श्री माइल्ल धवल के अनुसार -

गेण्हइ वत्थुसहावं अविरुद्धं सम्मरुव जं गाणं।

भणियं खु सं प्रमाणं पच्चक्खपरोक्खभेएहिं॥१६९॥¹⁰

अर्थात् जो ज्ञान वस्तु के यथार्थ स्वरूप को सम्यक् प्रकार से जानता है उसे प्रमाण कहते हैं।

श्रीमदभिनव धर्मभूषण यति के अनुसार-

'सम्यग्ज्ञानं प्रमाणम्'¹¹ अर्थात् सम्यग्ज्ञान ही प्रमाण है।

इस प्रकार जैन न्याय में ज्ञान को ही प्रमाण माना गया है। ज्ञान को प्रमाण मानने से नैयायिकादिदार्शनिकों द्वारा मान्य सन्निकर्ष कारक साकल्य, इन्द्रियवृत्ति और ज्ञातृव्यापार की प्रमाणता का भी खण्डन किया गया है।¹²

वस्तु को जानने का काम आत्मा में रहने वाले ज्ञान गुण का है। इसलिए प्रमाण शब्द से ज्ञान ही कहा जाता है। ज्ञान को ही प्रमाण मानना इसलिए समीचीन है, क्योंकि उसी के द्वारा पदार्थ का सम्यग्ज्ञान होता है। तथा ज्ञान ही हित की प्राप्ति एवं अहित के परिहार में समर्थ है।¹³ अन्य दार्शनिकों ने सन्निकर्ष अथवा इन्द्रिय व्यापार को प्रमाण माना है, परन्तु इसे मुख्य प्रमाण न समझना चाहिए क्योंकि ये तो मुख्य प्रमाण के कारण हैं, स्वयं मुख्य प्रमाण नहीं है। मुख्य प्रमाण वही है जो पदार्थ के जानने में अन्तिम कारण हो। उपर्युक्त इन्द्रियादिक अन्तिम कारण नहीं है, क्योंकि इन्द्रियादिक जड़ है। इनका व्यापार होने पर भी अगर ज्ञान का व्यापार न हो तो हम पदार्थ को नहीं जान सकते। जब इन्द्रिय व्यापार के बाद ज्ञान पैदा होता है, तब वही अन्तिम कहलाया, इन्द्रिय व्यापार नहीं, इसलिए इन्द्रिय व्यापार आदि को गौण या उपचरित प्रमाण मानना चाहिए।¹⁴ वास्तविक प्रमाण सम्यग्ज्ञान ही है।

ज्ञान को प्रमाण मानने पर ज्ञान के फल का अभाव असिद्ध ही है क्योंकि पदार्थ के ज्ञान होने पर प्रीति देखी जाती है। यद्यपि आत्मा ज्ञान स्वभाव है तो भी वह कर्मों से मलीन है। अतः इन्द्रियों के आलम्बन से पदार्थ का निश्चय होने पर उसके जो प्रीति उत्पन्न होती है वही प्रमाण का फल कहा जाता है। अथवा उपेक्षा या अज्ञान का नाश प्रमाण का फल है। राग-द्वेष रूप परिणामों का नहीं होना उपेक्षा है और अन्धकार के समान अज्ञान का दूर हो जाना अज्ञाननाश है। सो ये भी प्रमाण के फल हैं।¹⁵

जीवादिपदार्थों के ज्ञान में प्रमाण को कारण मानने पर उस प्रमाण के ज्ञान के लिए अन्य प्रमाण को कारण मानने की आवश्यकता ही नहीं है, क्योंकि प्रमाण पदार्थों को भी जानता है और अपने को भी जानता है। जैसा कि आचार्य अमित गति जी लिखते हैं—

ज्ञानमात्मानमर्थं च परिच्छिन्ते स्वभावतः।

दीप उद्योतयत्यर्थं स्वस्मिन्नान्यमपेक्षते॥¹⁶

ज्ञान आत्मा को, पदार्थ—समूह को स्वभाव से ही जानता है। जैसे दीपक स्वभाव से अन्य पदार्थ—समूह को प्रकाशित करता है, वैसे अपने प्रकाशन में अन्य पदार्थ की अपेक्षा नहीं रखता—अपने को भी प्रकाशित करता है। अर्थात् जिस प्रकार घटादि पदार्थों के प्रकाश करने में दीपक हेतु है और अपने स्वरूप के प्रकाश करने में भी वही हेतु है, इसके लिए प्रकाशान्तर नहीं दूढ़ना पड़ता। उसी प्रकार प्रमाण भी है और यदि प्रमेय के समान प्रमाण के लिए अन्य प्रमाण माना जाता है तो स्व का ज्ञान नहीं होने से स्मृति का अभाव हो जाता है और स्मृति का अभाव हो जाने से व्यवहार का लोप हो जाता है।¹⁷ ज्ञान की स्व पर—प्रकाशता का वर्णन देशनाकार ने अपने शब्दों में इस तरह किया है—“अर्थ से आलोक से उत्पन्न नहीं होने पर भी, प्रदीप के समान जैसे दीपक पदार्थ से उत्पन्न नहीं हुआ। पर को भी प्रकाशित कर रहा है, स्व को भी प्रकाशित कर रहा है। ऐसे ही मेरी आत्मा का जो ज्ञान गुण है, वह नट का खेल नहीं है। दीपक की ज्योति है। दीपक स्वयं को भी प्रकाशित करता है और पर को भी प्रकाशित करता है। ऐसे ही सम्यग्ज्ञान आत्मगुण को भी प्रकाशित करता है और पर पदार्थों को भी प्रकाशित करता है।”¹⁸

उपर्युक्त विवेचन का निष्कर्ष यही है कि ज्ञान को ही सर्वत्र प्रमाण मानना चाहिए। यहाँ पर विशेष ध्यातव्य यह है कि जब प्रमाण को ज्ञान स्वरूप माना है तब ज्ञान और प्रमाण में कुछ विशेषता है या नहीं। प्रथम विशेषता तो यह है। ज्ञान कथंचित् प्रमाण है और कथंचित् अप्रमाण है।¹⁹ प्रमाण अपने विषय में प्रमाण रूप है

पर-विषय में अप्रमाण रूप है। घट ज्ञान, घट विषय में प्रमाण है तथा परादि विषयों में अप्रमाण। इस प्रकार एक ही ज्ञान विषय भेद से प्रमाण भी है तथा अप्रमाण भी। स्याद्वादियों के यहाँ एक ही वस्तु में भिन्न-भिन्न अपेक्षाओं से विरोधी धर्म मानना बाधित नहीं होता।²⁰

अन्य विशेषता यह है कि ज्ञान, सच्चा भी होता है और झूठा भी होता है। सच्चा ज्ञान प्रमाण कहलाता है झूठा ज्ञान नहीं। इसलिए ज्ञान व्यापक है और प्रमाण व्याप्य है। इन दोनों में व्याप्य व्यापक सम्बन्ध मानना चाहिए। इसी तरह का व्याप्य-व्यापक सम्बन्ध ज्ञप्ति और प्रमिति में, ज्ञेय और प्रमेय में, ज्ञाता और प्रमाता में भी है। ज्ञप्ति, ज्ञेय और ज्ञाता, सम्यक् और मिथ्या दोनों तरह के होते हैं इसलिए व्यापक है। प्रमिति, प्रमेय और प्रमाता सच्चे ही होते हैं, इसलिए व्याप्य हैं।²¹

यहाँ प्रमिति, प्रमाता और प्रमेय का भी स्वरूप समझ लेना चाहिए। प्रमाण के द्वारा जो क्रिया (जानना) होती है उसे प्रमिति अथवा प्रमा कहते हैं। प्रमिति, प्रमाण के द्वारा पैदा होती है, इसलिए प्रमाण का साक्षात् फल प्रमिति ही है। इसी को अज्ञान निवृत्ति भी कहते हैं। प्रमाण का आधार अथवा कर्ता (जानने वाला व्यक्ति) प्रमाता कहलाता है। प्रमाण के द्वारा जो पदार्थ जाना जाता है उसे प्रमेय कहते हैं। जैन दर्शन में सामान्य-विशेषात्मक पदार्थ ही प्रमाण का विषय अर्थात् प्रमेय है।²² सामान्य-विशेषात्मक पदार्थ ही प्रमाण का विषय है, क्योंकि वही अर्थ क्रिया में समर्थ है।²³ केवल सामान्य रूप या केवल विशेष रूप अर्थ अर्थक्रिया में समर्थ नहीं हो सकता-अर्थात् केवल सामान्य रूप या केवल विशेष रूप पदार्थ की सत्ता ही सिद्ध नहीं होती है। सामान्य तिर्यक् और उर्ध्वता के भेद से दो प्रकार का तथा विशेष भी पर्याय और व्यतिरेक के भेद से दो प्रकार का होता है। यहाँ विस्तार भय से उनका नामोल्लेख ही किया गया है।

ज्ञान-ज्ञेय के संदर्भ में विशेष ज्ञातव्य यह है कि आत्मा को ज्ञान-प्रमाण और ज्ञान को ज्ञेय प्रमाण बतलाया गया है। ज्ञेय चूंकि लोक-अलोक रूप है अतः ज्ञान सर्वगत है अर्थात् सारे विश्व में व्याप्त होने के स्वभाव को लिए हुए है।²⁴

तात्पर्य यह है कि पर्याय दृष्टि से आत्मा जिस प्रकार स्वदेह-परिमाण है, गुणदृष्टि से उसी प्रकार स्वज्ञान - परिमाण है। आत्मा ज्ञान से छोटा या बड़ा नहीं होता है। क्योंकि आत्मा को ज्ञान से बढ़ा मानने पर आत्मा का वह बढ़ा हुआ अंश ज्ञान शून्य जड़ हो जायेगा और आत्मा को ज्ञान से छोटा मानने पर आत्म प्रदेशों के बाहर स्थित ज्ञान-गुण गुणी के आश्रय बिना ठहरेगा और गुण गुणी (द्रव्य) के

आश्रय बिना नहीं रहता अतः आत्मा ज्ञान-प्रमाण ही है। यदि आत्मा से ज्ञान अथवा ज्ञेय को अधिक माना जाये तो आत्मा और ज्ञान में लक्ष्य - लक्षण भाव नहीं बन सकता।²⁵ जैसे दूध में पड़ा हुआ इन्द्र नीलमणि अपने तेज से दूध को सब ओर से व्याप्त कर लेता है-अपनी प्रभा जैसा नीला बना लेता है- उसी प्रकार ज्ञेय के मध्यस्थित ज्ञान अपने प्रकाश से ज्ञेय समूह को पूर्णतः व्याप्त कर उसे प्रकाशित करता है। अर्थात् अपना विषय बनाता है।²⁶ तात्पर्य यह है कि जैसे दूध से भरे हुए किसी बड़े पात्र में इन्द्रनीलमणि डाला जाता है तो वह अपनी प्रभा से दूध को नीला कर देता है उसी प्रकार ज्ञेयों के मध्य में स्थित हुआ केवल ज्ञान भी अपने तेज से अज्ञान - अंधकार को दूर कर समस्त ज्ञेयों में ज्ञेयाकार रूप से व्याप्त हुआ उन्हें प्रकाशित करता है। जिस प्रकार आँख रूप को ग्रहण करती हुयी रूपमय नहीं हो जाती। उसी प्रकार ज्ञान ज्ञेय को जानता हुआ ज्ञेयरूप नहीं हो जाता।²⁷ अर्थात् ज्ञान जिस पदार्थ को जानता है। उस पदार्थ के रूप नहीं हो जाता, जैसे कि आँख जिस रंग रूप को देखती है उस रूप स्वयं नहीं हो जाती। सारांश यह है कि देखने और जानने का काम तद्रूपपरिणमन का नहीं है। विशेष यह है कि जिस प्रकार चुम्बक पाषाण दूरस्थित दूसरे लोहे को स्वभाव से अपनी ओर खींच लेता है उसी प्रकार केवल ज्ञान भी क्षेत्र और काल की अपेक्षा दूरवर्ती पदार्थों को अपनी ओर आकर्षित कर उन्हें निकटस्थ वर्तमान की तरह जानता है, यह उसका स्वभाव है।²⁸

इस प्रकार प्रमाण-प्रमेय / ज्ञान-ज्ञेय के स्वरूप की भलीभांति विवेचना के पश्चात् स्वरूप देशना में उल्लिखित प्रमाण-प्रमेय / ज्ञान - ज्ञेय के कतिपय प्रसंगों पर दृष्टिपात करते हैं-

ज्ञान की उपयोगिता प्रयोजनता और औचित्यनिष्ठता का प्रतिपादन करते हुए स्वरूप देशनाकार कहते हैं-

"जिससे तत्त्व का बोध हो, जिससे वित्त का निरोध हो, आत्मा का शोध हो, उसे जिनेन्द्र के शासन में ज्ञान कहा है। भेद से अभेद की ओर ले जाए, खण्ड से अखण्ड की ओर ले जाए, उसका नाम सम्यग्ज्ञान है। हमारी समाज की अखण्डता को खण्ड-खण्ड करना ज्ञान नहीं है। ज्ञानी! खण्ड-खण्ड परिणामों को अखण्ड कर दे उसका नाम सम्यग्ज्ञान है। टूटे हृदयों को जोड़ दे उसका नाम सम्यग्ज्ञान है। जो दर्शन को भी निर्मल रखे, ज्योतिर्मय करे चारित्र्य को भी ज्योतिर्मय करे उसका नाम ज्ञान है। ज्ञान नहीं होगा तो ध्यान भी नहीं होगा। ध्यान नहीं होगा तो निर्वाण भी नहीं होगा। ज्ञान से ध्यान होता है और तब ही ध्यान से निर्वाण होता है"।²⁹

“वह ज्ञान ‘ज्ञान’ नहीं है जिस ज्ञान से अहित का परिहार नहीं है। वही ज्ञान ‘ज्ञान’ है जिससे अहित का परिहार है।”³⁰

“वह ज्ञान अज्ञान भूत है जो ज्ञान विनय से शून्य कर दे और मद को उत्पन्न करा दे। गुण प्राप्त हुआ है वह गुणी की पहचान के लिए होता है वह गुणी के विनाश के लिए नहीं होता है।”³¹

पदार्थों को जानने मात्र से दुःख नहीं होता है।

“बहिःप्रमेय में कष्ट है, बहिः प्रमेय में राग है, बहिः प्रमेय में द्वेष है, बहिः प्रमेय में सम्पक् मिथ्यात्व है। भाव प्रमेय तो एक अवाच्य है। भाव प्रमेय में क्या देखता है? ज्ञान से ज्ञाता ज्ञेय को जब निहारता है, राग द्वेष को गौण करके, तब मात्र-सुख भी सत् रूप है, दुःख भी सत् रूप है। दोनों की सत्ता स्वीकारिए। दोनों पुण्य-पाप पदार्थ हैं। शुभाशुभ आस्रव भाव भी पदार्थ हैं, तत्त्व भी पदार्थ हैं। पदार्थ को पदार्थ रूप में देखिए। पदार्थ में प्रवेश क्यों करते हो? जो दुःख को दुःख रूप देखता है वही दुःखी होता है। जो दुःख को दुःख रूप नहीं देखता वह दुःखी नहीं होता।”³²

वस्तु को ज्ञेय बनाकर देखो, वस्तु को रागमय मत देखो। वस्तु में ज्ञेयत्व को निहारिए, वस्तु में रागत्व को मत निहारिए। जानना – देखना यह बंध का कारण नहीं है। जानने-देखने में लीन होना, ये बंध का कारण है। जैसे मुट्ठी में रखा जहर मृत्यु का कारण नहीं होता, लेकिन मुख में रखा जहर मृत्यु का कारण होता है।³³

शान्तिमय गृहस्थ जीवन यापन करने का प्रबंधन मंत्र देते हुए देशनाकार कहते हैं-

“आज से कभी अपने ज्ञान को पर ज्ञेय में मत लगाना। छोटी-छोटी बातों को लेकर घर में विसंवाद करके घर का वातावरण अशुभ मत करना और अपने परिणामों को अशुभ मत करना।”³⁴

हम सब भी अपने ज्ञान का ज्ञेय शुभ विषयों को बनाते हुए क्रमशः शुद्ध को ज्ञेय बनाकर ज्ञान, ज्ञाता और ज्ञेय की अभिन्नत्व दशा को प्राप्त कर सकें यही इस आलेख की फलश्रुति होगी।

॥ इति ॥

संदर्भ सूची

1. सर्वार्थ सिद्धि 2/10/171 भारतीय ज्ञानपीठ
लघीयस्त्रय/52
2. प्रमाण मीमांसा, वृत्ति, 1/1/1
प्रमेय रत्नमाला, सूत्र 1/1
3. परीक्षामुख सूत्रम्, 1/1
4. 'परोक्षज्ञानवादिनां मीमांसकानामस्वसंवेदन ज्ञानवादिनां सांख्यानां ज्ञानान्तर
प्रत्यक्षवादिनां यौगानाञ्च मतमपाकर्तुं स्वपदोपादानम् । प्रमेयरत्नमाला, सूत्र
1/1
5. 'अस्य चापूर्वविशेषणं गृहीतग्राहिधारावाहि ज्ञानस्य प्रमाणता—
परिहारार्थमुक्तम् । प्रमेयरत्नमाला 1/1
6. 'न ह्येतेषां प्रमितिं प्रति साधकतमत्वम् । न्यायदीपिका, 1/15
7. तथा बहिरर्थापहनोत्तृणां विज्ञानाद्वैतवादिनां, पुरुषाद्वैतवादिनां
पश्यतोहराणां शून्यैकान्तवादिनांच विपर्यास व्युदासार्थमर्थ — ग्रहणम् ।
प्रमेयरत्नमाला 1/1
8. 'तथा ज्ञानस्यापि स्वसंवेदनोन्द्रिय मनोयोगिप्रत्यक्षस्य निर्विकल्पकस्य
प्रत्यक्षत्वस्य प्रामाण्यं सौगतैः परिकल्पितं, तन्निरासाथे व्यवसायत्मक
ग्रहणम्' । प्रमेयरत्नमाला 1/1
9. नयचक्र (माइल्ल धवल विरचित) गाथा— 109
10. न्यायदीपिका 1/8
11. 'ज्ञानमिति विशेषणमज्ञान रूपस्य सन्निकर्षादनैयायिका— दिपरिकल्पितस्य
प्रमाणत्वव्यवच्छेदार्थमुक्तम् ।'
प्रमेयरत्नमाला 1/1
12. 'हिताहित प्राप्ति परिहारा — समर्थं हि प्रमाणं ततो ज्ञानमेव तत् ।'
परीक्षामुख सूत्रम् 1/3
13. साहित्य रत्न दरबारी लाल न्यायतीर्थ, 'न्यायप्रदीप'
पृ० 08 (प्रकाशक— साहित्य रत्न कार्यालय, मुंबई)
14. सर्वार्थसिद्धि 1/10/170
15. योगसार प्राभृत — 24
16. सर्वार्थसिद्धि 1/10/171
17. स्वरूप देशना— पृष्ठ— 137

19. पं० जवाहर लाल जैन, सिद्धान्तशास्त्री - 'स्याद्वाद' पृष्ठ 123
20. षड्दर्शन समुच्चय / पृष्ठ 365/ज्ञानपीठ (सम्पादन अनुवाद- पं० महेन्द्र कुमार न्यायाचार्य)
21. पं० दरबारी लाल, 'न्याय प्रदीप' पृ० 12
22. (क) 'सामान्य विशेषात्मा तदर्थो विषयः।' परीक्षामुखसूत्रम् 4/1
(ख) प्रमाणस्य विषयो द्रव्य पर्यायात्मकं वस्तु।
प्रमाणमीमांसा, सूत्र 1/1/31
23. 'अर्थक्रिया सामर्थ्यात्।' प्रमाणमीमांसा, सूत्र 1/1/31
24. ज्ञानप्रमाणमात्मानं ज्ञानं ज्ञेयप्रमं विदुः।
लोकालोकं यतो ज्ञेयं ज्ञानं सर्वगतं ततः ॥ 19 ॥ योगसारप्राभृत
25. यद्यात्मनोऽधिकं ज्ञानं ज्ञेयं वापि प्रजायते।
लक्ष्य-लक्षण भावोऽस्ति तदानीं कथमेतयोः ॥20॥ योगसारप्राभृत
26. क्षीरक्षिप्तं यथा क्षीर मिन्द्र नीलं स्वतेजसा।
ज्ञेयक्षिप्तं तथा ज्ञानं ज्ञेयं व्याप्नोति सर्वतः ॥21॥ योगसारप्राभृत
27. चक्षुर्गृह्यथा रूपं रूपरूपं न जायते।
ज्ञानं जानन्तथा ज्ञेयं ज्ञेयरूपं न जायते ॥ 22 ॥ योगसारप्राभृत
28. दवीयांसमपि ज्ञानमर्थं वेत्ति निसर्गतः।
अयस्कान्तः स्थितं दूरे नाकर्षति किमायसम् ॥23॥
योगसारप्राभृत
29. स्वरूप देशना, पृ० 116
30. वहीं, पृ० 121
31. वहीं, पृ० 124
32. वहीं, पृ० 210
33. वहीं, पृ० 317
34. वहीं, पृ० 104

मिथ्यात्व की करामातः स्वरूप देशना के आलोक में

डा० शेखरचन्द्र जैन—अहमदाबाद
प्रधान संपादक "तीर्थंकर वाणी"

सूज्य आचार्य श्री, विद्वत्गण एवं जिज्ञासु श्रोता श्रावकगण!

यद्यपि किसी भी आलेख के प्रारंभ में संबोधन लिखना आवश्यक नहीं—पर कुछ विशेष प्रयोजन से लिख रहा हूँ। हम अध्ययन—मनन कर रहे हैं स्वरूप संबोधन या स्वरूप देशना की और मिथ्यात्व की करामात को खोज रहे हैं। वैसे एक वाक्य में पूरा आलेख यों लिखा जा सकता है कि "मिथ्यात्व की ही यह करामात है कि हम स्वरूप को न तो जान पाते हैं, न उसको कुछ संबोधन कर पाते हैं।" "मिथ्यात्व तो वह पीलिया रोग है जो वास्तविक रंग का पता ही नहीं चलने देता। जितने भी उपदेश या मान्यताएँ जो आत्मा के उन्नयन में सहभागी नहीं वे सब मिथ्यात्व की करामात ही मानो।

परमपूज्य आचार्य भट्ट अकलंक देव ने "स्वरूप संबोधन" ग्रंथ की रचना की उस ग्रंथ रूपी गंगा को आ० विशुद्ध सागर जी ने भगीरथ बनकर अत्यंत सरल भाषा में हमारे सामने अवतरित किया ताकि हम आत्मस्वरूप का अवलोकन, ज्ञान प्राप्त कर, मुक्ति गंगा में अवगाहन कर सकें। यद्यपि मिथ्यात्व तो हमारे जीवन के अणु—अणु में, हमारी हर क्रिया में, कथन में व्याप्त है पर यहाँ हम अपनी बात ग्रंथ के परिप्रेक्ष्य में ही करेंगे।

एक बात और कह दूँ—न तो मूल लेखक की और न टीकाकार आचार्य की मूल भावना मिथ्यात्व की करामात बताना है पर वह समस्त स्थान और भाव जो आगम, आत्मा के लिए उपयोगी नहीं, जहाँ उससे हटकर बात हुयी है वह सब स्वयं मिथ्यात्व के अन्तर्गत समाविष्ट होती है। आ० श्री विशुद्ध सागर जी ने विविध प्रश्नों के उत्तर देते हुए अन्तरमना आत्मा आदि द्रव्यों का विवेचन किया है। अपनी बात को विविध दृष्टांतों द्वारा उपन्यास शैली में समझाना आपकी कुशलता है। पूरी कृति में अनेक वाक्य तो "सूत्रवाक्य" ही बन गये हैं। कृति का आनंद वही उठा पायेगा जो कृति की गहराई में पैठ सकेगा।

प्रथम मंगलाचरण में ही श्रमणों की चर्चा, उनके प्रकार के संदर्भ में उनका निरंतर विहार करते रहना ही योग्य माना है, यदि वे ऐसा न करें तो— "पानी का रूकना पानी के अंदर दुर्गन्ध उत्पन्न करता है। पानी जितना बहता है उतना ही निर्मल रहता है।" (पृ० 2) यहाँ हम पहली मिथ्यात्व की यह करामात देख सकते हैं

कि यदि साधु स्थान—मोही हो जाये तो उसकी निर्मलता मलिनता में बदलने लगती है। साधक को कोई विषय कठिन नहीं होता पर मिथ्यात्व के कारण सभी ओर कठिनाई लगती है, फिर चाहे वह दिगम्बर दीक्षा, विहार, चर्या ही क्यों न हो। (पृ० 2)

बड़े ही उत्तम शब्दों में इस मिथ्यात्व की उस करामात पर प्रहार किया है जो श्रद्धा में छेद कराता है। "ध्यान रखना, कपड़े में छेद हो जाये तो कोई विकल्प मत करना, शरीर में छेद हो जाये तो कोई टेशन नहीं लेना, परन्तु श्रद्धा में छेद न होने पाये" विश्वास में छेद नहीं आना चाहिए। (पृ० 3) बड़कंठ स्वामी तभी तो कहते हैं— "पिय धम्मो, दृढ धम्मो" अर्थात् प्रेम किसी से हो, तो धर्म से हो। पर आज की विडम्बना यह है कि व्यक्ति का धर्म से प्रेम छूटता जा रहा है, या तो वह स्थूल देह, भोगों में सुख ढूँढ़ता है या फिर धर्माभास में जी रहा है। वह "मण्डन से अधिक खण्डन" में लगा है। जैन धर्म की रीढ़ की हड्डी में श्रावक के षट् आवश्यक एवं रात्रि भोजन का निषेध, पानी छानकर पीने का समावेश है, पर यह मिथ्यात्व की ही करामात है कि आज आदमी कहता है कि "हम रात्रि भोजन नहीं छोड़ सकते।" आज जैसे धर्म की क्रिया पालना एक मजाक बनता जा रहा है।

मैं इस ग्रंथ से बाहर निकलकर एक बात आप सबसे और स्वयं से पूछता हूँ, कि पू० आचार्य श्री के इतने अमृत प्रवचन हमने सुने—हमारे अंदर वे कितने फलीभूत हुए? मैं तो आचार्य श्री से पूछूँगा कि इतने प्रवचनों का श्रवण कराने के बाद कभी आपने जानने की कोशिश कि "पत्थर पर कितने निशान बने?" मेरी दृष्टि से प्रवचन सुनकर प्रभाव न होना इसमें मिथ्यात्व की भूमिका अधिक प्रबल है।

देखिए यह काल का प्रभाव जो मिथ्यात्व का काल बन रहा है उसमें "हर दस बारह लोगों के बीच एक देवता आ गया, क्योंकि पंचमकाल में भगवान बनने और देवता लाने में कोई देर नहीं लगती। लेकिन ये झूठे देवता आ गये। लोग तत्त्व से भ्रमित हो गये हैं। देवी-देवताओं के नाम पर और जादू होने के नाम पर तीर्थंकर के शासन की शक्ति को महसूस नहीं हो रही। मन्दिर में भगवान् की पूजा करेंगे और चबूतरे पर जाकर जाने क्या करेंगे? देव मूढ़ता का युग चल रहा है। (पृ० 5) मुझे तो लगता है कि बेचारा भगवान् पृष्ठ भूमि में चला गया और देवी-देवता आगे आकर उन्हें ढँक रहे हैं। हम उस मिथ्यात्व में फँस गये हैं जहाँ हमें अपने तीर्थंकरों से अधिक सद्यः फल देने की लालच में देवी-देवता अधिक पूज्य लग रहे हैं। रत्नकरण्ड श्रावकाचार में स्पष्ट लिखा है कि "भय, आशा, स्नेह और लोभ के वश की जानेवाली पूजा-भक्ति मिथ्यात्व के बंध का कारण है।" पर हम इन सबकी अनदेखी किसके कारण करते हैं? मिथ्यात्व का जोर दिग्भ्रमित करता है। (पृ० 7)

बंधुओ! इतना ध्यान रखना कि मोहनीय कर्म और उससे उद्भवित समस्त विकारों में मिथ्यात्व ही कारण भूत होता है। हमारा नित शरीर, रिशते आदि का ममत्व इसी कारण हुए। यह मिथ्यात्व की ही बलिहारी है कि हम अनेकांत दृष्टि को भूलकर एकांत दृष्टि में फँसते जाते हैं। (पृ० 12-13 का वर्णन) कुबुद्धि के कारण हमारा वाणी का संयम भी हमें किसी जन्म में भाजीमण्डी का कुँजड़ा बना सकता है। (पृ० 15)

आचार्य बड़े ही सुन्दर उदाहरण से समझाते हैं कि चाहे चंदन की लकड़ी हो या बबूल की अग्नि तो दोनों को जलायेगी और दोनों की लपटें हमें भी जला सकती हैं। काषायिक भाव चाहे कर्म के क्षेत्र में करना तब भी तेरा नाश होगा और धर्म के क्षेत्र में करेगा तब भी नाश तेरा होगा। क्योंकि धर्म का नाम अकषाय भाव है और जहाँ कषाय भाव है वहाँ धर्म नाम की वस्तु है ही नहीं। (पृ० 16) आचार्य कहना यह चाहते हैं कि सम्यग्दृष्टि या सच्चे ज्ञानी को अन्य सारे परिकर नहीं दिखेंगे वह तो पूजा में लीन हैं जबकि मिथ्यात्व से प्रेरित जीव पूजा के अलावा सब कुछ देखेगा। यद्यपि वह पूजा कर रहा है। हम तो भगवान् को भी पुनः धरती पर बुलाकर अपना दर्द बताना चाहते हैं, जो सम्भव नहीं। (पृ० 17) फिर अब भगवान् की भक्ति भी फीकी हो गयी। गंदी फिल्मों की धुन पर हम आदिनाथ, महावीर, पार्श्वनाथ, आ० विद्यासागर जी व आ० विशुद्ध सागर जी को बुला रहे हैं। मैं पूछता हूँ कि जब आप उन धुनों को गाते हैं तब क्या आपको सिनेमा का वह गंदा दृश्य नजर नहीं आता? कहीं आप भगवान् के नाम पर फिल्मी धुने गाकर अपनी अन्दर की छिपी वासना की तृप्ति तो नहीं कर रहे?

मिथ्यात्व की यह सबसे बड़ी करामात है कि वह नश्वर देह को अपना समझने की गलती करवाकर आत्मा के सत्य से अवगत नहीं होने देता। देह की नश्वरता से आँख-मिचौनी खिलवाता है (पृ० 23) मैं किसी का पालन करता हूँ या मुझे कोई पालता है यह भी मिथ्या मान्यता है। अहम् का पोषण, धन का अभिमान सभी प्रकार के पद इसी मिथ्यात्व के कारण व्यक्ति में पनपते हैं। मेरे पन की वासना या ऐषणा ही सभी दुखों की जड़ है। (पृ० 28) किसी भी कार्य को न करने के लिए हम बहाना ढूँढ़ते हैं फिर चाहे वह दीक्षा लेने का भाव ही क्यों न हो! (पृ० 29)

वर्तमान में हमारा दुर्भाग्य है कि हमारे कतिपय साधु मंत्र-तंत्र, डोरे-धागे, कालसर्प योग आदि का भय बताते हैं। सर्प का प्रतीक बनवाकर पानी में तर्पण करवाते हैं क्या यह भाव हिंसा और घोर मिथ्यात्व नहीं? क्यों प्रबुद्ध श्रावक और सच्चे मुनि उनका विरोध नहीं करते? अरिहंत का भक्त तो निर्भीक - स्वाभिमानी होता है। वह चमत्कारों से भयभीत या उससे प्रभावित नहीं होता। यह वर्तमान काल में मिथ्यात्व की सबसे बड़ी करामात है कि उसने जैन धर्म को अनेक पंथों, उपपंथों

में बाँट दिया है— बाँट रहा है। इसमें मैं साधुओं का दोष अधिक देखता हूँ। आज शिष्यों को मूढ़ने या संख्या बढ़ाने की होड़ क्या सचमुच वैराग्य के कारण है? साधुओं में फैल रहा शिथिलाचार और श्रावकों में जैन धर्म को जानने के बाद भी फैल रहा व्यभिचार, भ्रष्टाचार किसके कारण है? क्या महँगे कार्यक्रम, साधुओं की प्रसिद्धि की लालसा इसमें कारणभूत नहीं? ध्यान रखना कोई किसी को सुधार नहीं सकता जबतक शुभ कर्मों का उदय नहीं आता। उपदेश भी निरर्थक हो जाते हैं। आ० इतना ही तो पूछते हैं— “जब तू असत्य को सत्य कर रहा होगा, तेरी आत्मा का क्या हो रहा होगा?” (पृ० 35) इसका उत्तर ही तुझे सत्य के पथ पर ले जायेगा।

वर्तमान युग तर्क से अधिक कुतर्क का युग है। युवा वर्ग में जैसे नफरत या अनास्था भर गयी है। वह तर्क या कुतर्क से अपने पिता या दादा से पूछता है कि स्वर्ग क्या है? क्या आपने देखा है? वगैरह (पृ० 35) यह अनास्था का मिथ्यात्व है, और हमारे संस्कारों की कमी भी। आ० कुन्दकुन्द की वाणी तो पढ़िये— “हे जीव! मणि—मंत्र—तंत्र हाथी, घोड़ा— ये सब तेरे पास हों, लेकिन हे मुमुक्षु! मरण के काल में कोई तेरी रक्षा नहीं कर सकता” (पृ० 39) श्रावको! धन—माल की उपलब्धि हथेली के खुजलाने से नहीं, पुण्य कर्म से ही होती है इसे समझना। यह मिथ्यात्व का ही प्रकोप है कि व्यक्ति यह जानता है कि वह पाप कर रहा है— वह फिर भी करता है। व्यापारी चार का चालीस कर पाप से धन कमा रहा है— झूठी कसमें खाता है— कोई अज्ञानता में पाप नहीं करता, बुद्धि पूर्वक कर रहा है..... उसका फल भोगना पड़ता है। (पृ० 41) जिन श्रावकों या जैनियों का मन घर में ताला लगाकर, व्यापार की चिन्ता न कर प्रवचन में लगता था— अब वे घड़ी बाँधकर घड़ी में बँध गये हैं। (पृ० 42)

त्याग हो जाने पर सीताजी ने यही तो कहा था अपने रथ वाहक से कि मेरे पति से कहना कि, “लोकापवाद के कारण मुझे भले ही छोड़ दिया पर धर्म को कभी मत छोड़ना”। पर आज स्वार्थ, लोभ भय व लोकापवाद के कारण पत्नी और धर्म सभी छोड़ रहे हैं।

हम प्रवचनों में सुनते हैं कि विपरीत वृत्ति वाले के प्रति माध्यस्थ भाव रखो— पर क्या अंतर का कषायभाव ऐसा करने देता है? यह किसका प्रभाव है? मिथ्यात्व का ही न कैसी विडंबना है— मैय्या सुनो कुछ ऐसे लोग भी हैं। इधर मंदिर में घंटी बजाते रहते हैं उधर घर में, समाज में क्लेश भी करते रहते हैं, ऐसे यदि मरकर देव भी बनेंगे तो भूत बनेंगे और सताने का काम करेंगे— यह है मिथ्यात्व का प्रभाव। (पृ० 51)

आचार्य और भी गहराई में जाकर समझाते हैं कि जो— “दर्शन से भ्रष्ट ही है। (पृ० 55) यह मानसिक विकृतियाँ मिथ्यात्व की ही करामात समझो कि जिनमूर्ति के

प्रति भी अशुभ भाव आ जाते हैं! मैं तो इस संदर्भ में मानता हूँ कि सम्यग्दर्शन में जो आठ अंग हैं उनमें कांक्षा, शंका, अविचिकित्सा, देव-शास्त्र – गुरु के प्रति अश्रद्धा ये सब इस मिथ्यात्व के उदय से ही होते हैं। मिथ्या दृष्टि जीव सदैव अशुभ क्रिया की मुख से अनुमोदना कर, अन्य को पथभ्रष्ट भी करता है। (भाव पृ० 57) इनका निवारण है सच्चे भाव से जिनवाणी का श्रवण और ग्रहण।

वर्तमान में प्रमाद ही मिथ्यात्व का नया रूप धरकर आया है। यही कारण है कि हम पूजा करने खड़े होते हैं— पर मन में पूज्य भाव नहीं आता। हमें प्रकाल अभिषेक में जल्दी है, साधनों का यथास्थान अच्छी तरह से रखना नहीं आता, हम शास्त्रों को ढंग से नहीं उठाते हैं, न पढ़ते हैं न उनकी रक्षा करते हैं। बस दिखावे की पूजा, स्वाध्याय रह गये हैं। हम तो इतने प्रमादी हो गये कि अब मंदिर में सब कार्य माली या पुजारी करे। धुली द्रव्य मिल जाये, वस्त्र मिल जाये, सब सजा हुआ हो, कोई पूजा पढ़ दे तो हम मात्र दिखावे के लिए द्रव्य चढ़ाते हैं। क्या इसे आप सच्ची पूजा कहेंगे? आत्मा-वात्मा कुछ नहीं यह कहने वाली पीढ़ी पाश्चात्य-भौतिकवादी, क्षणिकवादी, चार्वाकपंथी मिथ्यात्व से घिर गयी है इसके लिए माँ-बाप की सावधानी की कमी, संस्कारों के प्रति उदासीनता और गुरुओं का रूखा व्यवहार भी कारणभूत है। हमारा युवक कभी किसी प्रेरणा या शरम में गुरु के पास पहुँच जाता है तो गुरु उस पर प्रश्नों की तोप दागते हैं; क्या खाते हो..... क्या खाना चाहिए..... फलां नियम लो..... नरक का भय बताने लगते हैं, अतः वह युवक फिर उनकी परछाई में भी नहीं आता। मैं पूछता हूँ कि मिथ्या धारणायें बनने में हमारा दायित्व नहीं है? हमें युवाओं या अज्ञानियों में धर्म के सत्व को उनकी ही भाषा में समझाकर उन्हें अन्तर से श्रद्धावान बनाना होगा। (भाव पृ० 70)

सम्यग्दृष्टि और मिथ्यादृष्टि (दृष्टि अर्थात् देखने का नजरिया) का एक अवतरण देखें— “मन से पूछें कि तुम सुन्दर चेहरे को देख रहे हो तो क्यों देख रहे हो? विश्वास रखना भैया! सुन्दर चेहरे को वही देखता है, जिसका मन असुन्दर हो चुका है। जिसके मन असुन्दर हैं वे सुन्दर चेहरे को देखते हैं। जिनका मन सुन्दर होता है वह न सुन्दर देखता है न असुन्दर” (पृ० 75) यहाँ विकारी और अविकारी भाव की चर्चा है। या ब्रह्म या अब्रह्म पर विचार है। अभेद दृष्टि ही सत्य के करीब ले जा सकती है।

सम्यग्दृष्टि वेद से ऊपर उठकर आत्मा को निहारता है, जबकि मिथ्यादृष्टि उसमें स्त्री-पुरुष, नपुंसक आदि वेद देखता है। इसकी पूरी चर्चा श्लो नं० 3 में की गयी है। (पृ० 83) सम्यग्दृष्टि ध्यानी है और मिथ्यादृष्टि बे ध्यानी। बेध्यानी व्यक्ति यदि झाँझवर है तो हजारों जीवों की मृत्यु का कारण बन सकता है। यह मिथ्यात्व की

ही करामात है कि वह हमें ध्यान से हटाकर वे ध्यान या प्रमादी बनाता है। हमारी श्रद्धा को डगमगाता है। श्रद्धा का कमजोर होना ही सम्यग्दर्शन का अभाव है।

समस्त जीव स्वतंत्र हैं— पर मोहनीय कर्म के कारण जो मिथ्यात्व पनपता है वह सांसारिक संबंधों में बाँधता है, रूलाता है, भटकाता है और निम्नगति का कारण बनाया है। पूरे ग्रंथ में दृष्टि का विचार विविध दृष्टिकोणों से हुआ है। अर्थ का अनर्थ करना हमारी मिथ्या प्रकृति है। कहा है— “पाप – पुण्य मिल दोऊयापन बेड़ी डारी” ज्ञानियों ने कह दिया पाप और पुण्य दोनों बेड़ियाँ हैं— एक लोहे की दूसरी सोने की। बस मिथ्यात्व ने बुद्धि भ्रमित की और हमने पाप करने में हिचक नहीं की और पुण्य से मुँह फेर लिया। इससे कितना अनिष्ट हुआ यह सोचा? हम दोनों बेड़ियों के अर्थ को ही नहीं समझ पाये। होना तो यह था कि पहले पाप छोड़ते और क्रमशः पुण्य से भी मुक्त होकर अमूर्त आत्मा बनते। आचार्य विशुद्ध सागर जी चौथे श्लोक को समझाते हुए कह रहे हैं— “कषायों की लीनता में जो ले जाये वह अज्ञान नहीं, अज्ञानधारा है। मिथ्यात्व की पुष्टि में ले जाये, वह सदबोध नहीं, अज्ञानधारा है। कूटनीति/कुनीति में ले जाये वह अज्ञानधारा है। (पृ० 115) द्रव्य दृष्टि से दूर कर दे और द्रव्य दृष्टि में दृष्टि डाल दे वह अज्ञानधारी है। मिथ्यात्व की यही तो करामात है कि ज्ञानियों को भी ज्ञान के प्रभाव से रोकता है। वह ज्ञानावरण का कारण बन जाता है। ऐसा ज्ञान समाज को विखण्डन करता है। (पृ० 116)

एक उदाहरण देखिए कितना सटीक है— “ए बता! कि तेरे घर में पूड़ियाँ बनी हैं और तू अपना चेहरा देखने गया और तेरा छोटा भैया आया और उसने दर्पण के ऊपर पूड़ी घुमा दी, तो बोल ज्ञानी तेरा चेहरा दिखेगा....? पूड़ी जो स्निग्ध है और स्निग्धता दर्पण पर आ जाये तो चेहरा दिखाई नहीं देता। ऐसे ही भोग जो हैं वे स्निग्ध हैं और भोगी को ध्रुव आत्मा दिखाई नहीं देती। (पृ० 119) इस उद्धरण का भाव आप समझ गये होंगे।

वर्तमान में जो भक्ष्य-अभक्ष्य का ज्ञान लोप हो रहा है या किया जा रहा है इसमें सही ज्ञान की कमी एवं मिथ्यात्व का ही कारण है। वर्तमान कम्प्यूटर की भाषा में कहें तो आज मिथ्यात्व का वायरस हमारे ज्ञान स्वरूप कम्प्यूटर को बिगाड़ रहा है— खुलने ही नहीं देता। (121)— कैसा विचित्र लगता है जब वीतराग का पथिक – दिगम्बर मुद्रा में था। अन्य मुनि या आचार्य दूसरे संघ के वीतरागपंथी को सहन नहीं कर पाता। उनके फोटू उतरवा देता है। यह इस काल के अहम् का ही परिणाम है। मिथ्यात्व का विकास है। आचार्य श्री ने बड़ी निर्भयता से ऐसे साधुओं पर कलम चलाई है। मूलतः सारा खेल दृष्टि क्या है। जब तक दृष्टि में सही बदलाव नहीं आता तब तक सृष्टि के सही दर्शन भी नहीं हो पाते, रंगीन चश्मा बदलना जरूरी है।

जैसे 8 मद व्यक्ति को मिथ्यात्व में धकेलते हैं वैसे ही लोभ चाहे वह संपत्ति का हो, नाम का हो, पद-प्रतिष्ठा का हो या चाहे स्वर्ग-मोक्ष का हो वह सब मिथ्यात्व कषाय के ही विविध रूप हैं। हम मुनि के आहार के लिए वर्तमान परिप्रेक्ष्य में सैंकड़ों रूपये खर्च करते हैं क्योंकि पुण्य का लोभ लगा है— पर एक गरीब को एक रोटी भी देने से कतराते हैं। मैं एक सत्य और कहना चाहूँगा कि हमारे गुरुओं ने ऐसा मेस्मेरीज्म किया है कि भोले श्रावकों को ऐसी घुट्टी मिलती है कि मात्र मंदिर बनवाओ, प्रतिष्ठा कराओ, मुनि विहार—आहार कराओ..... पुण्य की डिग्री लो और स्वर्ग का बीजा तैयार है। वे कमी उन गरीबों की और नहीं देखते जिन्हें चन्द दानों की आवश्यकता है।

“मैंने अपनी अस्पताल में सूत्र वाक्य दिया है— “मृत्यु के द्वार पर पहुँचे व्यक्ति की दवा कराके जीवनदान देना किसी मन्दिर निर्माण से कम पुण्य नहीं और अंधत्व के किनारे खड़े व्यक्ति को नेत्रदान दिलाना किसी पंचकल्याण प्रतिष्ठा से कम कार्य नहीं।” क्या हमारे गुरु ज्ञान की अंजनशलाका से हमारे नेत्र उन्मीलित कर हमें मानव सेवा का मार्ग बतायेंगे या मात्र अपने आहार के पुण्य के ही उपदेश देंगे? मैं मानता हूँ कि आत्मा को परमात्मा बनाने का मार्ग वे प्रशस्त करें, पर मानवता का मार्ग अवरुद्ध न करें।

“आज का ज्ञानी कहना तो बहुत जानते हैं, परन्तु करना भूल गये। इसलिए उनकी बात का असर नहीं होता।” (पृ० 151) इसी कारण सामाजिक मर्यादाओं टूट रही हैं। हम नया करने की होड़ में अपनी प्राचीन संस्कृति को खो बैठे हैं। इसी परिप्रेक्ष्य में निशाचर की नई व्याख्या देखिए— “जो त्यागी, योगी को अतिथि सत्कार किए बिना भोजन कर लेता है वह निशाचर है।” (पृ० 162)

आज मॉडर्न बनने की होड़ में हमने धर्म को ही नकार दिया है। आज हमारे लिए शर्म की बात है कि हम कहते हैं— “हम धर्म-कर्म को नहीं मानते। हम तो रात्रि को खाते हैं— होटल में खाते हैं, सब चलता है।” यह कथन किसी श्रावक के मुँह से निकलना मिथ्यात्व की घोर करामात नहीं तो और क्या है? हमारी भाषा भी तदनुसार विकृत अपमानजनक हो गयी है। (पृ० 171) कन्याओं और युवतियों में अंग प्रदर्शन की विकृति कहाँ से आई? किसका प्रभाव है? क्या यह परोक्ष व्यभिचार नहीं? क्या इसके लिए माँ-बाप जिम्मेदार नहीं? मेकअप हमें बेकअप बना रहा है। आज परदोषारोपण और परछिद्रान्वेषण की वृत्ति वृद्धिगत है। (पृ० 207) अरे शाम को प्रतिक्रमण और दिन को आक्रमण— यह कौन सा धर्म है? आज के युवक को मंदिरजी में पूजा करने में शर्म आती है पर बर्गर, पीजा खाने, डिस्को में जाने में गौरव होता है— क्यों? इसके मूल में हमारी श्रद्धा की कमी या संस्कारों का अभाव।

आज श्रावक ने अपने षट्कार्य क्यों छोड़ दिये? कतिपय मुनि दोपहर की सामायिक श्रेष्ठियों के साथ नए नक्शे बनाने में बिता देते हैं— क्या? यह मिथ्यात्व का कारण नहीं है?

हमारे अन्दर जो कर्तापने का अहम् जाग रहा है वही हमें कर्तव्य विमुख कर रहा है। (श्लोक 10 का सार) उत्तम क्षमा के पत्थर वो फेंक रहा है, पर हृदय में चेहरे पर क्षमा के भाव गायब हैं।

आचार्य 12वें श्लोक में सूत्रवाक्य में जैसे सब कुछ कह देते हैं— “पर्यायदृष्टि नरकेश्वरा, द्रव्यदृष्टि महेश्वरा” अर्थात् जितने नरकेश्वर बनने वाले हैं, वे सब पर्याय में लिप्त मिलेंगे, मिलने ही चाहिए। जिनको नरकेश्वर बनना हो वें सब पर्याय में लिप्त हो जाओ।... यदि परमेश्वर बनना है तो द्रव्य दृष्टि लानी पड़ेगी। ये धन पैसे वाली नहीं, द्रव्यदृष्टि की बात करो। (पृ० 289) वे कहते हैं कि श्रुतज्ञान से धन प्राप्ति संभव है पर विद्याजीवी बनना ही श्रेष्ठ है। आज हमने विद्या का व्यापार डिग्रियों के अहम् को पाल रखा है— इससे भी मुक्त होना होगा तभी मिथ्यात्व छूटेगा।

कुछ ज्ञान के अजीर्ण लोगों पर व्यंग्य देखिए— “तिलोयपण्णाति और षट्खंडागम जैसे ग्रंथों में भी तुम कभी खोजने लग जाओ तो तुम्हारे ज्ञान में शुद्ध अजीर्ण हो गया है। श्री जिनेन्द्र का अभिषेक को जो जड़ क्रिया कहे, जगत में उससे बड़ा पापी कौन हो सकता है? श्रावक की क्रिया है, छूट जायेगी तो बेचारा श्रावक करेगा क्या? किसी के द्वेष में इतना मत बह जाना कि अपने ही मूल को खो बैठो। यही हुआ है। दूसरे के द्वेष में इतना ज्यादा बहक गये कि अपने ही घर को बिगाड़ बैठे। (पृ० 305) कहते हैं कि — “घर को ही आग लग गई घर के चिराग से।” मिथ्यात्व की यह करामात होती है कि वह अवर्णवाद को उकसाता है। विपरीत कथन की प्रेरणा देता है। सत्य को सत्याभास बनाने का प्रयत्न कराता है। (पृ० 306)

देखिये जैनधर्म का एक नियम भी कितना दृढ़ माना गया है— पद्मचरित्र में लक्ष्मणजी का यह कथन— “लक्ष्मणजी ने गुणमाला से कहा था— “हे देवी! यदि मैं वापिस नहीं आऊँ तो मुझे वह दोष लगे जो रात्रि के भोजन करने वाले को लगता है और विश्वास रखो यदि मैं वापिस नहीं आया तो मैं पंचमकाल का मनुष्य बनूँ। (पृ० 308) कितनी स्वच्छ थीं हमारी जैन क्रियायें और आज कितनी दूषित?

अरे मिथ्यात्व तो ऐसे पाँव पसारेंगा कि मुनियों पर भी टैक्स लगेगा। (पृ० 310) अरे! इस पंचम काल में उत्तम कार्य करने वालों की निन्दा करने वालों की कमी नहीं। ऐसे लोग देव—शास्त्र गुरु की निन्दा व अवर्णवाद फैलाते ही हैं। पर हमें भी ध्यान रखना होगा कि हम दोषों से बचें। अपने अंतर—बाह्य को द्वैत न बनायें। (पृ० 313)

जब मिथ्यात्व का पटल दूर होगा तभी हम प्रभु से यह माँग सकेंगे कि "हैं स्वामी! सब कुछ मिले, लेकिन डाह किसी को न मिले, ईर्ष्या न मिले। (पृ० 313) अरे! मिथ्यात्व की करामात आज की नहीं है भगवान् ऋषभदेव के समवसरण से भी मरीचि जैसे लोग भाग गये थे। मिथ्यात्व के प्रचार में पंथ बनाये। भव-भव तक गति - भ्रमण किया।

दृष्टि की पवित्रता ही सुन्दर दर्शन कर पाती है। यदि छोटे दर्शन में चित्त लगा और आयु बंध हो गया तो भव-भव में कुगति में भटकना पड़ेगा। यही कारण है कि पंचेन्द्रिय के विषयों से बँधा जीव मृत्यु को ही प्राप्त होता है। एक-एक इन्द्रिय का दुख ही भयानक है फिर पाँचों इन्द्रियों के असंयमी का क्या होगा?

आचार्यश्री 15 वे श्लोक में अच्छे श्रावक व्यक्ति बनने के फार्मूले देते हैं यदि वे जीवन में उतर जायें तो सचमुच कल्याण हो। (पृ० 329) वर्तमान में व्याप्त शिथिलाचार, विवेकहीनता की ओर इशारा किया है। (पृ० 338) देखिए मिथ्यात्व का प्रभाव- "जब भगवान् की वाणी का पानी गिर रहा था तब हमारे आत्मा के बीज उल्टे गड़े हुए थे, सो पंचमकाल में आ गया। अभी भी हमारी बात मान लो तो छटवें काल से बच पाओगे।" (पृ० 334)

समय के मूल्य को समझो उसे बर्बाद होने से बचाओ। पर को धोने में तूने कितना समय निकाला है? निज को धोने में निकाल लेता तो भगवान् बन जाता। (पृ० 338) जिनेन्द्र की वाणी सुनने से मन के विषय - कषायों के नाग भी ढीले पड़ जाते हैं। (पृ० 340) हम मिथ्यात्व के कारण अपनी पहाड़ सी गलती को राई सी समझते हैं और दूसरों की राई सी गलती पहाड़ सी लगती है। मुमुक्षु सोच समझ - तन का कोढ़ी तो मौक्ष जा सकता है पर मन का कोढ़ी नहीं जा सकता। तन का कोढ़ मन के कोढ़ का कार्य है, कारण तो मन का कुष्ट है। (पृ० 342) यह मन का कुष्ट ही तो मिथ्यात्व है।

पर छिद्रान्वेषण से छूटने पर ही आत्मदर्शन होंगे। (पृ० 347) जब पुण्य क्षीण होते हैं तब मिथ्यात्व का प्रवेश होने लगता है और विचारों में क्षीणता आने लगती है। बुद्धि पलायन करती है आदि.... (पृ० 348)

आचार्य श्री ने प्रवचन की महत्ता को कई स्थानों पर या कहीं पूरे ग्रन्थ में महत्वपूर्ण माना है। सच्चे मन से श्रवण करने वाला ही मन से मुस्करा सकता है। (पृ० 353) दुर्भाग्य यह है कि हमने पवित्र मन को विषयों का घूरा बना लिया है। उसे दूर करना होगा। उन्मार्ग का त्याग करना होगा, अन्यथा सन्मार्ग प्राप्त नहीं होगा। हमें देह के पिंजड़े से स्वतंत्र होना है। (पृ० 359)

सामाजिक मिथ्यात्व पर भी आचार्य श्री विचार प्रस्तुत करते हुए सूतक-पातक के निषेध करने को ठीक नहीं मानते। (पृ० 365)

इतनी विवेचना या ग्रंथ के आधार पर चर्चा करने से इतना फलित हुआ कि मिथ्यात्व की करामात की करामात से व्यक्ति पंच पापों में फँसता है, दर्शन-ज्ञान चरित्र के प्रति असावधान बनता है। देव-शास्त्र गुरु से श्रद्धा हट जाती है। आधुनिकता के चक्कर में संस्कृति का नाश होता है। व्यक्ति अष्टमद में मस्त होने लगता है। उसके संस्कार नष्ट होते हैं। उसकी सामाजिकता में न्यूनता आने लगती है। व्यक्ति में पनप रहा द्वेष, ईर्ष्या इसके कारण है। पुण्य का लोभ भी उसे स्वार्थी बना रहा है।

श्रावक ही नहीं हमारा साधु वर्ग भी शिथिलाचारी, पंथवादी, प्रतिष्ठा का भूखा हो रहा है। आत्मस्वरूप को बिसरा रहा है। परद्रव्य से प्रीति सबकी बढ़ रही है।

यों कहूँ कि - "सत् गुरु देव जगाय, मोह नींद जब उपशमै।" यह मोह की नींद नहीं टूट रही है उसे ही तोड़ने का प्रयत्न ये प्रवचन है।

कृति की समीक्षा की दृष्टि से देखें तो आचार्य श्री ने अनेक प्रश्नों को विविध रूपों से समझाने का प्रयत्न किया जिससे पुनरावर्तन अधिक हुआ है उसी कारण से हमारे आलेख में भी बहुत पुनरावर्तन मिलेगा।

एक वाक्य में "जो आत्मा को आत्मसुख के अनुभव से वंचित करे वह सब मिथ्यात्व है" यही सार है।

श्लोक 21 में आचार्य स्वयं कहते हैं - "आत्मदर्शन का कोई साधन है तो वह स्वरूप संबोधन है। यदि स्वरूप का संबोधन नहीं किया तो दर्शनों का संबोधन कोई कार्यकारी नहीं।... स्वरूप संबोधन का तात्पर्य निज आत्मा को निज आत्मा से समझना है। निज आत्मा से निज आत्मा को समझालना ही स्वरूप संबोधन है।... अपने में राग और दूसरों में द्वेष मत करो यही तो स्वरूप संबोधन है।

अंत में बुन्देलखण्ड की एक बात कहूँ जो मिथ्यादृष्टि की व्याख्या है उससे उल्टा सब सम्यग्दृष्टि है—

"मिथ्यादृष्टि जीव को शास्त्र कभी न सुहाय।

कै ऊँघै कै लर परै, कै उठ घर को जाये॥

आचार्य श्री की इस टीका पर सहज ही 40-50 पृष्ठ लिखे जा सकते थे पर समय और शक्ति की मर्यादा से जो फूल चुन सका उसी का गुलदस्ता प्रस्तुत है। पूरे बगीचे का आनन्द तो, पूरे ग्रंथ के अध्ययन से ही प्राप्त होगा।

स्वरूप संबोधन (स्वरूप देशना) में द्वैत अद्वैत भाव

—पं० राजेन्द्र कुमार 'सुमन', सागर (म०प्र०)

एक ही समय में द्रव्य कथञ्चित विधिरूप है, कथञ्चित निषेधरूप है। कैसे? स्वधर्म की अपेक्षा वस्तु विधिरूप है, परधर्म की अपेक्षा से वस्तु निषेधरूप है। स्वद्रव्य, स्वक्षेत्र, स्वकाल, स्वभाव की अपेक्षा से अस्तिरूप है और परद्रव्य, परक्षेत्र, परकाल, परभाव की अपेक्षा से मैं नास्ति रूप हूँ। ये पुद्गल द्रव्य है, स्वचतुष्टय की अपेक्षा से अस्तिरूप। ये जीव है क्या? नास्ति रूप। एक ही द्रव्य में एक समय में विधि भी है, निषेध भी है। आत्मा मूर्तिक भी है, अमूर्तिक भी है। बोध मूर्ति, ज्ञानमूर्ति की अपेक्षा से आत्मा अमूर्तिक है। स्पर्श, रस, गंध, वर्ण का अभाव होने से आत्मा अमूर्तिक है। इसलिए स्याद् मूर्तिक, स्याद् अमूर्तिक। संसारी आत्म भी बंध की अपेक्षा मूर्तिक है, निर्बंध स्वभाव की अपेक्षा से अमूर्तिक है। आप लोग क्या हो? बंध दृष्टि से मूर्तिक हूँ और अबंध स्वभाव से अमूर्तिक हूँ। इसलिए हमारी आत्मा अनेकांतमयी है। तत्त्व को समझें। यह स्वरूप है।

प्रश्न है कि यह आत्मा विधिरूप है या निषेधरूप है? मूर्तिक है या अमूर्तिक है? तो आचार्य देव सर्वथा भाववादी व अभाववादीयों को लक्ष्य कर कहते हैं—

स स्याद्विधिनिषेधात्मा, स्वधर्म—परधर्मयोः।

समूर्तिर्बोधमूर्तित्वादमूर्तिश्च विपर्यययात्॥

अर्थ: वह आत्मा स्व—धर्म और पर—धर्म में विधि और निषेध—रूप होता है वह ज्ञानमूर्ति होने से मूर्तिरूप/साकार है और विपरीत रूप वाला होने से अमूर्तिक है।

आचार्य भगवान् अकलंक स्वामी 'स्वरूप संबोधन' ग्रंथ में आत्मा की परम सत्ता का कथन कर रहे हैं। जो अवाच्यभूत है, वाच्यभूत है। कितना गहरा है तत्त्व का चिंतन, कि जिसे आत्मभूत मान बैठा था, उसे अकलंक स्वामी अंश भी स्वीकार नहीं कर रहे हैं। आचार्य अकलंक स्वामी स्वीकार नहीं कर रहे, इसलिए ऐसा नहीं है। वस्तु का स्वरूप ऐसा है, अकलंक स्वामी वैसा कह रहे हैं। कुछ लोगों का चिंतन होता है कि आचार्य महाराज का नाम ले लिया तो इन आचार्य का ऐसा मत होगा। ये आचार्य का मत नहीं है। जैसी वस्तु व्यवस्था है, उस वस्तु व्यवस्था का आचार्य महाराज ने कथन किया है।

ये क्षायोपशमिक ज्ञान है कि एक ही पदार्थ पर, किस जीव का चिन्तन कहाँ पहुँच जाए। इसमें आप ये तुलना नहीं करना कि कुन्दकुन्द स्वामी ने क्यों नहीं कहा?

स्वरूप देशना विमर्श

अमृतचन्द स्वामी ने क्यों नहीं कहा?

कभी—कभी एक ही द्रव्य को देखकर दस व्यक्ति दस दृष्टि रखते हैं। दृष्टियाँ भिन्न—भिन्न होने पर भी वस्तु अभिन्नरूप से अनंतरूप है। जैसे कि एक पुरुष को दस व्यक्ति देख रहे हैं। एक मातुल कहकर पुकार रहा है, तीसरा जनक कह रहा है, चौथा बेटा कह रहा है, पाँचवा दादा कह रहा है, छठा नाना कह रहा है। ये पुरुष में भेद हैं कि देखने वाले की दृष्टि में भेद हैं।

क्या दृष्टि के भेद से पुरुष में वह धर्म नहीं? हमारे ज्ञानी लोग जो सदियाँ लगाकर, आचार्य का नाम लेकर ऐसा बोल देते हैं कि अमुक आचार्य का अभिप्राय ऐसा है, परन्तु वास्तविकता की ओर निहारें। ये आचार्य का अभिप्राय नहीं है, ये आचार्य ने सत्य को अपने ज्ञान से इतना जाना है। पुनः ध्यान दो, ज्ञानी! ये है लेखनी। पैर देखा आप सभी ने एक ही समय में। इसका वर्ण कैसा है? सफेद, पीला। बस, हमारे तत्त्व का निर्णय हो गया। वर्ण इसका जैसा है, वैसा ही है, लेकिन देखने वाले ने अपनी आँखों से क्षयोपशम से जो समीप थे उन्होंने इसे पीला देखा, किसी ने इसे सफेद देखा और जो दूर थे उन्हें काला दिखेगा।

भगवान् सर्वज्ञ से निकली वाणी आज तक, इतने लोगों की आँखों के सामनेसे निकल चुकी है हो सकता है कि किसी जीव ने अभिप्राय खोटा करके वस्तु का विपरीत कथन किया हो। कोई जरूरी नहीं है। आपके जो चश्में हैं, उनके जो नंबर हैं, ये आपसे कुछ कह रहे हैं। एक ही पदार्थ के एक समान होने पर भी, अलग—अलग नम्बर होने से, व्यक्तियों को दूरियों के अनुसार अलग—अलग पदार्थ दिखाई दे रहा है। तात्पर्य समझिये। भगवान महावीर स्वामी के निर्वाण होने के उपरान्त कितनी दूरियाँ हो गयी, प्रत्यक्ष ज्ञान और परोक्ष ज्ञान में। जिसका जैसा क्षयोपशम था उसने जाना तो वस्तु को ही। आपने लेखनी को ही तो बताया, दूसरे पदार्थ का कथन नहीं किया कि आपने अपने क्षयोपशम के अनुसार कथन किया है। अभिप्राय आपका विपरीत नहीं था, लेकिन जितना जैसा देख सकते थे, जान सकते थे, वैसा ही तो बता रहे थे। इसलिए हे वर्द्धमान! आपकी वाणी मेरे पास आते—आते कितने रूप में गुजरी होगी। समझना वस्तु स्वरूप को। इसलिए किसी को असत्य कहने की चेष्टा नहीं कर रहे हैं, न करना। लेकिन यह समझना कि एक ही सभा में नाना पुरुषों ने एक ही द्रव्य को देखा, लेकिन एक ही द्रव्य को देखते—देखते कितने रूप दिखाई दिये, ये दृष्टि का दोष है। दोष कहूँ या ऐसा कहूँ कि ये क्षयोपशम की न्यूनता है। लेकिन हमारे वीतरागी आचार्यों ने जो भी कथन किया है, ये उनका अभिप्राय कहकर के, कभी—कभी अभिप्राय शब्द जोड़ने से मालूम क्या होता है? कि सत्यता

गौण दिखाई देती है। ये तो अमुक आचार्य का अभिप्राय है। ये तो उनका अभिप्राय है, तो क्या वैसी वस्तु नहीं? ऐसा नहीं कहना, कि अकलंक स्वामी का अभिप्राय ऐसा है। वस्तु व्यवस्था ऐसी है, अपने क्षयापशम से उसने जाना। जिस बात को कुन्दकुन्द स्वामी ने नहीं कहा और अकलंक स्वामी ने कह दिया तो क्या अकलंक स्वामी ने अन्यथा कह दिया? नहीं।

अकलंक स्वामी आत्मा को अवाच्य कह रहे हैं। आत्मा अवाच्य है। मैं क्या हूँ? जो मैं हूँ, वह – 'मै' शब्द भी नहीं जानता। जो 'मै' शब्द है, वह पुद्गल की पर्याय है। लेकिन जो मैं हूँ, वह चैतन्य हूँ। जो मैं हूँ उसे 'मै' शब्द भी नहीं जानता। व्याकरण के हजारों नियम शब्दवर्गणा के बारे में ही चर्चा कर सकते हैं, लेकिन ध्रुव आत्मा के ज्ञाता नहीं हैं। शब्द जो हैं पुद्गल की पर्याय हैं, उसको ही इधर से उधर कर पायेंगे, लेकिन आत्मा की ध्रुव सत्ता को कुछ भी करना नहीं जानते। एक नय को थोड़ा गहरे से सुन लो, फिर दूसरे की चर्चा। चाहे पाणिनी व्याकरण हो, चाहे हिन्दी व्याकरण हो, शाकटायन हो या जैनेन्द्र व्याकरण हो, वे सब जड़ शब्दों का व्याख्यान करने वाली हैं। चैतन्य का व्याख्यान करने वाली कोई व्याकरण नहीं है। जिन-जिन के मन में प्रश्न खड़े हो रहे हों, थोड़ा धैर्य से दबा कर रखना। एक भी व्याकरण आत्मा का वर्णन नहीं करती। जो शब्द हैं, वे शब्द हैं। पुद्गल की पर्याय हैं, आत्मा की पर्याय नहीं हैं।

**सद्गो बंधो सुहृदो, थूलो संताणभेदतमच्छया।
उज्जोदादवसहिया, पुग्गलदव्वस्स पज्जाया॥16॥**

—वृहद द्रव्यसंग्रह

साथ में ब्रह्मस्त्र रखकर चलना चाहिए, नहीं तो ये ज्ञानी लोग परेशान करना शुरू कर देंगे। अर्थात् भगवान् नेमिचन्द्र स्वामी कह रहे हैं बेटे! सुन! शब्द पुद्गल की पर्याय है, शब्द आकाश का धर्म नहीं। देखो, भाई! मैं कथन कर रहा हूँ, नयो मतार्थों को लेकर। इसका तात्पर्य आप यह मत समझा करो। मैं कथन कर रहा हूँ विषय को विस्तृत करके। कहीं किसी के मन में आ जाए कि महाराज कहीं मुझे लक्ष्य करके तो नहीं कह रहे हैं? हाँ, उस लक्ष्य में तू भी हो सकता है, कोई विकल्प नहीं करना, लेकिन तेरे ऊपर लक्ष्य नहीं है, वस्तु व्यवस्था ऐसी है। शब्द आत्मा की पर्याय नहीं है और शब्द आकाश की भी पर्याय नहीं है।

इस वाच्य-अवाच्य के ऊपर माणिक्यनंदि 'परीक्षामुख' सूत्र के ऊपर आचार्य प्रभाचंद स्वामी ने प्रमेय कमल मार्तण्ड ग्रंथ, शब्द स्फोट नाम का जो सिद्धांत है उसका निरसन किया है। शब्द स्फोट एक दर्शन है। दर्शन और शब्द को ब्रह्म स्वरूप देशना विमर्श

शब्दस्फोट कहने वाले भर्तृहरि शब्द द्वैतवादी हैं। जो कुछ सृष्टि की रचना है, जो कुछ ब्रह्म में दिख रहा है, वह सब शब्द रूप है। शब्दरूप है तो शब्द पुद्गल की पर्याय है, तो चेतन भी पुद्गल हो जायेंगे। शब्द आकाश का धर्म है ज्ञानी! आकाश किसी को छोड़ता नहीं, आकाश किसी से छिड़ता नहीं है।

ज्ञानी! थोड़ा कठिन नहीं सुनेंगे तो सीखेंगे कैसे? तत्त्वार्थ सूत्र ही तो श्लोकवार्तिक है, तत्त्वार्थ सूत्र ही सर्वार्थसिद्धि है, तत्त्वार्थ सूत्र ही राजवार्तिक है। देखिए तीनों ग्रंथों को। जितनी सरल सर्वार्थसिद्धि हैं, उतनी कठिन राजवार्तिक है और जितनी सरल राजवार्तिक है, उतनी कठिन श्लोक वार्तिक है। ये तीनों ग्रंथ तत्त्वार्थ सूत्र की टीका है। प्रधानता क्या—

आचार्य अमृतचंद स्वामी ने कहा 'हे स्वामी! आदिनाथ की स्तुति करो।' तो वे कहेंगे 'द्रव्यकर्म, भावकर्म, नोकर्म से रहित चिद् रूप चैतन्य भगवत्ता को आपने प्राप्त किया है, इसलिए हे आदीश्वर स्वामी! आपको नमस्कार हो। यदि जिनसेन स्वामी से कहेंगे कि नमस्कार करो, आदिनाथ को तो वे कहेंगे चतुर्मुख ब्रह्म से संयुक्त समवसरण में विराजे चारों दिशाओं में आप नजर आ रहे हैं, इसलिए हे स्वामी! आप ही चतुर्मुख ब्रह्म हो, इसलिए आपको नमस्कार हो।' आचार्य समन्तभद्र स्वामी से कहना कि आदिनाथ को नमस्कार करो तो वे कहेंगे नित्य एकांत, अनित्य एकांत से शुद्धात्म स्वरूप आत्मा के त्रैकालिक ध्रुवत्व की प्राप्ति अन्यथानुपत्ति नित्य स्वरूप, अनित्य स्वरूप मेरी आत्मा युगपत् नित्य—अनित्य का कथन करने वाले हे आदीश्वर स्वामी! आपको मेरा नमस्कार हो।

आचार्य बड़केर स्वामी से कहना कि नमस्कार करो तो वे कहेंगे 'हे नाथ! युग के प्रारम्भ में मूलोत्तर गुणों के पालनहार हे आदीश्वर स्वामी! आपको नमस्कार हो।' यदि आचार्य भगवान् नेमिचन्द्र सिद्धांतचक्रवर्ती से कहें कि नमस्कार करो तो वे कहेंगे 'हे प्रभु! असंख्यात् लोकप्रमाण कर्म प्रकृतियों के समूह को घातने वाले घातिया घातक, अघातिया के पुरुषार्थी घात करने में लगे हैं, ऐसे आदीश्वर स्वामी! आपको नमस्कार हो।' चारों अनुयोगों से नमस्कार किया है, लेकिन वंदनीय एक है और वंदना के भेद अनेक हैं। बोलने का जो वाच्य है उसे पकड़ता है। सम्यग्दृष्टि जीव श्वानवृत्ति में नहीं जीता। वह तो सिंहवृत्ति में जीता है। श्वान को कोई लाठी मारे तो वह लाठी का पकड़ता है। सिंह को लाठी मारे तो वह लाठी वाले को पकड़ता है। वाचक को नहीं, वाच्य भूत पदार्थ को देखना। जो वाच्य भूत पदार्थ है, वह छह द्रव्य के बाहर एक भी नहीं।

शब्द स्फोट ये कहना मुझे जरूरी है। आज का कहना आपके मस्तिष्क में भविष्य के ग्रंथ बनते हैं। शब्द स्फोट, शब्द द्वैत, शब्द हैं, आकाश का धर्म, इन तीनों बातों को जैन दर्शन स्वीकार नहीं करता। ये जो बादल दिखते हैं वे आकाश नहीं हैं, ये पौद्गलिक बादल हैं। आकाश जो आप देख रहे हो और दिखाई नहीं दे रहा है और जिसमें आप हो, वह आकाश है। गन्ध से शून्य जो आकाश है, वह अमूर्तिक है। स्पर्श, रस, वर्ण से रहित। ये आकाश लोकाकाश और अलोकाकाश दो भागों में विभक्त हैं। लोकाकाश में हमारा अवगाहन है। यदि मैं शब्द को आकाश का धर्म मान लूँगा, तो फिर शब्द जो हैं उसकी सीडी बन रही है, कैमरा रखा हुआ है इसमें कैसे बंद हो जायेगा? आकाश को आप कैमरे में बन्द करके दिखाओ। दोनों हाथों को फैला लेना, आकाश को पकड़ कर दिखाओ। उसे पकड़ भी नहीं सकते, उसे नष्ट भी नहीं कर सकते हैं, उसे आँखों से देख भी नहीं सकते हैं। क्योंकि वह अमूर्तिक है। अमूर्तिक से मूर्तिक की उत्पत्ति कैसे? शब्द मूर्तिक हैं। यह न आत्मा की पर्याय है, न आकाश की पर्याय है। शब्द तो पुद्गल की पर्याय है। 'तत्त्वार्थ सूत्र' में उमा स्वामी महाराज ने पाँचवें अध्याय में सूत्र लिखा है।

शब्दबन्धसौख्यस्थौल्य संस्थान

भेदतमश्छायातपो-द्योतवन्तश्च ॥24॥

जो आकाशवाणी आप सुन रहे हो, आकाश से गुजर कर आ रही है, उसे आकाशवाणी कह देना, लेकिन आकाश की वाणी नहीं है। आकाश नीरव है, आकाश में आवास नहीं, आकाश में हलचल नहीं। समझो मुमुक्षु! जैसे आकाश नीरव है, वैसी ध्रुव आत्मा मेरी नीरव है। नीरव स्वभावी आत्मा का ध्रुव स्वभाव है। रव अर्थात् आवाज। विश्वास रखना, बन्द कमरे में जहाँ एक भी शब्द नहीं आ रहा है, बैठ कर देखना, कैसे आनन्द आता है। जितने भी विकल्प उठ रहे हैं, योग से योगी च्युत हो रहा है, उसका मुख्य कारण है आवाज। आपके घर में जो युद्ध हो जाते हैं, उसका मुख्य कारण भी आवाज है। आकाश में होने का निषेध नहीं है, आकाश के होने में निषेध है। आकाश में छः द्रव्य हैं, लेकिन वे आकाशभूत नहीं हैं, तत्त्वभूत नहीं है, व्याप्यव्यापक नहीं है। आधार-आधेय सम्बन्ध हैं व्यवहार से। परमार्थ से आधार-आधेय सम्बन्ध भी नहीं है। यही विषय शास्त्र बनता है।

जितने भी विकल्प उठते हैं, जितने भी युद्ध हुए हैं, जितने भी संबंध विच्छेद हुए हैं, ये सब शब्द की महिमा है। जितने विपरीत संबंध जुड़े हैं, वे शब्द का जाल हैं। जितने छोटे संबंध जुड़ते हैं, वे देखने के बाद बोलने से। इसलिए अपरिचितों से अपरिचित रहने से ही संयम का पालन हो सकता है। अपरिचितों से परिचित होना

प्रारम्भ करोगे तो जैसे बात बढ़ेगी वैसे ही बात बढ़ जायेगी। जब भी किसी जीव का किसी से संबंध स्थापित होता है, तो पहले बातचीत होती है कि नहीं? बंध का कारण 'शब्द' है, बंधने का कारण 'शब्द' है, छूटने का कारण भी 'शब्द' है।

स्याद् वाच्य, स्याद् अवाच्य। वक्तव्य अवक्तव्य। ज्ञानी! स्वभाव दृष्टि से निर्बंध दशा का व्याख्यान करते हैं तो आत्मा परिपूर्ण अवाच्यभूत है। वस्तु न सर्वथा अवाक् गोचर है। स्यात् वचन गोचर भी है। यदि वचन गोचर नहीं है तो आत्म प्रवाद पूर्व का क्या होगा? उसमें आत्मा का ही वर्णन है। जितना द्वादशांग है, सम्पूर्ण द्वादशांग में द्रव्य-गुण पर्याय का ही वर्णन है। और द्रव्य-गुण-पर्याय छः द्रव्य की होती है। आत्मा भी एक द्रव्य है। मुख में जितनी भाषाएँ हैं, भगवान् तीर्थंकर की वाणी जो खिरा करती है वह एक भाषा में नहीं, दो भाषा में नहीं, अट्ठारह महाभाषाएँ और सात सौ लघु भाषाओं में तीर्थंकर की देशना खिरती है। अर्थात् शब्दों के माध्यम से हम भावों को समझते हैं।

आचार्य भगवान् अकलंक स्वामी निष्कलंक स्वभावी भगवान् आत्मा के सत्यार्थ स्वरूप का व्याख्या न कर रहे हैं। भूतार्थ दृष्टि को समझना, अभूतार्थ दृष्टि से अपने को भिन्न करना, ज्ञानियो! बहुत कठिन है। अभूतार्थ में भूतार्थ की मान्यता ही मिथ्यात्व है और भूतार्थ को अभूतार्थ मानना ही मिथ्यात्व है। सत्यार्थ सत्यार्थ है, असत्यार्थ असत्यार्थ है, लेकिन ज्ञानियो! सत्यार्थ भी सत्यार्थ तो है ही, असत्यार्थ भी सत्यार्थ है।

वस्तु स्वरूप के प्रति इतनी अज्ञ दृष्टि जीव की है कि वह असत्य को असत्यार्थ ही मानता है, जबकि असत्य भी सत्यार्थ है। असत्य को असत्य तो कहना, परन्तु असत्य को असत् मत कहना। यदि असत्य असत् है, तो असत्य किस बात का? और सत्य असत् है, तो सत्य क्या? आपको असत्य की भी सत्ता स्वीकार करनी पड़ेगी। असत्य की सत्ता नहीं स्वीकारोगे तो असत्य है क्या? असत्य की सत्ता को ही ज्ञानी सत्य कहेंगे। असत्य भी सत्य है, तभी तो असत्य है। असत्य सत्य नहीं होता तो आप कैसे बोलते हो कि मैं असत्य बोल रहा हूँ। पहले उसकी भी सत्ता स्वीकार करना पड़ेगी। देखो, भाई! कठिन हो जाए तो विकल्प नहीं करना, परन्तु इस विषय को नहीं समझेंगे तो अन्दर का मिथ्यात्व विगलित होगा कैसे? आओ, सरल कर लो। किसी व्यक्ति ने आपको किसी विषय पर झूठा कह दिया। जो आपको झूठा कह रहा है तो मुझे ये सत्ता स्वीकार करनी पड़ेगी कि झूठा भी एक है, झूठ भी कोई वस्तु है। झूठ की सत्ता है। झूठ की सत्ता नहीं होती तो झूठ को छोड़ने की बात किसलिए करते हो। इसलिए भूतार्थ की भी सत्ता है, अभूतार्थ की भी सत्ता है। सत्ता की दृष्टि से

दोनों सत्य हैं। दोनों की सत्ता को स्वीकार करोगे तभी आप एक को हेय कह पाओगे और दूसरे को उपादेय कह पाओगे। हेय भी सत् रूप है, उपादेय भी सत् रूप है; क्योंकि अवस्तु में न हेय भाव होता है न उपादेय भाव होता है। वही वस्तु भूतार्थ है, वही अभूतार्थ है। किं भूतार्थ किं अभूतार्थ। भूतार्थ भी अभूतार्थ है, अभूतार्थ भी भूतार्थ है।

निश्चयमिह भूतार्थ, व्यवहारं वर्णयन्त्यभूतार्थम्।
भूतार्थबोधविमुखः प्रायः सर्वेऽपि संसारः॥ 5॥

—पुरुषार्थ सिद्ध

ओहो! एक जीव निश्चय को भूतार्थ कहता है, व्यवहार को अभूतार्थ कहता है। कोई व्यवहार को भूतार्थ कहे, कोई निश्चय को अभूतार्थ कहे। 'भूतार्थ—बोधविमुखः' भूतार्थ के बोध से ही विमुख है। 'प्रायः सर्वेऽपि संसारः सत्यार्थ को जानने वाले लोग इस लोक में अंगुलियों पर गिनने लायक ही हैं।

विषय को बोल देना भिन्न विषय है और विषय को समझना भिन्न विषय है। आइए, सिद्धान्त की भाषा आपने सुन ली है, अब आपकी भाषा प्रारम्भ करें, तब आपको समझ में आएगा। भूतार्थ, अभूतार्थ, सत्यार्थ, असत्यार्थ। किं सत्यार्थ किं असत्यार्थ। क्या सत्यार्थ है, क्या असत्यार्थ है।

पहले संसारी जीव की व्याख्या कर लें, फिर परमार्थ की बात करते हैं। एक जिसे भूतार्थ कहता है, दूसरा उसे अभूतार्थ कह रहा है। तो क्या भूतार्थ है, क्या अभूतार्थ है? प्रयोजन भूत क्या है, अप्रयोजनभूत क्या है?

ज्ञानियो! भूतार्थ को समझना है तो मोह को छोड़ना पड़ेगा। वही भूतार्थ, वही अभूतार्थ। यह मोह के लिए है, यह मोह की भाषा है। भूतार्थ भूतार्थ ही है, अभूतार्थ अभूतार्थ ही है। ज्ञानी! निर्मोह की व्यवस्था है। जिस व्यक्ति को घृत पसंद है और वह स्वस्थ पुरुष है, उस व्यक्ति के लिए घृत भूतार्थ है कि अभूतार्थ है? भूतार्थ है और जिसकी पाचन शक्ति कमजोर हो गयी है, जिसे पानी भी नहीं पचता हो, उस व्यक्ति के लिए घृत भूतार्थ नहीं अभूतार्थ है। बहिः प्रमेय की दृष्टि से पदार्थ मिथ्या और सम्यक् मिथ्यात्व भाव है, भाव प्रमेय की दृष्टि से पदार्थ सम्यक रूप ही है। घबराना नहीं, ये क्या है? लेखनी है बहिः प्रमेय की अपेक्षा से। प्रमेय ज्ञेय अर्थात् जानने योग्य द्रव्य।

पाषाण की एक प्रतिमा को विकृत आकार में खड़ा कर दिया। जिसको अरहंत इष्ट हैं वह विकृत प्रतिमा को देखकर मुख मोड़ लेगा। जिसको यही आकार पसन्द

है, वह उसको देखकर प्रसन्न होगा। इन दोनों में जिसे विपरीत आकार पसन्द नहीं है, उसके लिए अभूतार्थ दिख रही है प्रतिमा। जिसको पसन्द है, उसके लिए भूतार्थ दिख रही है प्रतिमा। लेकिन ज्ञानियो! यह आकार जो बाहर का है, उस बाहर के आकार में आप हेय—उपादेयता इष्ट—अनिष्टता खोज रहे हो। लेकिन अब ज्ञानी जीव न अरहंत के आकार को देखना चाहता है, न विपरीत आकार को देखना चाहता है, वह पाषाण को निहारता है तब उसमें न हेयपना है, न उपादेयपना है। उसमें वस्तुत्व भाव है, मात्र पदार्थ दिख रहा है। जिसको इस प्रतिमा के आकार में भी राग नहीं, उस प्रतिमा के आकार में भी राग नहीं, ज्ञानियो! उसे वस्तु धर्म मात्र दिखाई दे रहा है, पत्थर है।

अरहंत की प्रतिमा, एक जीव को श्रद्धान करके समयक्त्व का साधन बन रही है और दूसरे को उसी प्रतिमा में अश्रद्धान करके मिथ्यात्व का साधन बन रही है। प्रतिमा में सम्यक्त्व है, कि मिथ्यात्व है? एक जीव गवासन से बैठ करके तीन बार नमोस्तु कर रहा है। हे स्वामिन्! नमोऽस्तु, नमोऽस्तु क्योंकि उसको तो अरहंत देव दिखाई दे रहे हैं, सम्यक्त्व का साधन बन रही है प्रतिमा और एक जीव नग्न प्रतिमा को अश्रद्धापूर्वक देख रहा है, तो वह उसे निधत्ति निकाचित कर्मबंध का साधन बन रही है।

आज जगत् में दूसरे के पर्याय की, धर्म की चर्चा करने वाले कोटि—कोटि जीव मिलेंगे कि वे ऐसे वे ऐसे; लेकिन सच बताओ पर्याय का धर्मात्मा कि तेरे परिणामों का धर्म कैसा है?

भूतार्थ भी अभूतार्थ है, अभूतार्थ भी भूतार्थ है। मुमुक्षु! राग में, द्वेष में, क्लेश में, क्रोध में, कषाय में जो वस्तु भूतार्थ दिखाई देती है, वही साम्य परिणाम हो जाने पर अभूतार्थ हो जाती है। कामी को कामिनी अच्छी लगती है? भूतार्थ लगती है। खोज करता है। बेचारे संकटों को लेने के लिए ढोल—बैँड के साथ पालकी में बैठकर गये थे। ओहो! खुश हो रहे थे कि आनन्द लूटूँगा। भैया फँस गया। अब रोता है, महाराज! परेशानी है, घर में पटती नहीं है। उस दिन पूछने नहीं आया जब घोड़े पर बैठने जा रहा था। आज पूछने आया कि महाराज! पटती नहीं है, क्या करूँ? कम से कम एक दिन पूछने ही आ जाता कि महाराज! जाऊँ कि नहीं? ओहो! कितना खुश होकर जा रहा था। वही उसको भूतार्थ लगता है। जैसे योगी को आत्मरमणी नजर आती है, वैसे ही तुझे भोगों की रमणी में राग था। लेकिन जिस दिन घर में विकल्प उठते हैं, उस दिन लगता है कि फँस गया। आज भूतार्थ नजर आया है। अभूतार्थ में भूतार्थ दृष्टि थी तेरी। आज भूतार्थ समझ में आया है कि गृहस्थी में भूतार्थ नहीं, गृहस्थी

बसाना अभूतार्थ है। ये मात्र भगवान् की पूजा पाठ में भूतार्थ अभूतार्थ लगाता रहता है। पूजन छोड़ो, अभूतार्थ है। अरे भाई! 'पूजन छोड़ो, अभूतार्थ है' ये तूने बहुत रट लिया। ये तो बता कि घर छोड़ो अभूतार्थ है, कषाय छोड़ अभूतार्थ है, ज्ञानी! जब तक विषय—कषाय न छूटे, भगवान् की पूजन मत छोड़ देना। वह तो परम्परा से मोक्ष का कारण है, लेकिन तेरे विषय कषाय तो निश्चय ही संसार का कारण है। किं भूतार्थ कि अभूतार्थ' दृष्टि को तो समझो, अन्दर में तो बैठो। सच बताना, भगवान् की पूजा करते—करते संक्लेशता आती है, कि आनन्द आता है? आनन्द आता है। ज्ञानी! जो वर्तमान में आनन्द दे, वो तो आनन्द भविष्य में भी प्रकट कर सकता है।

बहिः प्रमेय में कष्ट है बहिःप्रमेय में राग है, बहिः प्रमेय में द्वेष है, बहिः प्रमेय मेंसम्यक् मिथ्यात्व है। भाव प्रमेय तो एक अवाच्य है। भाव प्रमेय में क्या देखता है? ज्ञान से ज्ञाता ज्ञेय को जब निहारता है, राग द्वेष को गौण करके, तब मात्र सुख भी सतरूप है, दुःख भी सतरूप है दोनों की सत्ता स्वीकारिए। दोनों पुण्य—पाप पदार्थ हैं। शुभाशुभ आस्रव भाव भी पदार्थ है, तत्त्व भी हैं। पदार्थ को पदार्थ रूप में देखिए। पदार्थ में प्रवेश क्यों करते हो? जो दुःख को दुःख रूप देखता है, वही दुःखी होता है। जो दुःख को दुःख रूप देखता नहीं, वह दुःखी होता नहीं। भैया! बताओ तुम्हारी जेब में जो रखा है, वह अपने चतुष्टय में है कि तेरे चतुष्टय में है? अपने चतुष्टय में। यदि बगल वाला बालक निकाल ले जाए, तो कैसा लगेगा? लगना तो नहीं चाहिए, किन्तु लगता है। क्यों नहीं लगना चाहिए? और क्यों लगता है? ज्ञानी! मोह क्या तेरा स्वभाव है? मोहनीय कर्म है, वह भी ज्ञेय है। उस मोहनीय कर्म को भी आप ज्ञेय बनाइये, हेय बनाइये, क्यों उसको उपादेय मान रहे हो? धिक्कार हो उस जीव को, जो मोह को भी अपना मान रहा है। यही है तत्त्व की मूल। हे मद! तू उन्मत्त करता है, लेकिन मेरा नहीं है। धिक्कार है इस जीव को जो उन्मत्त करने वाले को अपना कहता है कि मेरा मोह सता रहा है। मोह में भी 'मेरा' शब्द जोड़ता है। धिक्कार हो, घोर धिक्कार हो। अब बिचारे हिल नहीं सकते, डुल नहीं सकते। मेरा मोह यानि जो मेरा नहीं है, मेरे और मोहनीय कर्म में अत्यंताभाव है और अत्यंताभाव में तू सद्भाव देख रहा है। मेरा मोह, तो अब नहीं हो सकता कल्याण। जब तक मोह मेरा चलेगा, तब तक कल्याण कहाँ और निर्मोही का अकल्याण कहाँ। द्रव्यमोह में अत्यंताभाव, लेकिन भावमोह में स्यात् कथंचित्। भाव मोह में अभिन्नभाव है, लेकिन अभिन्न भाव भी परसापेक्ष है। इसलिए वह भी अत्यंताभाव है। यदि मोह भी स्वभाव बन गया, तो मेरे सिद्ध स्वभाव में भी मोह चला जाएगा। इसलिए जिसका अभाव होता है, वह तो अत्यंताभाव है। संश्लेष संबंध होने पर भी संश्लेष संबंध अत्यंताभाव में ही होता है। स्वभाव में संश्लेष संबंध होता ही नहीं है। अविनाभाव में संश्लेष संबंध होता ही नहीं

है। नीर-क्षीर में संश्लेष भाव है, फिर भी नीर तो नीर है और क्षीर तो क्षीर है।

अण्णोण्णं पविसंता दिंता ओगासमण्णमण्णस्स।
मेलंता विय णिच्चं सगं सगभावं ण विजहंति ॥7॥

—पंचास्तिकाय

एक द्रव्य दूसरे द्रव्य में अन्योन्यभूत से मिले होने पर भी अपने स्वभाव को नहीं छोड़ते। विश्वास बनाइये और प्रतीति बनाइए। जिसमें अनादि से लिप्त हो, उसमें किसी भी प्रकार का संबंध स्थापित मत कीजिए। ज्ञान का विषय तो बनाइये। ज्ञेय तो बना कर चलना, प्रमेय तो बना कर चलना, लेकिन हे प्रमाता! उसे ज्ञाता मत बना लेना। देखो, भैया! तुम पाप छोड़ पाओ या न छोड़ पाओ, ये तुम्हारा दोष है, लेकिन ज्ञानी! एक दोष में दूसरा दोष मत कर देना कि पाप को उपादेय कहना प्रारम्भ कर दो। पाप को हेय ही कहना, तो विश्वास रखना, किसी न किसी पर्याय में तू छोड़ ही देगा। गृहस्थी में आप रहे हो, सो रहा, लेकिन गृहस्थी में रहने पर संतुष्ट मत हो जाना।

आचार्य अमृतचंद्र स्वामी 'पुरुषार्थ सिद्धयुपाय' ग्रंथ के अंत में बोल रहे हैं कि तू श्रावक है। कम से कम तू इतना तो कर ले। श्रेष्ठ यही है कि छोड़ना ही होगा। यदि नहीं छोड़ पा रहा है तू, वर्तमान में शक्ति नहीं है तेरे पास, तुरन्त छोड़ने की श्रद्धा की शक्ति तो होना ही चाहिए। इतना निर्णय करके बैठना, जब भी मोक्ष होगा, पहले पापों को क्षय करना पड़ेगा। ज्ञानी! मिट्टी के मटके खरीदने जाता है तो उसे दस-दस बार ठोक कर देखता है। ज्ञानी! उसमें तू पानी भरेगा, इसमें जिनवाणी भरी जा रही है, ठोको फिर से। ज्ञानी! जब भी मोक्ष मिलेगा, जब भी कर्मों से मुक्त होगा, उससे पहले बुद्धिपूर्वक पापों से मुक्त होना पड़ेगा। ये सत्य है कि नहीं? श्रद्धा है कि नहीं? इतने तो सफल हो गए कि ये पाप को पाप मान रहे हैं। मेरा विश्वास है कि जो पाप को पाप मानता रहेगा यह किसी दिन पाप को छोड़ देगा। पाप में संतुष्ट नहीं होना और इस पर्याय में भी संतुष्ट नहीं होना। यहाँ वैराग्य की बातें सब करते हैं लेकिन घर में जाते ही सुखी हैं। बच्चों को देखता है, परिवार को देखता है, अपना परिवार ही अच्छा है। लोग क्या करते हैं? जब चारपाई पर होते हैं तो सोते बाद में हैं, सोचते पहले हैं, वे परम पुण्यात्मा जीव हैं जो सोचे बिना सो जाते हैं।

'तस्य भावस्तत्त्वं' जो स्वभाव है, वही तत्त्व है। इसलिए अभूतार्थ भूतार्थ है, अभूतार्थ अभूतार्थ है, अभूतार्थ भी भूतार्थ है। जो निश्चय नय को सर्वथा भूतार्थ व्यवहार नय को सर्वथा अभूतार्थ कहते हैं, परन्तु ऐसा नहीं है। जयसेन स्वामी ने

स्पष्ट किया कि जब तक निश्चय भूतार्थ की प्राप्ति नहीं हो रही है, जब तक उसके लिए व्यवहार ही भूतार्थ है। परन्तु परम भूतार्थ दृष्टि जो परमार्थ है, वही भूतार्थ है। यह समयसार की दृष्टि जो परमार्थ है, वही भूतार्थ है। यह समयसार की दृष्टि है। मिथ्यात्व भी सत्य है। यदि वह सत्य नहीं है, तो छोड़ेगे किसको? सत्ता रूप सत्य है, तो फिर असत्य क्यों है? सम्यक् रूप नहीं है। इसलिए असत्य है। क्यों? एक एक के पक्ष को सम्मल कर समझिये। सम्यक् रूप नहीं है, इसलिए असत्य; परन्तु नहीं है क्या? इसलिए सत्य है। ज्ञानियो! गृहस्थी में रहना भूतार्थ है कि अभूतार्थ? घर में रहना भूतार्थ है कि अभूतार्थ? कथञ्चित गृहस्थ भी मोक्षमार्ग है, इसलिए कथञ्चित लगा रहे हो। एक बार बोल दो, गृहस्थी भूतार्थ है कि अभूतार्थ? मैं गृहस्थी पूछ रहा हूँ? श्रावक धर्म नहीं पूछ रहा हूँ। श्रावक धर्म मान सकता हूँ वह परम्परा से मोक्ष का कारण है। मैं तो गृहस्थी पूछ रहा हूँ। गृहस्थी भूतार्थ है कि अभूतार्थ? अभूतार्थ है, तो क्यों बंधे बैठे हो? गए विचारे। मैं जानकर प्रश्न करता हूँ, इससे इनके अन्दर की भावना तो पता चलती है कि लोग कर क्या रहे हैं अन्दर में। जो ऊपर-ऊपर से बोलते रहते हैं 'आत्म-स्वभाव परभाव भिन्न' तत्त्व को समझे यही स्वरूप है, अर्थात् - जो है, सो है।

इस प्रकार परमपूज्य 108 आचार्य श्री विशुद्ध सागर जी महाराज द्वारा स्वरूप संबोधन (स्वरूप देशना) ग्रंथ में द्वैत-अद्वैत भाव का निरूपण किया गया है।

आत्मस्वभाव परभाव भिन्न। आत्मा का स्वभाव पर भावों से अत्यंत भिन्न है।

भगवान महावीर स्वामी की जय!

शांति निवास
चकराघाट, सागर
9425655246

स्वरूप देशना में श्रावकाचार की व्यवस्था

—इंजी. दिनेश जैन, मिलालाई

स्वरूप संबोधन ग्रंथ न्याय चूड़ामणि, न्यायाचार्य भट्ट अकलंक देव द्वारा विरचित संस्कृत भाषा में लघु ग्रंथ है, जिसमें मात्र 26 श्लोक हैं। इस लघु कृति के द्वारा आत्म संबोधन के साथ-साथ न्याय दर्शन का विस्तार करते हुए, जो गागर में सागर भरा है वह अद्वितीय, अप्रतिम है, रचनाकार का स्वयं के द्वारा स्वयं को संबोधन है स्वरूप संबोधन। यह संबोधन सामान्य भाषा में न होकर न्याय की भाषा में है अर्थात् दो घोर विरोधी दिखने वाली अवधारणाओं को एक साथ रखकर भगवान को नमस्कार किया गया है। इस ग्रन्थ में परमात्मा के स्वरूप, जीव तत्त्व के स्वरूप तथा मोक्ष आदि की विस्तृत व्याख्या की गयी है। श्रमण, श्रावक, गृहस्थ आदि सबके करने योग्य कार्य का भी वर्णन है।

स्वरूप संबोधन में श्रावकाचार की व्यवस्था के विषय में विचार करने के पूर्व श्रावक की परिभाषा, उसके आचार के विषय में संक्षिप्त चर्चा करते हैं। श्रावक शब्द रचना की दृष्टि से तीन शब्दों से बना है श्र + व + क जिसका सामान्य अर्थ श्रद्धावान, विवेकवान और क्रियावान लिया जाता है। शब्द ही उसके सम्पूर्ण क्रिया कलापों को स्पष्ट कर देता है।

शास्त्रीय दृष्टि से देखें तो विवेकज्ञान, विरक्तचित्त, अणुव्रती गृहस्थ को श्रावक कहते हैं। श्रावक के तीन भेद कहे गये हैं— पाक्षिक, नैष्ठिक और साधक। निज धर्म का पक्ष मात्र करने वाला पाक्षिक है। व्रतधारी नैष्ठिक श्रावक है। व्रतधारी श्रावक की वैराग्य दृष्टि के उत्कर्ष के अनुसार ग्यारह श्रेणियाँ बनाई गयी हैं जिन्हें प्रतिमायें भी कहते हैं। श्रावक अपनी शक्ति के अनुसार त्याग संयम के द्वारा प्रतिमाओं को निरन्तर बढ़ाता जाता है। लेकिन यह बढ़ना क्रमानुसार, तारतम्यता पूर्वक ही होता है। अर्थात् पहली प्रतिमा के बाद ही दूसरी प्रतिमा होगी ऐसा नहीं कि तीसरी प्रतिमा सीधे हो जाये। दूसरी प्रतिमा के बाद तीसरी प्रतिमा होने पर, पहली दो प्रतिमाओं के नियमों का पालन करना ही पड़ेगा।

श्रावक के मूल और उत्तर गुणों के विषय में भी संक्षेप से विचार करते हैं। श्रावक को अष्टमूल गुण धारण करने चाहिए। यदि वह अष्टमूल गुण का धारक नहीं है एवं उसने सप्त व्यसनों का भी त्याग नहीं किया है तो वह श्रावक कहलाने का पात्र भी नहीं है अर्थात् उसकी श्रावक संज्ञा भी नहीं है। श्रावक के 12 व्रत कहे गये हैं। अष्टमूल गुण व्रती और अव्रती दोनों श्रावकों के होते हैं। रत्नकरंड श्रावकाचार में

अष्टमूल गुण इस प्रकार कहे गये हैं—

मद्यमांसमधुत्यागैः सहाणुव्रतपंचकम्।

अष्टौ मूलगुणानाहुर्गृहिणां श्रमणोत्तमाः॥ र.क.श्रा. 66॥

मद्य, माँस, मधु के त्याग सहित पाँच अणुव्रतों को पालन करने वाला श्रेष्ठ गृहस्थ कहा गया है।

मद्यं माँस क्षौद्रं पंचोदुम्बर फलानि यत्नेन।

हिंसा व्युपरति कामैर्माक्तव्यानि प्रथममेव॥ पु.सि.उ. 61॥

हिंसा के त्याग की कामना रखने वाले को सबसे पहले शराब, माँस, शहद, ऊमर, कटूमर, बड़, पीपल आदि पंच उदम्बरों का त्याग करना चाहिए।

हिंसासत्यस्तेयादब्रह्मपरिग्रहाच्च बादर भेदात्।

धूतन्मांसान्मद्याद्विरति गृहिणोष्ट सन्त्यमी मूलगुणाः॥चा.सा. 30/4॥

स्थूल हिंसा, स्थूल झूठ, स्थूल चोरी, स्थूल अब्रह्म और स्थूल परिग्रह से विरत होना तथा जुआ, माँस और शराब का त्याग करना ये गृहस्थों के आठ मूल गुण कहलाते हैं।

किन्हीं आचार्य के मत में मद्य, माँस, मधु, रात्रि भोजन व पंच उदम्बर फलों का त्याग, देव वंदना, जीव दया करना तथा पानी छानकर पीना ये मूलगुण माने गये हैं।

श्रावक के उत्तर गुणों में कर्तव्य, क्रियायें आदि का समावेश होता है। पहले श्रावक के मुख्य कर्तव्यों के विषय में जानते हैं।

दाणंपूया मुखं सावय धम्मे ण सावया तेण विणा। र.सा./11

चार प्रकार (औषधि, शास्त्र, अभय, आहार) का दान देना, देव शास्त्र गुरु की पूजा करना, श्रावक का मुख्य कर्तव्य है। इसके बिना वह श्रावक नहीं है। ऐसा रयणसार में आचार्य कुन्दकुन्द देव ने कहा है।

किसी – किसी आचार्य महाराज के द्वारा श्रावक के 4, 5, 6 आदि कर्तव्यों का कथन मिलता है।

दाणं पूजा शील मुववासो चेदि चउव्विहो सावयधम्मो – क.पा./82

दान, पूजा, शील और उपवास ये चार श्रावक के धर्म कहे गये हैं।

गृहिणः पंच कर्माणि स्वोन्नतिर्देवपूजनम्।

बन्धु साहाय्य मातिथ्यं पूर्वेषां कीर्तिरक्षणम्॥कुरल 5/3

पूर्वजों की कीर्ति की रक्षा, देव पूजन, अतिथि सत्कार, बन्धु-बान्धवों की सहायता और आत्मोन्नति ये गृहस्थ के पाँच कर्तव्य हैं।

देव पूजा गुरुपास्तिः स्वाध्यायः संयमस्तपः।

दानं चेति गृहस्थानां षट्कर्माणि दिने दिने॥पं.वि. 6/7

जिनदेव की पूजा, गुरु की सेवा, स्वाध्याय, संयम और तप ये छह कर्म गृहस्थों के लिए प्रतिदिन करने योग्य आवश्यक कार्य हैं।

इस प्रकार से हम देखते हैं कि श्रावक के कर्तव्यों का वर्णन आचार्यों ने अनेक प्रकार से किया है, परन्तु गहराई से विचार करने पर लगभग एक सा ही है। सबका जोर सर्व हिंसा से रहित होकर आत्म साधना पर है।

श्रावक की 53 क्रियायें कही गयी हैं। आचार्य भगवन् कुन्दकुन्द स्वामी ने रयणसार ग्रन्थ में इनका उल्लेख किया है—

गुणवयतवसमपडिमा दाणं जलगालणं अणत्थमियं।

दंसण णाण चरितं किरिया तेवण्ण सावया भणिया॥ र.सा. / 149

8 मूलगुण, 12 व्रत (5 अणुव्रत, 3 गुणव्रत, 4 शिक्षाव्रत), 12 तप (6 अंतरंग, 6 बहिरंग), 11 प्रतिमा, 4 प्रकार का दान, जलगालन, रात्रि भोजन त्याग और रत्नत्रय इस प्रकार श्रावक की 53 क्रियायें हैं। उनका जो पालन करता है वह श्रावक है। श्रावक के अन्य कर्तव्यों में मरणान्तिक सल्लेखना का प्रीतिपूर्वक सेवन करना, देशविरत श्रावकों को अपनी शक्ति के अनुसार यथायोग्य विनय, वैय्यावृत्त्य, कायक्लेश, पूजन विधान करना चाहिए। अहिंसाणु व्रत की रक्षा के लिए पाँच समिति, तीन गुप्ति का एकदेश पालन करना चाहिए। महाव्रतों की भावना भाना चाहिए। धार्मिक क्रियाओं में निरन्तर उत्साह बनाये रखना चाहिए। किसी प्रकार का प्रमाद नहीं करना चाहिए।

श्रावकों के आचार के लिए कई ग्रन्थ श्रावकाचार के रूप में प्रसिद्ध हैं। 53 श्रावकाचार ग्रन्थ कहे गये हैं जिनमें मुख्य रूप से रत्नकरण्ड श्रावकाचार, अमितगति श्रावकाचार, वसुन्दी श्रावकाचार, सकलकीर्ति श्रावकाचार, सागार धर्मावृत, पद्मन्दी श्रावकाचार आदि प्रचलित हैं।

आचार्य विशुद्ध सागर महाराज जी ने स्वरूप संबोधन पर प्रवचनरूपी स्वरूप सम्बोधन परिशीलन नामक ग्रन्थ लिखा है। आचार्य विशुद्ध सागर जी की सबसे बड़ी विशेषता है कि सरल, सुगम, सहजग्राही, हृदयस्पर्शी भाषा में कथन करते हुए आगम की गम्भीर वाणी को परोस देते हैं। जो सामान्य जन के द्वारा सीधे सरलतापूर्वक ग्रहण कर ली जाती है। इनकी शैली वार्तात्मक है जो दुरुह से दुरुह विषय को सरल रूप से प्रस्तुत करती है। विभिन्न ग्रन्थों के उद्धरण, कथानक के माध्यम से पूर्वाचार्यों के प्रति विनय होने के साथ-साथ कथन की प्रमाणिकता की भी पुष्टि होती है। चर्या की विशुद्धि के कारण, भावों में निर्मलता है जो सर्व जीवों के प्रति करुणा रूप में परिलक्षित होती है। उनके मन में सदैव यही विचार रहता है कि अज्ञ एवं विज्ञ जीवों का कल्याण कैसे हो? इसका सर्वसुगम

मार्ग कैसे प्ररूपित किया जाये जो सर्वग्राही हो। वे अपनी बात को, जो आगमानुकूल ही होती है बड़ी स्पष्टता और निर्भीकता से रखते हैं। उन्हें श्रमण—श्रावक में किसी प्रकार का शिथिलाचार मान्य नहीं है। लगता है उनकी यह भावना आचार्य कुन्दकुन्द स्वामी के ग्रन्थों के परिशीलन से प्रस्फुटित हुयी हैं। जिसका पालन वे स्वयं भी कठोरता से करते हैं उनके कथन मात्र वचनों में नहीं हैं, उनको उन्होंने अपने में आत्मसात किया है। सबसे बड़ी विशेषता पन्थवाद के विमोह जाल से मुक्त रहना है।

स्वरूप सम्बोधन जैसे न्याय ग्रन्थ को जो अत्यन्त जटिल, दुरूह हैं। उन्होंने अपने प्रवचन के माध्यम से अत्यन्त सरल कर दिया है। इसके पूर्व इस ग्रन्थ की चर्चा, स्वाध्याय सामान्य जनों में नहीं होती थी। इस परिशीलन के माध्यम से श्रावकाचार व्यवस्था जो स्वरूप सम्बोधन में है इस पर विचार करते हैं। श्रावक शब्द की रचना श्रद्धान, जो विवेक पूर्वक किया जाये, कुल परम्परा को ध्यान में रखते हुए से हुयी है। इस कलिकाल में पंचमकाल में सही श्रद्धान का स्वरूप क्या होना चाहिए। यह बड़ा कठिन विषय हो गया है। जीवन में अनेक प्रकार की विषमतायें प्रत्यक्ष दिखती हैं जिससे श्रावकों का श्रद्धान विचलित हो जाता है, डगमगाने लगता है।

आचार्य श्री मंगलाचरण के परिशीलन में कह रहे हैं कि "विशिष्ट धर्मात्मा दुःखी देखे जाते हैं, पापी धन वैभव से सम्पन्न दृष्टि गोचर हो रहे हैं इसलिए आपके द्वारा कथित मंगल की अनिवार्यता फलित नहीं होती" आचार्य श्री समझा रहे हैं कि जो भाव भीरु, आस्तिक व तत्त्वज्ञ श्रावक पुरुष होता है उसके अन्दर ऐसा विचार नहीं हो सकता। जिसे वर्तमान की पर्याय मात्रा दिख रही है, भूत भविष्य का चिन्तन ही जिसके चित्र में नहीं है ऐसी प्रत्यक्ष मात्रा को प्रमाण मानने वाली चार्वाक दृष्टि है। (पृ० 5)

श्रद्धान के विषय में आचार्य श्री का कथन है कि किसी भी परम्परा में व्यक्ति का जन्म क्यों न हो, उससे व्यक्ति के श्रद्धान का जन्म नहीं होता, श्रद्धान का उद्भव तो चिन्तन की धारा से होता है। (पृ० 6)

श्रावकों को समझाते हुए कह रहे हैं। कि पापी पाप कर्म से सुखी नहीं है, धर्म करने वाला धर्म से दुःखी नहीं है। (पृ० 6) यदि तुम जैन धर्म को मानते हो तो हेतु, हेतुफल पर विचार करना चाहिए। (पृ० 24)

श्रावकों को अशुभ असाता वेदनीय कर्म के आस्रव से बचने हेतु कह रहे हैं कि इष्ट के वियोग होने पर ये विचार करना चाहिए— वस्तु स्वरूप का चिन्तन करते हुए उसके अंतिम संस्कार के समय स्वात्मा में समाधि मरण के संस्कारों का आरोपण करो। व्यर्थ में दुःख करके स्व पर के लिए असाता वेदनीय कर्म का आस्रव मत करो (पृ० 40)

मिथ्यात्व सहित जीवन अधिक घातक है। श्रद्धा की रक्षा प्रतिपल करना चाहिए। (पृ० 61)

वर्तमान में काल के प्रभाव के कारण, भौतिक सुखों की आशा में निरन्तर वृद्धि होने के कारण लोकमूढ़ता बढ़ती चली जा रही है। कलश को घर में स्थापित कर लो धन की वृद्धि होगी आदि कई मान्यतायें श्रावकों में प्रवेश करती जा रही हैं जो संसार बढ़ाने का ही कारण हैं ऐसी लोकमूढ़ता का त्याग करना चाहिए। ऐसी लोक मूढ़ता नहीं आनी चाहिए जिससे अपने सम्यक्त्व और चारित्र दोनों की हानि हो जाये। (पृ० 62)

श्रावक के आचार, क्रियाकलापों के सम्बन्ध में कह रहे हैं कि सम्यग्दृष्टि हेय, उपादेय और उपेक्षा आदि तीन भावों से अपने जीवन को चलाता है। हेय को त्यागता है, उपादेय का ग्रहण करता है और जो न हेय है, न उपादेय है वह उपेक्षनीय है (पृ० 74)

श्रावक के कर्तव्यों के विषय में कह रहे हैं कि वस्तु के उभय धर्मों को समझते हुए, स्वात्म तत्त्व की उपादेयता पर लक्ष्यपात करना ही श्रमण श्रावक का कर्तव्य है। विसंवादों में निरूपराग वीतराग धर्म की सिद्धि नहीं है। धर्म तो विसंवादी होता है। (पृ० 81)

श्रावकों को मिथ्या मान्यता से छुड़ाने के लिए आचार्य श्री कह रहे हैं कि यदि ब्रह्मा, ईश्वर हमारे सुख-दुख के कर्ता होते तो फिर मेरा किया कर्म व्यर्थ हो जायेगा और मैं पराधीन हो जाऊँगा, फिर तो जो कुछ भी होगा वह सब ईश्वर के अनुसार होगा। मैं तो पूर्ण स्वच्छन्द हो जाऊँगा (पृ० 96)

आचार्य श्री कह रहे हैं कि एकान्तपक्ष से बचो, भिन्न प्रवृत्ति करो। जो स्याद्वाद की वाणी कहती है, वैसा ही प्रतिपादित करो। (पृ० 105)

गृहस्थ के द्वारा भी अपने शक्ति के अनुसार सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र रूप त्रयात्मक मुक्ति का मार्ग सर्वदा सेवन योग्य है (पृ० 107)

गृहस्थ को घर में रहते हुए भी दान पूजा करना भी परम्परा से कल्याण का मार्ग है। (पृ० 141)

आचार्य श्री विषयों की आसक्ति का दुष्परिणाम बताते हुए कथन कर रहे हैं कि चक्रपदधारी अर्थात् चक्रवर्ती भी विषयाशक्ति के कारण राज्य पद में रहते हुए मरण करता है तो नरक भूमि का स्पर्श करता है अतः विषयाशक्ति से दूर होओ (पृ 150)

श्रावकों को सावधान करते हुए कह रहे हैं कि विकारी भाव को सहजभाव कहकर संतुष्ट हो गया तो कभी शील संयम का पालन नहीं होगा। (पृ० 163)

कषायभावों से बचने का उपदेश देते हुए कह रहे हैं कि जिनशासन में मायाचारी को मोक्ष तत्त्व की प्राप्ति में कोई स्थान नहीं है। मायाधर्म तिर्यंच पर्याय की प्राप्ति का ही उपाय है। (पृ० 178)

आचार्य श्री तृष्णा के सम्बन्ध में कह रहे हैं कि जिसको संसार सीमित करना है उसे तृष्णा घटानी ही पड़ेगी। तृष्णा के दुष्परिणाम को उदाहरण से स्पष्ट कर रहे हैं कि तृष्णा

चित्त को ऐसे विकृत कर देती है जैसे मधुर दुग्ध को नीबू की एक बूंद क्षण में ही विकृत कर देती है। तृष्णा एवं आत्मशांति में सौत का सम्बन्ध है। (पृ० 181)

तृष्णा की महिमा को बताते हुए कह रहे हैं कि मोक्ष की तृष्णा से मोक्ष भी प्राप्त नहीं होता है। (पृ० 182)

अन्त में उपसंहार करते हुए आचार्य श्री कह रहे हैं कि गृहस्थों को तीर्थस्थापना, दान-पूजा, धर्मायतन की रक्षा आदि करना चाहिए। उनके लिए वही सम्यक् क्रिया परम्परा से मोक्ष का कारण है। (पृ० 199)

ये कुछ उद्धरण स्वरूप सम्बोधन परिशीलन से लिए गये हैं। वर्तमान में मिथ्यात्व से बचना बड़ा कठिन, दुष्कर होता जा रहा है। आचार्य श्री ने ग्रन्थ में कई उदाहरणों से, कथानकों के माध्यम से मिथ्यात्व को समझाने का प्रयास किया है जिसको गृहस्थ मिथ्यात्व मानता ही नहीं है। सम्यक्त्व के अभाव में जीव का जगत् में कल्याण होना सम्भव नहीं दिखता है। जब तक मिथ्यात्व नहीं छूटेगा तब तक सच्चा श्रद्धान किस पर होगा? बिना सच्चे श्रद्धान के श्रावक कैसे? श्रावक बने बिना मोक्षमार्ग के पथिक श्रमण की भावना कैसे उद्भूत होगी? अतः हम सब मोक्षमार्ग के पथिक की प्रथम आरम्भिक दशा को प्राप्त कर सकें। श्रावक बनकर श्रावकाचार के अनुसार चल सकें इसी मंगल भावना के साथ।

स्वरूप देशना के अन्तर्गत कषाय एवं परिणाम विशुद्धि के संदर्भ

—पं० श्री वीरेन्द्र कुमार जैन, शास्त्री
महामंत्री— आगरा दिगम्बर जैन परिषद

जैन जगत् के महान् न्यायवादी सिद्धान्तवेत्ता आचार्य श्री भट्ट अकलंक देव विरचित "स्वरूप-सम्बोधन" ग्रन्थराज जो मात्र 25 श्लोक प्रमाण है, जिसके एक-एक पद्य में जिनागम का गूढतम रहस्य भरा है। ऐसे महानतम् ग्रन्थराज पर आज 21वीं सदी के दिगम्बर जैन समाज के महानतम गौरवशाली युवा श्रमणाचार्य जिनकी जिह्वा पर साक्षात् माँ जिनवाणी विराजती है। कण्ठ से अविरल सरस्वती प्रवाहित होकर लोक में मिथ्यात्व-अदर्शन-असंयम को दूर कर जन-जन को रत्नत्रय मार्ग पर लगाती हैं, आपके द्वारा भव्य जीवों को ऐसा सम्बोधन दिया गया है जिसका श्रवण कर भव्यात्मा आत्म-विभोर हो जाता है। जब 'स्वरूप सम्बोधन' पर आचार्य श्री की देशना प्राणी मात्र के हृदय के विकार मिटाने में इतनी सक्षम हैं, तो जिस समय साक्षात् तीर्थंकर भगवंतों की देशना श्रवण कर गणधर देव जिनवाणी का व्याख्यान करते होंगे। तब समवसरण सभा में क्या अलौकिक आनन्द के साथ शान्ति मिलती होगी? यह तो कभी भगवन्त तीर्थंकर सीमंधर स्वामी जी के समवसरण में जाने के बाद ही साक्षात् अनुभव होगा। लेकिन धन्य हैं वे लोग जिनको तीर्थंकर प्रभू के इन लघुनन्दन श्रमणाचार्य श्री की देशना सुनने को मिलती है। गुरुदेव की सभा भी लघु समोवशरण से कम नहीं होती है और संघस्थ विराजे निर्ग्रन्थ मुनिवर भविष्य के साक्षात् गणधर हैं। भावों की विशुद्धि, कषायों की मन्दता, परिणामों की निर्मलता, आचार्य श्री के श्रीचरणों में बैठकर जितनी मिलती है, पंचमकाल में अन्यत्र दुर्लभ है। धन्य हैं ये निर्ग्रन्थ तपोधन-मुनिराज जो आज तीर्थंकर प्रणीत जिन शासन को शाश्वत् बना रहे हैं। शासन को जयवंत कर रहे हैं। बाल-गोपाल वृद्धजन को बता रहे हैं कि विश्व में एक मात्र निर्ग्रन्थ मार्ग ही मोक्षमार्ग है। विश्व में एक मात्र निर्ग्रन्थ तपोधन ऋषिगण ही नमोस्तु के पात्र हैं। जिन शासन ही यथार्थ में सत्य शासन है, जो शाश्वत् है, शाश्वत् रहेगा।

आगम में मात्र सुना था कि निर्ग्रन्थ तपोधन ऋषिगण जहाँ-जहाँ विचरण करते हैं वहाँ-वहाँ धन्य-धान्य में अभिवृद्धि के साथ-साथ सर्व ऋतु के फल-फूल उत्पन्न हो जाते हैं। उनके शरीर की प्रशस्त वर्णारणें जगत् में शान्ति का संचार करती हैं। धन्य हैं श्रमणाचार्य श्री के दादा गुरु वात्सल्य रत्नाकर आचार्य श्री विमल सागर जी गुरुदेव, जिनका सानिध्य अलौकिक शांति स्थापित करता था। हे जगत्

के ज्ञानियो, आज धन्य हैं हम लोग जो श्रमणाचार्य विशुद्ध सागर जी के रूप में पूर्व जन्मों के संचित अपार पुण्य वर्गणाओं से संयुक्त, शारीरिक शुभ लक्षणों से संयुक्त अद्भुत ज्ञान क्षयोपशम वाले विशिष्ट प्रज्ञावान वात्सल्य करुणा मूर्ति, निकषाय, निर्मल विमल परिणामों से युक्त सतत् दर्शन विशुद्धि आदि षोडश कारण भावनाओं के चिंतन में लीन स्वपर उपकारी उत्कृष्ट श्रमणचर्या के शिरोमणि श्रमण हमको उपलब्ध हुए हैं। इसके लिए हम आचार्य प्रवर, गणाचार्य 108 श्री विराग सागर जी के ऋणी हैं, जिन्होंने हमें ऐसे महान् रत्न श्रमणाचार्य विशुद्ध सागर जी को समाज उद्धार के लिए प्रदान किया है।

पूज्य श्री का प्रत्येक प्रवचन अपने आप में उस दिन का एक मौलिक ग्रन्थ होता है। वह जिनवाणी के सूत्र का विवेचन व भावों की विशुद्धि एवं कषायों का उपशमन करने वाला होता है।

आचार्य श्री के अन्तरंग से निकले प्रत्येक शब्द अपने आप में आगम की विशेष व्याख्या करते हुए गूढ़ रहस्य खोलते हैं। यहाँ प्रस्तुत है "स्वरूप सम्बोधन ग्रन्थ में आचार्य श्री द्वारा दी गयी देशना के अन्तर्गत कषायों एवं परिणाम विशुद्धि के संदर्भ में कुछ अंश", जिनको आज हमारे जैन जगत के विद्वान अपने प्रवचन का विषय बना लें तो निश्चित रूप से हमको भगवान महावीर के काल की अनुभूति प्राप्त होगी और नहीं लगेगा कि हम आज तीर्थंकर शासन से दूर हैं। नीचे उद्धृत किये जा रहे इन अंशों को यदि हम स्वयं व अपने परिवार में, समाज में, राष्ट्र में, विश्व में यदि अपना लें तो पूरे जगत में राम राज्य की स्थापना होने में कोई देर न लगेगी। सभी जगत् "नमोऽस्तु जिनशासन जयवंत" को आत्मसात करते हुए उसकी शीतल छाया का आस्वादन कर मोक्षमार्गी बन सकेगा।

आचार्य श्री के चिंतन में कषायों की मंदता व भावों की विशुद्धि के लिए द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव, शुद्धि भी अपना महत्वपूर्ण स्थान रखती है। उदाहरणार्थ— जहाँ जिनमन्दिर हों, चैत्य विराजमान हों, गुरु हों और सिद्धान्त का घोष हो रहा हो, यतियों का समूह हो, ऐसे प्रदेश पर अंतिम श्वास निकल जाए तो इससे उत्कृष्ट कोई स्थान नहीं होगा। भूमि प्रदेश का भी नियोग होता है, यथार्थ मानना।

आचार्य श्री आगम परम्परा व जिन सिद्धान्तों, सर्वज्ञ प्रणीत जिनशासन के प्रति अत्यन्त समर्पित हैं और उनका मानना है कि सर्वस्व लुट जाये, किन्तु हमारी देव-शास्त्र गुरु के प्रति आस्था और विश्वास में न्यूनता नहीं आनी चाहिए। उदाहरणार्थ— ध्यान रखना, कपड़े में छेद हो जाए तो कोई विकल्प मत करना, शरीर में छेद हो जाए कोई टेन्शन नहीं लेना, परन्तु श्रद्धा में छेद न होने पाए, विश्वास में छेद नहीं स्वरूप देशना विमर्श

आना चाहिए। शरीर छिद जाए, भिद जाए, ज्ञानी! कुछ नहीं गया, पर्याय ही तो गयी है। श्रद्धान छिद गया यानि परिणामी का परिणमन का परिणमन विकृत हो गया। ध्यान से सुनना, आवश्यकता ये है।" आज हमारे देश के लगभग 1400 पीछीधारी इसी भावना के साथ आगे बढ़ें तो हम विश्व में एक नयी क्रान्ति ला सकते हैं। इसलिए हे प्राणियो! 'प्रियधम्मो, दृढ धम्मो,' धर्म से प्रेम करो व धर्म में दृढ आस्थावान बनो।

आचार्य श्री सिद्धान्त में व चर्या में विशुद्ध आगममार्गी हैं। जिनको अरहन्त, वीतराग—मुद्रा व निर्गन्ध मुनिगण एवं माँ जिनवाणी, ही एक मात्र शरण है और उनका अटूट विश्वास है कि कोई देवी—देवता बिना जीव के पुण्योदय के कुछ भी नहीं दे सकते।

आचार्यश्री का प्राणी मात्र को यही सम्बोधन होता है कि सदैव अपने परिणामों में कषायों को मन्द रखते हुए विशुद्ध—भावों से देव—शास्त्र गुरु के प्रति निर्मल निष्काम भाव से आराधना करें। उदाहरणार्थ— आज से सभी ज्ञानी वंदना करना, बंध न करना। वंदना करना उसी की, जिससे बंध न हो। जहाँ बंध है, उसकी वंदना— न! अर्थात् वीतराग अरिहन्त प्रभु की वंदना सच्चे—भाव से करते हुए रागी द्वेषियों से सदैव दूर रहना चाहिए। भावों को उत्कृष्टता प्रदान करते हुए आचार्य श्री का यह कथन दृष्टव्य है। पंचपरमेष्ठी ही वंदना के स्थान हैं," व्यवहारनय से। निश्चयनय से मेरी निज ध्रुव आत्मा ही वंदनीय है। परमशुद्ध निश्चयनय से न कोई वंद्य है, न कोई वंदनीय है, 'जो है, सो है'

आचार्य श्री का यह उद्बोधन भव्य प्राणियों के लिए अत्यन्त प्रेरणा स्रोत है— 'भूमि दे सकते हैं, धन दे सकते हैं, परन्तु श्रद्धा सभी को नहीं दे सकते हैं। श्रद्धातो पंचपरमेष्ठी के चरणों में ही रहेगी।

"उद्योगपति तो जगत के बहुत लोग बन गए, अब उस उद्योग का पति बनना है जिसमें उद्योग ही न करना पड़े।" तभी तो हम अपनी आत्मा में गुणगुना सकेंगे। "आत्मस्वभाव परमाव भिन्न"

संसार के अन्दर अपने को वीतराग मार्ग पर ले जाने के लिए इससे बड़ा कोई मंत्र नहीं हो सकता और आगे आचार्य श्री की विशाल हृदयता देखिए— "छः द्रव्य का स्वरूप चिन्तवन कराते हुए परिणामों को विमल बनाने एवं अत्यन्त मंद कषायी बनने के लिए एवं जगत में कर्तृत्व बुद्धि का अभाव करने के लिए आचार्यश्री का यह उद्बोधन मननीय है।" "पुत्र को जन्म दिया, लेकिन अहो जनको! तुम सत्य बताना

कि जब तुम अपने जनक नहीं हो, तो पुत्र के जनक कब से हो गये? छः द्रव्य त्रैकालिक हैं, जीव द्रव्य का कोई जनक आज तक हुआ ही नहीं है पुद्गल द्रव्य का कोई जनक नहीं हुआ। धर्म, अधर्म, आकाश, काल द्रव्य का कोई जनक नहीं हुआ है। ये परिणामिक भाव में रह रहे हैं, इनका कोई जनक नहीं है। हे जीव! तू अपने रागादिक भावों का जनक तो है, तू अपने शुभाशुभ परिणामों का जनक तो है, परन्तु जिसमें शुभाशुभ परिणाम हो रहे हैं, उस परिणामी का जनक तू भी नहीं है।”

आचार्य श्री के कथन में ग्रंथों का वाचन जिस समय होता है, लगता है कि साक्षात् आत्म समयसार के दर्शन हो रहे हैं। श्रोता मंत्रमुग्ध होते हुए साक्षात् आत्मानन्द का अनुभव करता है। आगे निरूपण में बताया कि “जितने पिता बैठे हों वे थोड़ा विवेक रखकर सुनना। भैया! सत्य बताना, पिता ने पुत्र को जन्म दिया कि पिता ने अपनी इच्छाओं को जन्म दिया? पिता के अंतरंग में पुत्र जन्म ले रहा था, कि पिता के अंतरंग में कामनाएँ, वासनाएँ जन्म ले रही थीं? हे जनक! तू वास्तव में जनक किसी का है तो अपनी काम इच्छाओं का जनक है, तू अपने पुत्र का जनक नहीं है। वह इस जीव का पुण्योदय था जिसने कर्म—नोकर्म प्राप्त करके आपके संयोग से नोकर्म वर्गणाओं को प्राप्त किया है। ये उस जीव का नियोग था, लेकिन आप तो जनक अपनी इच्छा मात्र के हो, संतान के जनक नहीं।”

बन्धुओ! आचार्यश्री के शब्दों में वस्तु तत्त्व की जो झलक स्पष्ट रूप से दिखाई दे रही है वह मनन योग्य है। आगे भक्ति एवं आत्म अनुभूति के लिए आचार्यश्री का यह सम्बोधन दृष्टव्य है— “जिनालय में भक्ति करने आना और शमशान में वस्तुस्वरूप को समझने जाना। जितने गोरे थे, जितने सुन्दर थे, कितना श्रृंगार किया, कितना शरीर को सजाया, परन्तु सबको वहाँ देखने चले जाना। वहाँ सबका रंग काला ही होता है। राख का ढेर ही मिलेगा। अहो ज्ञानियो! जिसमें राग किया है, उसकी राख होगी। अरे राख के रागियो! तुम्हें राख से ही राग करना था तो चूल्हे की राख को भी साबुन लगा देता? इस तरह हम देखते हैं कि आज के इस भोग प्रदान कलयुग में मुमुक्षु को संसार शरीर भोगों से विरत करने के लिए इससे उत्कृष्ट उद्बोधन नहीं हो सकता। इसलिए आचार्य श्री बहुत ही आत्म विश्वास के साथ कहते हैं— “जयवन्त हो जिनशासन, नमोऽस्तु शासन।” आचार्यश्री के मुख से निकला हुआ प्रत्येक शब्द अपने आप में एक मंत्र है, जो जगत् के प्राणी को धर्म पर समर्पित करने के लिए आत्म स्वभाव में स्थिर करने के लिए प्रेरणा देता है। यूँ तो लोग हजारों—हजारों पृष्ठ के ग्रंथ लिख देते हैं, घंटों—घंटों ही नहीं बल्कि लम्बे समय तक व्याख्यान देते हैं किन्तु श्रोताओं को उतना आकर्षित नहीं कर पाते। कुछ

ही श्लोक, स्तुति, पाठ, ग्रंथ आदि ऐसे उत्कृष्ट रचेताओं द्वारा रचे होते हैं जो आज भी स्वाध्यायी व्यक्ति को उसकी अन्तःचेतना जगाने में समर्थ हैं। जैसे— मेरी भावना, महावीराष्टक आदि। उसी कोटि में आता है ये 25 श्लोक प्रमाण मात्र का 'स्वरूप देशना' ग्रंथ। जिसके प्रत्येक श्लोक पर गुरुदेव की देशना अन्तःमन के कालुस्ताओं को धो डालती हैं। गुरुदेव इतने करुणावान हो जाते हैं कि व्याख्यान में ऐसा लगता है कि साक्षात् सिंहासन पर कोई श्रमण नहीं तीर्थकर विराजमान हैं। उनके रोम-रोम से जन-जन के कल्याण की भावना प्रवाहित होती है। यथा—

“देखो, मैं एक बात बोलूँ। यदि आप सम्मोदशिखर जी की वंदना करने जा रहे हो और इंदौर में किसी की समाधि चल रही हो, तो आप समाधि को पहले देखना। अचेतन तीर्थ तो पुनः मिल जायेगा, लेकिन ये चैतन्य तीर्थ फिर नहीं मिल पायेगा।”

आचार्यश्री का यह वक्तव्य अत्यन्त विचारणीय है कि आप निर्ग्रन्थ श्रमणों की प्रज्ञा मत देखो। उनके ज्ञान के क्षयोपशम को मत नापो, उनकी प्रवचन कला को मत देखो, वह कितनी भीड़ को आकर्षित करते हैं यह मत देखो, आप सिर्फ उनके संयम और निर्ग्रन्थ मुद्रा को निहारो। पिच्छि कमण्डल ही उनकी पहचान है। देखिये— “निर्ग्रन्थ मुनि का शरीर बिना बोले ही मोक्ष मार्ग का उपदेश देता है।” मूर्त्तमिव मोक्षमार्गमवाग्विसर्ग वपुषा निरूपयन्तं”।

आज यदि साधकों के प्रति इतना समताभाव व अनुराग सभी में उत्पन्न हो जाये तो साक्षात् चतुर्थकाल दिखाई पड़ेगा। आगे देखिए— गुरुदेव की सभी साधकों के प्रति महान् करुणा। गुरुदेव व्याख्यान में उद्घाटित करते हैं कि यदि कोई आपके समीप रूग्ण, वयोवृद्ध, शरीर से असमर्थ, समाधि के सम्मुख, सल्लेखना में रत कोई मुनिराज हैं तो प्रभावक साधु के सामने एक बार श्रीफल चढ़ाने में विलम्ब कर देना, किन्तु सल्लेखना के सम्मुख भविष्य के भावी भगवान् की आत्मा के कषायों को मन्द करने अवश्य जाना।

आगे गुरुदेव का चिन्तन देखिए— कि हमें अपने अरिहंत भगवान् एवं निर्ग्रन्थ गुरुदेवों के प्रति अनुराग, उनके गुण अपने में प्रगट करने के लिए होने चाहिए, न कि उनके राग में बंधने के लिए। राग से विमुक्त होने के लिए ही देव-शास्त्र-गुरु की उपासना की जाती है। उदाहरणार्थ— “देव, शास्त्र, गुरु की पूजा न करे, वह जैन कहलाने का पात्र नहीं। परन्तु ज्ञानी! देव, शास्त्र, गुरु की पूजा करते-करते हुए भी वेदी विशेष पर राग हो गया कि मैं इसी वेदी पर पूजा करूँगा, दूसरी पर नहीं तो तेरे पास धर्म नहीं। तू पुजारी तो है, परन्तु पूज्यता के लिए नहीं। सम्यग्दृष्टि जीव भगवान् की पूजा करने नहीं आता, पूज्य होने के लिए आता है। पूजा करने के लिए

नहीं आया है, अशुभ उपयोग से बचने के लिए आया है।”

आचार्य भगवन् द्रव्य के परिणमन के स्वातंत्र्य पर पूर्ण आस्था व विश्वास रखते हैं। उनके रोम-रोम से कण-कण स्वतंत्र है व प्रत्येक द्रव्य की सत्ता अपने में स्वतंत्र है उद्घाटित होती है। आचार्य भगवन् जब आत्म द्रव्य की स्वतंत्रता का विवेचन करते हैं व भगवान् अरहन्त के स्वरूप के विवेचन में श्रोताओं को मंत्रमुग्ध कर देते हैं तो लगता है कि साक्षात् श्रोतागण केवली भगवन्त के समोवशरण में बैठे जिनवाणी का रसास्वादन कर रहे हैं। देखिए— आचार्य अकलंक स्वामी के इस सूत्र “अक्षयं परमात्मानं” की कितनी सुन्दर व्याख्या करते हैं कि मानो इस सूत्र का गूढ़ रहस्य आज हम प्रथमबार ही स्मरण कर रहे हों। सूत्र का संक्षिप्त अर्थ है कि परमात्मा अक्षय है जिसकी व्याख्या आचार्य श्री के ही शब्दों में देखें और लोक में व्याप्त मिथ्यात्व तिमिर से जन-जन को हम सम्यक्त्व में ला सकते हैं। उदाहरण देखें— “भैया! तुम हमारी भक्ति करो, विशुद्ध सागर की करो, आचार्य विद्यासागर की करो, आचार्य विराग सागर की करो, जिनकी चाहो करो, भैया! तुम अपने भगवान् की भक्ति करो, अपने गुरुओं की भक्ति करो, लेकिन हमारे भगवान् को नीचे मत उतारो। पंडितजी! क्या कह दिया ‘चले आना, हे गुरुदेव! चले आना। कभी महावीर बनके, तो कभी पारसनाथ बनके। कभी विद्यासागर बनके, कभी विरागसागर बनके।’ हे ज्ञानियो! तुम भक्ति तो करो, लेकिन हमारे गये भगवान् को मत बुलाओ। उन्हें वहीं रहने दो, ये अवतारवादी दर्शन नहीं है। ‘अक्षयं परमात्मानं’ सिद्धान्त पर ध्यान दो नकल करना सीखे हो, लेकिन थोड़ी बुद्धि तो लगाओ। आप कह रहे थे कि महाराज! मैंने इतने लोगों को भक्ति में लगा दिया, अरे ज्ञानी! तूने इतने लोगों को मिथ्यात्व में लगा दिया। इतने लोगों को, हजारों को मिथ्यात्व में लगा दिया। क्योंकि सिद्धान्त सब नहीं पढ़ते, लेकिन भक्ति सब करते हैं और वे ही भजन चल रहे हैं क्योंकि नकल है, जिस दिन महावीर मुझे पालने आ जायेंगे, मैं उनको नमोऽस्तु करना उसी दिन छोड़ दूँगा। हे वर्द्धमान! आप मेरे पालनहार जिस दिन हो जाओगे, मैं आपको मानना बंद कर दूँगा, क्योंकि मैं पालनहार को नहीं पूजता हूँ। मैं मारनहार को नहीं पूजता हूँ, जो न मारे और न पाले, ऐसे वीतरागी को पूजता हूँ।”

इस तरह हम देखते हैं कि आज आचार्यश्री जी की वाणी में जो ओज है, निस्पृहता है, निष्पक्षता है, निर्भीकता है, अनेकांतवाद है, स्याद्वाद के प्रति समर्पण है वह दूर-दूर तक ज्ञानियों में आज कम दिखता है।

आचार्य श्री की उपरोक्त कही गयी विवेचना पर यदि आज हम ध्यान दें तो ईश्वर में कर्तापन जो हमने मान रखा है वह मिथ्या भ्रान्ति टूट सकती है। ईश्वर को

कर्ता मानने के कारण ही आज भक्तगण स्वाभिलम्बी नहीं, पुरुषार्थी नहीं अपितु भिखारी बनते जा रहे हैं, जहाँ देखो वहाँ उपासना, भक्ति की आड़ में अपने आराध्य से कुछ न कुछ माँगते हुए लोगों की टोली दिखायी पड़ती है। किन्तु अपने आराध्य से उन जैसा महान् बनने की आकांक्षा लेकर विरले ही आराधक दिखाई देते हैं। इसी प्रकार से आचार्य श्री की चर्या के अंदर व उनके उद्बोधन में निरन्तर एक ही बोध होता है कि आचार्यश्री अहोरात्र अपने भावों व परिणामों को विशुद्ध रखने में पूर्णतः सचेत रहते हैं। चर्या में कहीं दोष न आ जाये इसके लिए निरन्तर सजग रहते हैं। देखिये— आचार्यश्री मात्र श्रावकों को ही नहीं, अपितु निर्ग्रन्थों को जिस तरीके से निष्पक्षतापूर्वक, निर्भयतापूर्वक आगम की साक्षी में चर्यावान बनने की जो प्रेरणा देते हैं वह अन्य साधकों के लिए ग्राह्य हैं। उदाहरण देखें— “निर्ग्रन्थों से कहना कि ज्ञानी! सामायिक करना तेरा धर्म है। मण्डली में बैठकर रात्रि में बैठे रहना तेरा धर्म नहीं है।” और भी आगे निर्ग्रन्थ मुनिराजों को सम्बोधन देते हुए कहते हैं “जहाँ मुनिराज रात्रि की सभा में बैठे हों, उस सभा में तुम्हें शामिल नहीं होना चाहिए।” वर्तमान समय में हम जो साधुगणों को कमण्डल, पिच्छि व शास्त्र के अतिरिक्त अन्य उपकरण उपलब्ध कराते हैं उस पर आचार्य श्री का उद्बोधन अत्यन्त मार्मिक है— “आज के ज्ञानी चर्या कर लेते हैं यंत्रों से नमोऽस्तु महाराज। ज्ञानी! जितना नमोऽस्तु का पुण्य नहीं मिलेगा, आपको उतना यंत्र से नमोऽस्तु भेजी है, उसका पाप भी मिलेगा। कहीं ऐसा न हो जाये कि अगली आने वाली दीक्षाओं में आपको साथ में मोबाइल देना पड़ जाये। इसलिए आपको विचार करना पड़ेगा। जब तक चेतन तीर्थों की रक्षा नहीं कर पाओगे, तो अचेतन तीर्थों की रक्षा कैसे करोगे?” निर्ग्रन्थ श्रमण चर्या में निर्ग्रन्थों को उत्कृष्ट चर्या के लिए इससे अधिक सम्बोधन आज नहीं दिया जा सकता।

आचार्य श्री भले ही करुणानुयोग व द्रव्यानुयोग की शैली में जिनवाणी का श्रवण कराते हैं, लेकिन उनके प्रत्येक शब्द—शब्द में प्रथमानुयोग व चरणानुयोग स्वयं आगे—आगे स्फुटित होता है। लोग—मर्यादा व लोक — व्यवहार पर गम्भीरतापूर्वक विवेचन उनके द्रव्यानुयोग के कथन में भी दिखाई पड़ता है वह सर्वत्र दुर्लभ है। उदाहरण के लिए “प्रक्षीण पुण्यं विनश्यति विचारणं” के सूत्र की कितनी मार्मिक विवेचना करते हुए आचार्यश्री भव्य जीवों को समझाते हैं, कि हे प्राणी! जिनका पुण्य क्षय को प्राप्त हो गया है उनको आप कितना भी सम्बोधित करें उनकी समझ में नहीं आयेगा। इस पर रावण आदि का उदाहरण बड़े मार्मिक तरीके से दिये हैं और जिसका पुण्य उदय में है उसको जरा से भी शुभनिमित्त अपूर्व फल प्रदान कराते हैं। आज वर्तमान में डाक्टर लोभकषाय के वशीभूत होकर मरीज का शोषण करते हैं एवं मोह के वश में परिवारीजन अन्तिम समय डॉक्टरों की बातों में आकर

मरीज को धर्म-ध्यान से वंचित करते हैं इस पर आचार्यश्री के शब्दों में वानगी देखिये— “ज्ञानी यथार्थ वैद्य होगा, उसको तो बहुत पहले ही मालूम चल जाता है। कोई लोभी होगा, यमराज होगा तो मालूम होते हुए भी भर्ती कर लेगा। ‘कल्याणकारक’ जैन आयुर्वेद शास्त्र है, उसमें बहुत सारी सूचनाएँ लिखी हुई हैं। रोगी का सदस्य वैद्य को आमंत्रण – निमंत्रण देने जा रहा है। अब वह मुख से आमंत्रण बोलता है कि निमंत्रण बोलता है, इसमें भी रहस्य हैं अच्छे कामों के लिए आमंत्रण कार्ड भेजना चाहिए कि निमंत्रण कार्ड भेजना चाहिए सब लोग भूल करते हैं। आमंत्रण में निमंत्रण लिखते हैं और निमंत्रण में आमंत्रण। दोनों में गड़बड़ियाँ हैं। एक ऊपर जाने के लिए भेजा जाता है, एक नीचे जाने के लिए।” इस तरह आज तो डॉक्टर लोग मरीज की अन्तिम अवस्था जानते हुए कृत्रिम श्वासोच्छ्वास देने की प्रक्रिया के तहत आर्थिक शोषण करते हैं उसके लिए समाज के सामने यह अच्छा उदाहरण है। इसी तरह ‘श्राद्ध ण भुंजीत’ इस लघु सूत्र की व्याख्या करते हुए आचार्य श्री स्पष्ट करते हैं कि हे ज्ञानियो! हमें किसी भी प्रकार से मृत्यु उपरान्त भोज में शामिल नहीं होना चाहिए। एक तरफ उस घर में करुणाक्रन्दन होता है, दूसरी तरफ आप भोजन करते हो, यह कहाँ तक उचित है। इसी तरह आगे और व्याख्या करते हुए आचार्यश्री सम्बोधन देते हैं कि हे प्राणियो! तेरहवीं करके उसके नाम पर आज जो शान्ति पाठ का ढोंग रचते हो वह आगम के अनुकूल नहीं है। वह सच्चा मार्ग नहीं है। शान्ति पाठ तो शान्ति के लिए उचित स्थान पर उचित समय पर किया जाना चाहिए। इसी प्रकार से आचार्यश्री की हर व्याख्या के अन्दर परिणामों को विशुद्ध करने का व कषायों को मन्द करने का जो अचूक मंत्र होता है वह सर्वत्र सुलभ नहीं है। देखिये— पद्मपुराण जी ग्रन्थ के आधार पर जब क्रतान्तवक्र सेनापति माँ सीते को वन में छोड़कर के आते हैं उस समय कर्म, कर्मफल व भावों की दशा व ज्ञानी के क्षयोपशम का कितना सुन्दर चित्रण है यदि आज की हमारी माता-बहिनें, हमारे बन्धुवर इसको आत्मसात् कर लें तो घर-घर के अन्दर पुनः अयोध्या का राम-राज्य दिखाई देगा। सेनापति! आप चक्र को ठीक करो। हे जननी, हे सीते! किसने कह दिया कि चक्र टूटा। हे माँ! रथ का चक्र नहीं टूटा, आपके कर्म का चक्र टूट गया है। हे देवी! मुझ किंकर से कूकर श्रेष्ठ है। कूकर स्वतंत्र होकर विचरण करता है, परन्तु किंकर को जैसा स्वामी कहता है वैसा करना पड़ता है। आज मैं किंकर न होता तो आप जैसी सती को जंगल में छोड़ने नहीं आता। यही कारण है कि एक समय था जब जैनी अपना व्यापार कर लेते थे, परन्तु किसी की नौकरी करने नहीं जाते थे। जिस दिन प्रवचन सुनना हो उस दिन ताले बंद करके आ जाएगा तू और यदि तू नौकर होगा, तो तेरा मन भी करेगा फिर भी नहीं आ पाएगा। किंकर से कूकर श्रेष्ठ

है। तुम बड़े प्रेम से कहते हो कि महाराज! आशीर्वाद दे दो, जॉब लग जाए। हे पागलो! तुम नौकर बनने का आशीर्वाद माँगने आए, महाराज बनने की बात करो।”

हम देखते हैं कि आचार्यश्री ने स्वरूप सम्बोधन ग्रन्थ की व्याख्या के अन्दर लोक व्यवहार, परिवार की मर्यादा, राष्ट्र की मर्यादा एवं लोककल्याण सभी समाहित होता है। आचार्यश्री का परिणामो की विशुद्धि पर विशेष ध्यान रहता है। क्योंकि तभी तो नौकरी को हमारी प्राचीन आगम परम्परा के अनुसार हेय दर्शाया गया है। यही नहीं आचार्यश्री अपने उद्बोधन में बताते हैं कि हे प्राणियो! सभी गतियों में हर जीव अपने-अपने कर्म बंध के अनुसार फल भोगता है। देखिये—“सौधर्म इन्द्र के पास जितना वैभव होता है, ऊपर के स्वर्गों में उतना वैभव नहीं होता, लेकिन वे सुखी क्यों होते हैं? अहिमन्त्र होते हैं। न किसी को आज्ञा देते हैं, न लेते हैं, इसलिए सुखी होते हैं।”

आचार्य श्री अपने उद्बोधन में हमेशा उत्कृष्टशील, संयम एवं ब्रह्मचर्य पर जोर देते हुए कहते हैं—“दृष्टि हो तो ज्ञानी विक्रमादित्य जैसी हो! रहस्य की बात! सम्राट विक्रमादित्य पर एक स्त्री मोहित हो गयी। उसने उसी भाषा का प्रयोग किया। सीधे तो नहीं बोल सकी। क्या बोली? स्वामी मेरी तीव्र भावना है कि आप जैसे वीर सुमट बालक को जन्म दूँ। राजा विक्रमादित्य समझ गये कि उसकी दृष्टि खोटी हो गयी है। सम्राट धीरे से झुकता है और चरण पकड़ लेता है, कहता है माँ! मैं ही तेरा बालक हूँ। बालक होने में देर लगेगी, मैं आज से ही तेरा बालक हूँ।” उस माँ की आँखों से आँसू टपकने लगे। हाय मेरे पापी मन को, क्या सोच रही थी? और धन्य हो इस वीर पुरुष को, जो हर नारी को माँ कहता हो। ये भारत भूमि ऐसे ही महान् नहीं है। ऐसे महान् जीवों को अपनी छाती पर, गोदी पर रख चुकी है।” काश! इसी प्रकार से सभी विद्वत्जन ब्रह्मचर्य की इस उत्कृष्ट परम्परा को जगत् में स्थापित करने में योगदान दें तो पूरे विश्व से नारी शोषण, नारी उत्पीड़न, व्यभिचार व बलात्कार नाम की घटनाएँ मिट जायेंगी। नारी हमें एक साक्षात् माँ, देवी भगवती, सरस्वती के रूप में दिखायी देने लगेगी। यह कर्म भूमि नहीं बल्कि एक स्वर्गधरा में परिवर्तित हो जायेगी।

इसी प्रकार से आचार्य श्री अपने उद्बोधन में हमेशा इस पंचमकाल में होते हुए भी ज्ञानियों को सतत् कल्याण में लगे रहने का मार्ग दर्शन देते हैं। यही वजह है कि उनकी प्रवचन सभा चतुर्थकालवत् समोवशरण का रूप ले लेती है। प्रवचन सभा के अन्दर आचार्यश्री कितनी ही देर तक बोलते रहें, कितना ही समय निकल जाता है, परन्तु पता ही नहीं लगता। ऐसा लगता है मानो सीमन्धर भगवान् की देशना का

लाभ ले रहे हैं। देखिए— आचार्यश्री श्रमण और श्रावक दोनों को बराबर से मार्गदर्शन देते हैं जो हमारे आगम की आर्ष परम्परा है। (आचार्य को प्रथम तो श्रमण मार्ग का उपदेश देना चाहिए, उसके बाद श्रावकत्व का) — “अहो! पंचमकाल एवं कालुष्य परिणामों की दुर्गन्ध अपना प्रभाव दिखा रही है। वर्द्धमान की वाणी की सत्यता प्रत्यक्ष दिख रही है। जीव रागी जीवों से प्रीति रखते हैं। संयमियों से संयमी जीव तक क्लेश को प्राप्त होते दिख रहे हैं। स्वयं की श्रेष्ठता प्रकट करना, दूसरों के असद् दोषों को भी सद् रूप कहना, स्वयं के गण, गच्छ, संघ के राग में निर्दोष संघ में दोष प्रकट करना दर्शन— मोहनीय कर्म का ही प्रभाव है।”

यही नहीं आगे सभी ज्ञानियों को जिनशासन के प्रति आस्थावान बनाते हुए कितना सुन्दर उद्बोधन देते हैं— “ज्ञानियो! निज आत्मा की रक्षा के भाव रखो। निर्दोष श्री जिनवीरचन्द्र शासन, सर्वज्ञ शासन, जिनेन्द्र शासन, निष्कलंक शासन, अकलंक शासन, स्याद्वाद शासन, अनेकान्त शासन, अर्हन्त शासन, जिनशासन, नमोऽस्तु शासन, पूत शासन, सिद्ध शासन, सत्य शासन, अमित शासन, वीतराग शासन, क्षेमकृत शासन, पुण्य शासन, व्यक्त शासन की देशना का पारायण कर अपनी निर्मल परिणति कर आत्मकल्याण करें। नमोऽस्तु शासन जयवन्त हो।” इस तरह हम देखते हैं कि आचार्यश्री आज के उन दुर्लभ योगियों में से हैं जो व्यक्ति के अंतरंग कषायों का परिमार्जन कर अनादिकाल के खोटे संस्कारों से दूर करते हुए विशुद्ध परिणामों की तरफ आगे बढ़ाते हैं। धन्य हैं वे उत्कृष्ट प्रतिमाधारी त्यागीगण जो आचार्यश्री के पादमूल में रहकर अपना आत्म कल्याण का पथ प्रशस्त कर रहे हैं। आज स्वरूप संबोधन ग्रन्थ में आचार्यश्री द्वारा वर्णित विषय में कषाय विवेचना पर मुझे चिन्तन करने का जो पुण्य अवसर मिला उसके लिए मैं आचार्यश्री के चरणों में त्रिकाल नमोऽस्तु करते हुए एक ही आकांक्षा करता हूँ कि हे स्वामिन्! मुझे मेरे स्वरूप का बोध हो, सल्लेखना समाधि की प्राप्ति आपके श्रीचरणों में हो। आपके दोनों हस्त मेरे शीश पर हों और मेरा शीश आपकी जंघा पर हो, आत्मध्यान में रत होते हुए मेरे कर्ण आपके मुखारबिन्द से निकले हुए इस मांगलिक उद्बोधन का श्रवण कर रहे हों। इसी के साथ यदि कहीं विवेचना में कुछ मेरे से त्रुटि हुयी हो तो मैं सभी सरस्वती पुत्रों से क्षमायाचना व मार्गदर्शन का आंकाक्षी हूँ।

आचार्य अकलंक देव द्वारा रचित कृतियों में स्वरूप सम्बोधन का वैशिष्ट्य

—डॉ० सनत कुमार जैन, जयपुर

जैन धर्म और दर्शन में आत्म स्वरूप का अपना स्वतंत्र वैशिष्ट्य है। आत्मा और शरीर भिन्न-भिन्न हैं। इस सत्य को स्वीकारते हुए आत्मा के स्वरूप का विवेचन जैनाचार्यों ने विस्तार से किया है। लगभग सातवीं सदी के उत्तरार्द्ध में आचार्य अकलंक देव बहु प्रसिद्ध दार्शनिक विद्वान् हुए। उन्होंने न्याय विषयक अनेक ग्रंथ लिखे। उनकी रचनाओं में लघीयस्त्रय, न्याय विनिश्चय, सिद्धि विनिश्चय, प्रमाण संग्रह के साथ स्वरूप सम्बोधन नामक कृति उल्लेखनीय है जो अत्यंत महत्वपूर्ण है। टीका ग्रंथ के नाम से विख्यात अष्टशती और तत्त्वार्थवार्तिक सर्वविदित है।¹

आचार्य अकलंक देव ने अपनी कृतियों में आत्मा को विभिन्न गुणोंयुक्त व्याख्या से परिभाषित किया है। अनेकान्त और स्याद्वाद के सिद्धान्त भी कसौटी पर कसे जाने वाले कथन द्वारा आत्मा के गुण, स्वभाव, देह प्रमाणता, ग्राह्यता, अग्राह्यता, अस्तित्व, कूर्तत्व आदि अनेक क्लिष्ट संदर्भों को स्पष्ट किया है।

स्वरूप सम्बोधन विषय की महनीयता को प्रतिपादित करते हुए आचार्य अकलंक देव ने पच्चीस श्लोक प्रमाण "स्वरूप सम्बोधन" नामक ग्रंथ की अलौकिक रचना की है। यद्यपि यह कृति बहु अक्षर की अपेक्षा लघु है, परन्तु भाव की अपेक्षा बहुत गम्भीर है। गागर में सागर भरा है। प्रत्येक श्लोक में स्याद्वाद शैली का अनोखा प्रयोग है। इस महत्वपूर्ण कृति का हिन्दी अनुवाद गणिनी आर्यिका 105 सुपाश्र्वमती माताजी द्वारा भी किया गया है।

स्वरूप सम्बोधन कृति के प्रत्येक श्लोक पर श्रमणाचार्य श्री 108 विशुद्ध सागर जी मुनि महाराज का विशेष विशद व्याख्यापूर्ण मार्मिक प्रवचन जो लगभग 400 पृष्ठों में ग्रंथ के रूप में मुमुक्षुओं को उपलब्ध है, यह श्लाघनीय है। आचार्य भगवन्तों ने आत्मा को अपने स्वरूप को जानने हेतु सम्बोधित करते हुए लिखा है— हे आत्मन्! तू बाह्य पदार्थों में लीन होकर व्यर्थ में जन्म-मरण के दुःखों को भोगता हुआ क्यों नरक निगोद आदि गतियों में भटक रहा है। अपने स्वरूप को समझ कर तथा राग-द्वेषादि विभाव भावों का वमन कर ज्ञान स्वरूप आत्मा में लीन होकर स्वानुभव रूप अमृत का पान कर अजर-अमर पद को प्राप्त कर।

आत्मा के स्वभाव भाव का कथन कर आचार्य अकलंक देव ने आत्मा की सिद्धि करते हुए स्वरूप सम्बोधन ग्रन्थ में उल्लेख किया है कि—

**मुक्तामुक्तैकरूपो यः, कर्मभिः संविदादिना।
अक्षयं परमात्मानं, ज्ञानमूर्तिं नमामितं॥**

अर्थात् आत्मा मुक्त भी है, आत्मा अमुक्त भी है और आत्मा मुक्तामुक्त रूप भी है। ज्ञानावरणादि आठ कर्मों से रहित होने से आत्मा मुक्त रूप है और ज्ञानादि गुणों से सहित होने से आत्मा अमुक्त है तथा दोनों गुण एक साथ होने से मुक्तामुक्त है। इसप्रकार से अविनाशी ज्ञान मूर्ति परमात्मा को नमन किया गया है।^१

श्रमणाचार्य विशुद्ध सागर जी मुनिराज ने उक्त श्लोक के तृतीय पद "अक्षयं परमात्मानं" की विशेष व्याख्या करते हुए लिखा है कि आचार्य अकलंक देव ने आत्मा को नमन नहीं किया है, अपितु उन्होंने तो परमात्मा को नमन किया है। फिर प्रश्न किया, कैसे परमात्मा को? उत्तर दिया कि जिसका कभी क्षय नहीं होता है और जो गुण विहीन नहीं है। अर्थात् जो ज्ञान की मूर्ति है ऐसे अशरीरी सिद्ध परमात्मा को नमन किया है। परमात्मानं से यहाँ यह उल्लेखनीय है कि जो परमात्मा है वो तो आत्मा ही है, किन्तु जो आत्मा है वह परमात्मा नहीं है। जैनेतर दार्शनिकों का उक्त विषय में चिन्तन इससे भिन्न प्रकार का है—

सांख्यदर्शन आत्मा को सदा कर्मों से रहित मानता है। नैयायिक दर्शन गुणविहिन को मोक्ष मानते हैं। बौद्ध दर्शन मोक्ष में आत्मा का अभाव ही स्वीकार करता है। इन सबका खण्डन करने के लिए आचार्य अकलंकदेव ने कहा है कि आत्मा अनादिकाल से मुक्त नहीं है, अपितु अनादि कालीन ज्ञानावरणीय द्रव्यकर्म, राग-द्वेषादि भावकर्म और शरीरादि नौ कर्म से छूटा है। बंध के कारण मिथ्या दर्शन, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग से रहित होकर सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र द्वारा कर्मों से छूटा है इसलिए मुक्त है। अनादिकाल से मुक्त नहीं है। कारण ज्ञान, दर्शन, सुख आदि से युक्त है इसलिए अमुक्त है। ज्ञानादि गुणों का सिद्धों में अभाव नहीं है, अतः मुक्त और अमुक्त दोनों अवस्थाएँ एक हैं। इसलिए मुक्तामुक्त एक रूप है।

अग्राह्य और ग्राह्य दृष्टि से आत्मा के स्वरूप का विवेचन करते हुए आचार्य अकलंक देव ने लिखा है कि आत्मा अर्थात् परमात्मा ज्ञान दर्शनात्मक उपयोगमय है तथा 'क्रमाद्धेतुफला' उक्त पद का अर्थ किया है कि परमात्मा क्रम से कारण और कार्य दोनों को धारण करने वाला है। इन्द्रियों के द्वारा जाना नहीं जाता है, इसलिए

अग्राह्य है और ज्ञान के द्वारा जानने योग्य है अतः ग्राह्य है। यह परमात्मा शक्ति रूप से अनादि और अनन्त है। यह जीवात्मा अपने स्वरूप से कभी नष्ट नहीं होता। अतः स्थिति (धौव्य) स्वरूप है। प्रतिक्षण पर्याय रूप से परिवर्तन करता है। अतः उत्पत्ति तथा व्ययात्मक है। इस प्रकार आत्मा अनादि, अनन्त स्वरूप बतलाकर उसकी अविनश्वर, अकृत्रिम सत्ता का बोध कराया है। आत्मा में चेतन—अचेतन रूप अवस्था की विवेचना करते हुए आचार्य भगवन्त ने लिखा है—

प्रमेयत्वादिभिर्धर्मैरचिदात्मा चिदात्मकाः।

ज्ञान दर्शन तस्तस्माच्चेतनाचेतनात्मकाः॥३॥

अर्थात् आत्मा प्रमेयत्वादि धर्मों के द्वारा अचेतन रूप है और ज्ञान दर्शन रूप उपयोगात्मक होने से चेतन स्वरूप है इसलिए चेतन एवं अचेतन दोनों एक साथ होने से चेतना—चेतनात्मक है।

यहाँ पर स्पष्ट करते हुए आचार्य अकलंक देव ने उल्लेख किया है कि प्रत्येक द्रव्य में अस्तित्व, वस्तुत्व, द्रव्यत्व, प्रमेयत्व, प्रदेशत्व और अगुरुलघुत्व ये छः सामान्य गुण पाये जाते हैं। ये छः गुण सामान्य हैं। जो जीव अजीवादि छः द्रव्यों में पाये जाते हैं अतः अचेतन स्वरूप है। उक्त गुणों की अपेक्षा जीवद्रव्य कथञ्चित्, अचेतनात्मक है।

आचार्य अकलंक देव ने स्वरूप सम्बोधन के परिप्रेक्ष्य में आत्मा के स्वरूप का विभिन्न रूपों में कथन किया है, क्योंकि वस्तु अनेक धर्मात्मक रूप है तथा जिसमें गुण पर्यायें वास करती हैं। इसलिए आत्मा की सिद्धि ज्ञान से भिन्न और अभिन्न भी है। आत्मा स्वदेह प्रमाण वाला है। आत्मा नाना स्वभाव वाला भी है और एक स्वभाव वाला भी है। वक्तव्य भी है अवक्तव्य भी है। आत्मा विधि निषेधात्मक वाला भी है। अस्ति, नास्ति, एक, अनेक, भेद, अभेद, वाच्य, अवाच्य आदि वस्तुगत अनेक धर्मों के समुदाय वाला भी है। कर्मों का कर्ता होने से आत्मा कर्ता भी है।

आध्यात्मिक दृष्टि से विचार करने पर ज्ञातव्य है कि प्रत्येक द्रव्य में अभिन्न रूप से निरन्तर षट् कारक होते हैं। उस षट्कारक व सप्तविभक्ति के द्वारा आत्मा का ज्ञान कराने के लिए अकलंकदेव ने अभिन्न कारक का कथन किया और उसके फल को बताया। लिखा है—

स्वः स्वं स्वेन स्थितं स्वस्मै स्वस्मात् स्वस्याविनश्वरं।

स्वस्मिन् ध्यात्वा लभेत् स्वोत्थ मानन्दा मृतं पदम्॥२५॥

अर्थात् स्वः = निज आत्मा, स्वं = निज को, स्वेन = निज के द्वारा, स्थितं =

स्थित, स्वस्मै = निज के लिए, स्वस्मात् = अपने आप से स्वस्य = अपने आप को, स्वोत्थं = अपनी आत्मा से उत्पन्न हुआ, अविनाश्वरम् = अविनाशी, स्वास्मिन् = अपने आप में, ध्यात्वा = ध्यान करके, आनन्दं = आनन्द रूप अमृतं = रूप, पदं = पद को, लभेत = प्राप्त करता है।

इस प्रकार आत्मस्थ दशा को प्राप्त ज्ञानी जीव विपत्तियों के उपस्थित होने पर भी खेद खिन्न नहीं होते। तात्कालिक उदाहरण से दृष्टव्य है कि आचार्य श्री विशुद्ध सागर जी मुनिराज ने स्वरूप देशना पर अपने विशेष प्रवचन में उल्लेख किया है कि आचार्य महावीर कीर्ति मुनिराज कटनी (म० प्र०) के जिनालय में श्री जी के सामने कायोत्सर्ग मुद्रा में जाप कर रहे थे कि कालिया नाग ने आकर मुनिराज की उंगली को मुख में ले लिया और जब नाग ने उंगली को नहीं छोड़ा तो महाराज के शब्द थे— भईया! यदि बैर है तो देर क्यों? और बैर नहीं है तो अंधेर क्यों? मुझे सामायिक करने दो" वह भी संजी जीव था, वो भी भगवान आत्मा था। साँप ने अंगुली को छोड़ दिया और अपने बिल में चला गया तथा योगी अपने बिल में चले गये अर्थात् आत्मस्त हो गये। सामायिक में लीन हो गये।

आचार्य अकलंक देव ने स्वरूप सम्बोधन में आत्मा के स्वरूप का स्याद्वाद नय के द्वारा कथन करते हुए तत्त्वार्थ वार्तिक में उल्लेख किया है कि जिस प्रकार से दीपक घट-पटादि पदार्थों के साथ स्व स्वरूप का भी प्रकाशक है। उसे स्व स्वरूप प्रकाशन के लिए प्रदीपान्तर की आवश्यकता नहीं होती। वैसे ही हे आत्मन्! तू स्व, स्व को, स्व के द्वारा स्थित, स्व के लिए, स्व से उत्पन्न, स्व का अविनाशी, स्व में ध्यान करके, स्व में लीन होकर, स्व से उत्पन्न आनन्द मय अमृत (मोक्ष) का पद प्राप्त कर। आत्मस्वभाव परभाव भिन्न।

संदर्भ ग्रंथ—

1. भगवान महावीर और उनकी आचार्य परम्परा दृ पृ० 306 भाग 2
2. भगवान महावीर और उनकी आचार्य परम्परा दृ पृ० 306 भाग 2
3. स्वरूप सम्बोधन पृ० 1
4. स्वरूप सम्बोधन पृ० 3
5. स्वरूप सम्बोधन पृ० 5
6. स्वरूप सम्बोधन पृ० 7

द्रव्य स्वतंत्रता- एक अनुचिन्तन

-डॉ० सुशील जैन, कुरावली (मैनपुरी)

भौतिक जगत् के सूक्ष्म तत्त्वों को खोजने में जैन आचार्यों का महत्वपूर्ण योगदान रहा है। आचार्यों ने द्रव्य की परिभाषा बतलाते हुए कहा है- जो गुणों के द्वारा प्राप्त किया गया था अथवा गुणों को प्राप्त हुआ था। गुणों के द्वारा जो प्राप्त किया जायेगा या गुणों को प्राप्त होगा उसे द्रव्य कहते हैं। द्रव्य - गुण - पर्याय का कथन तो सम्पूर्ण द्वादशांग में है। पद्म -पुराण में आचार्य श्री रविषेण स्वामी लिखते हैं जो पुण्य पुरुष पुराण का पाठ कर लेता है उसके पुण्य की वृद्धि होती ही है, लेकिन कर्म की निर्जरा भी होती है। सत् द्रव्य का लक्षण है। सत् अस्तित्व का वाची है। लोक में जितने भी अस्तित्ववान पदार्थ हैं सब सत् हैं। सत् उत्पाद व्यय और ध्रौव्य से युक्त रहता है। उत्पाद-उत्पन्न होना, व्यय-विनाश होना, ध्रौव्य - स्थायित्व होना ये तीनों बातें प्रत्येक सत् में युगपत् घटित होती हैं। लोक में जितने भी पदार्थ हैं सब परिणमनशील हैं उनमें प्रतिसमय नयी-नयी अवस्थाओं की उत्पत्ति होती रहती है। नयी-नयी अवस्थाओं की उत्पत्ति के साथ ही पूर्व-पूर्व अवस्थाओं का विनाश भी होता है यह उसका उत्पाद - व्यय है। पूर्वावस्था के विनाश और नयी अवस्था की उत्पत्ति के बाद भी पदार्थ में स्थायित्व बना रहता है। यह अवस्थिति ही ध्रौव्य है। जैसे- दूध से दही बना, दूध का विनाश हुआ दही का उत्पाद हुआ, गौ रस ध्रौव्य रहा। इस प्रकार द्रव्य को उत्पाद- व्यय, ध्रौव्य वाला कहा जाता है। 'उत्पाद व्ययध्रौव्ययुक्तं सत्'। जो उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यात्मक हो वह सत् है। 'सद् द्रव्य लक्षण' द्रव्य का लक्षण सत् है और जो सत् है वह उत्पाद - व्यय - ध्रौव्यात्मक है। जिसमें उत्पाद- व्यय हो रहा है वही द्रव्य है जब निहारेंगे, अन्दर जायेंगे तब वस्तु के स्वभाव को नहीं बदल पाओगे। ज्ञानी बाल काले हैं कि कर लिए हैं, विचार करो गंभीर तथ्य है 'स्थित्युत्पत्तिव्यायात्मकः'।

द्रव्य के छह भेद बताये हैं-

जीवा पोग्गलकाया धम्मा धम्मा य काल आयासं।

तच्चत्था इदि भणिदा णाणागुण पज्जएहिंसंजुत्ता॥ (नियमसार)

जीव, पुद्गलकाय, धर्म, अधर्म, आकाश, काल ये तत्त्वार्थ द्रव्य कहे गये हैं। जो नाना गुण पर्यायों से संयुक्त हैं।

जीवद्रव्य-

परम पूज्य आचार्य श्री विशुद्ध सागर जी महाराज स्वरूप देशना में लिखते हैं

छः द्रव्य त्रैकालिक हैं। जीव द्रव्य का कोई जनक आज तक हुआ ही नहीं है। पुद्गल द्रव्य का कोई जनक नहीं हुआ। धर्म, अधर्म, आकाश, काल द्रव्य का कोई जनक नहीं हुआ है। ये परिणामिक भाव में रह रहे हैं। इनका कोई जनक नहीं है। जीव स्वयं अपने रागादिक भावों का जनक तो है, वह अपने शुभाशुभ परिणामों का जनक तो है, परन्तु जिसमें शुभाशुभ परिणाम हो रहे हैं उस परिणामी का जनक स्वयं नहीं है। दस प्राणों में से अपने योग्य प्राणों के द्वारा जो जीता है, जीता था व जीवेगा। इस त्रैकालिक जीवन गुण वाले को जीव कहते हैं। अथवा निश्चय नय से चेतना लक्षण वाला जीव है। अथवा शुद्ध निश्चय नय की अपेक्षा यद्यपि यह जीव शुद्ध चैतन्य है। अशुद्ध निश्चय नय से द्रव्य व भाव प्राणों से जीता है 'उपयोगो लक्षणम्' जीव का लक्षण उपयोगमय है और उपयोग ज्ञान-दर्शन रूप है। जीव चैतन्य लक्षण वाला होने से समस्त जड़ द्रव्यों से अपना पृथक् अस्तित्व रखता है। जीव असंख्यात् प्रदेशी है और अनादि काल से सूक्ष्म कर्मण शरीर से सम्बद्ध है। अतः चैतन्य युक्त जीव की पहिचान व्यवहार में पाँच इन्द्रिय मन-वचन-काय रूप, तीन बल तथा स्वासोच्छ्वास और आयु इस प्रकार दस प्राण रूप लक्षणों की हीनाधिक सत्ता के द्वारा ही की जा सकती है।

उदाहरणार्थ- मारीचि को यदि तुमने गाली दे दी तो महावीर के जीव द्रव्य को तुमने गाली दी, यदि अपने बेटे को भी तुमने गाली दी है, तो विश्वास रखना आपने अपने भविष्य को गाली दी है। चेतना जीव का लक्षण है। समस्त सुख दुःख की प्रतीति इसी चेतना से होती है, इसी चेतना के आधार पर समस्त जड़ द्रव्यों से इसकी अलग पहिचान होती है। जैन दर्शन में जीव का सर्वाङ्गीण स्वरूप मिलता है। जीव को सर्वाङ्गीण स्वरूप को बताते हुए आचार्य कुन्दकुन्द स्वामी जी ने लिखा है-

जीवोत्तिहवदि चेदा उवओग विसेसिदो पहु कत्ता।

भोत्ताय देह मेत्तो णहि मुत्तो कम्म संजुत्तो॥२७॥ पंचास्तिकाय ॥

जीव के मूलतः संसारी और मुक्त रूप दो भेद हैं कर्म बंधन से बद्ध एक गति से दूसरी गति में जन्म और मरण करने वाले संसारी जीव कहलाते हैं। इसके विपरीत मुक्त जीव कर्म बन्धन से पूर्णतया निवृत्त होकर आत्म स्वातंत्र्य को प्राप्त कर लेता है। मुक्त जीव लोकाग्र भाग में स्थित होकर शाश्वत सुख का अनुभव करता है।

पुद्गल-

पुद्गल शब्द पारिभाषिक शब्द है। इसका व्युत्पत्ति अर्थ कई प्रकार से किया जाता है। पुद्गल शब्द में 'पुद्' और 'गल' ये दो अवयव हैं। 'पुद्' का अर्थ है पूरा होना या मिलना और 'गल' का अर्थ है गलना या मिटना। जो द्रव्य प्रति समय मिलता गलता रहे बनता बिगड़ता रहे, टूटता जुड़ता रहे वह पुद्गल है। पुद्गल द्रव्य स्वरूप देशना विनाश

के दो भेद हैं— परमाणु और स्कन्ध।

परमाणु— पुद्गल की सूक्ष्मतम इकाई परमाणु है। यह पुद्गल की स्वाभाविक अवस्था है तथा अविभाज्य और अंतिम अंश है। इसके बाद इसका और कोई विभाग या टुकड़ा नहीं किया जा सकता है। जैसे किसी बिन्दु का कोई ओर-छोर नहीं होता वैसे ही परमाणु का कोई आदि और अन्त बिन्दु नहीं है। इसका आदि मध्य और अन्त स्वयं है।

स्कन्ध— अनेक परमाणुओं के योग से बनी पुद्गल परमाणुओं की संयुक्त पर्याय स्कन्ध कहलाती है। दो अणुओं वाले स्कन्ध तो परमाणुओं के योग से ही बनते हैं। किन्तु तीन अणु आदि वाले स्कन्ध परमाणुओं और स्कन्ध और स्कन्धों के योग से भी बनते हैं, हमारे दृष्टि पथ में आने वाले समस्त पदार्थ पौद्गलिक स्कन्ध ही हैं। स्कन्ध दो तीन संख्यात असंख्यात और अनन्त परमाणुओं वाला होता है।

पुद्गल की पर्याय— शब्द, बन्ध, सूक्ष्मता, स्थूलता, संस्थान, भेद, अंधकार, छाया, आतप और उद्योत आदि पुद्गल द्रव्य की पर्यायें हैं।

शब्द— एक स्कन्ध के साथ दूसरे स्कन्ध के टकराने से जो ध्वनि उत्पन्न होती है वह शब्द है। शब्द कर्ण या श्रोतेन्द्रिय का विषय है। आचार्य श्री स्वरूप देशना में लिखते हैं भगवान् नेमिचन्द्र स्वामी जी कह रहे हैं शब्द पुद्गल की पर्याय है। शब्द आकाश का धर्म नहीं, शब्द आत्मा की पर्याय नहीं है और शब्द आकाश की पर्याय नहीं है। जो कुछ सृष्टि की रचना है, जो कुछ बाह्य में दिख रहा है वह सब शब्द रूप है तो शब्द पुद्गल की पर्याय है। चाहे हिन्दी व्याकरण हो, शाकटायन हो या जैनेन्द्र व्याकरण हो वे सब जड़ शब्दों का व्याख्यान करने वाली हैं। चैतन्य का व्याख्यान करने वाली कोई व्याकरण नहीं है। एक भी व्याकरण आत्मा का वर्णन नहीं करती, जो शब्द हैं वे शब्द हैं। पुद्गल की पर्याय है, आत्मा की पर्याय नहीं है।

बन्ध— बन्ध शब्द का अर्थ है बंधना, जुड़ना, मिलना, संयुक्त होना। दो या दो से अधिक परमाणुओं का बंध हो सकता है और दो या दो से अधिक स्कन्धों का भी इसी प्रकार एक या एक से अधिक परमाणुओं का या एक से अधिक स्कन्धों के साथ भी बन्ध होता है।

सूक्ष्मता— सूक्ष्मता भी पुद्गल की पर्याय है। इनकी उत्पत्ति पुद्गल से ही होती है। सूक्ष्मता दो प्रकार की होती है। अन्त्य सूक्ष्मता और आपेक्षिक सूक्ष्मता अन्त्य सूक्ष्मता परमाणुओं में ही पायी जाती है और आपेक्षिक सूक्ष्मता दो छोटी बड़ी वस्तुओं में पायी जाती है। जैसे— बेल आंवला और बेर में आपेक्षिक सूक्ष्मता।

स्थूलता— यह भी पुद्गल से उत्पन्न होने के कारण उसकी ही पर्याय है।

संस्थान— संस्थान का अर्थ है आकार रचना विशेष। जैसे मेघ आदि का आकार अवश्य है, किन्तु उसका निर्धारण सम्भव नहीं है।

भेद— पुद्गल पिण्ड का भंग हो जाना भेद है। पुद्गल के विभिन्न भंग टुकड़े उपलब्ध होते हैं। अतः भेद का भी पुद्गल पर्याय कहा गया है।

तम— जो देखने में बाधक हो और प्रकाश का विरोधी हो वह अन्धकार है। प्रकाश पथ में सघन पुद्गलों के आ जाने से अन्धकार की उत्पत्ति होती है।

छाया— प्रकाश पर आवरण पड़ने से छाया उत्पन्न होती है।

आतप— सूर्य आदि के निमित्त से होने वाले उष्ण प्रताप को आतप कहते हैं। आतप मूल में ठंडा होता है, किन्तु उसकी प्रभा उष्ण होती है।

उद्योत— चन्द्रमा जुगनू आदि के शीतल प्रकाश को उद्योत कहते हैं। उद्योत की प्रभा और मूल दोनों शीतल होते हैं। उद्योत में अधिकांश ऊर्जा प्रकाश किरणों के रूप में प्रकट होती है।

धर्म द्रव्य— जैन दर्शन का एक पारभाषिक शब्द है यह एक स्वतंत्र द्रव्य है जो गतिशील जीव और पुद्गल के गमन में सहकारी है। लोकवर्ती छह द्रव्यों में जीव और पुद्गल में ही गतिशीलता पाई जाती है। ये एक स्थान से दूसरे स्थान को भी जाते हैं। शेष धर्म—अधर्म आकाश काल ये चार द्रव्य निष्क्रिय हैं। इनमें हलन—चलन आदि क्रिया नहीं पायी जाती। धर्म द्रव्य समस्त लोक व्यापी अखण्ड द्रव्य है।

अधर्म द्रव्य— जिस प्रकार जीवों और पुद्गलों की गति में धर्म द्रव्य सहायक है, उसी तरह अधर्म द्रव्य ठहरने में सहायक है। धर्म द्रव्य और अधर्म द्रव्य उदासीन निमित्त है। इनकी उपस्थिति में हम चलना चाहें तो धर्म द्रव्य हमारा साथ देने को तैयार खड़ा है। यदि हम ठहरना चाहे तो अधर्म द्रव्य हमारे स्वागत में प्रतीक्षारत है।

आकाश द्रव्य— जो जीवादि द्रव्यों को अवकाश प्रदान करता है वह आकाश है। आकाश अनन्त है, किन्तु जितने आकाश में जीवादि अन्य द्रव्यों की सत्ता पाई जाती है वह लोकाकाश कहलाता है, और वह सीमित है। लोकाकाश से परे जो अनन्त शुद्ध आकाश है उसे अलोकाकाश कहा जाता है। उसमें अन्य किसी द्रव्य का अस्तित्व नहीं है और न हो सकता है। क्योंकि वहाँ गमनागमन के साधनभूत धर्मद्रव्य का अभाव है।

काल द्रव्य— काल द्रव्य प्रत्येक पदार्थ में होने वाले परिवर्तन परिणमन का हेतु है। यही वह द्रव्य है जिसके निमित्त से अन्य द्रव्य अपनी पुरानी अवस्था को छोड़कर प्रतिक्षण नया रूप धारण करते हैं। यह भी आकाश की तरह अमूर्त और निष्क्रिय है। किन्तु उसकी तरह एक और व्यापक न होकर असंख्य है। जो पूरे लोकाकाश के प्रदेशों पर रत्नों की राशि की तरह भरे पड़े हैं।

काल द्रव्य की यह भूमिका है परिणमनगत इस आलम्बन को वर्तना कहते हैं। यह काल द्रव्य का मुख्य लक्षण है। इसे ही निश्चय काल कहते हैं। इसके अभाव में परिणमन नहीं हो सकता। समय, पल, घड़ी, घण्टा, मिनट आदि व्यवहार काल हैं। समयकाल की सूक्ष्मतम् इकाई है। एक पुद्गल परमाणु को मन्द गति से आकाश के एक प्रदेश से दूसरे प्रदेश तक जाने में जो काल लगता है उसे समय कहते हैं। नया-पुराना, बड़ा-छोटा, दूर-पास आदि का व्यवहार काल द्रव्य के ही आश्रित है।

इसका अनुमान सौर मण्डल एवं घड़ी आदि के माध्यम से लगाया जाता है। द्रव्यों के होने वाले परिणमन से भूत भविष्य और वर्तमान का व्यवहार भी इसी काल के आश्रित है।

‘मोहाविष्ट एवं भूताविष्ट पर एक दृष्टि’

—हजारी लाल जैन, आगरा

आचार्य अकलंक देव द्वारा विरचित ‘स्वरूप संबोधन’ पर पूज्य आचार्य श्री विशुद्ध सागर जी महाराज द्वारा प्रवचनों के माध्यम से सम्पादित ‘स्वरूप देशना’ टीका के श्लोक नं० 12 के प्रवचनों में भूताविष्ट तथा मोहाविष्ट इन दोनों शब्दों का प्रयोग किया गया है। इन्हीं शब्दों के प्रयोग पर मेरे इस लेख में विचार किया जायेगा।

स्वरूप सम्बोधन का 12वां श्लोक इस प्रकार है—

यथावद्वस्तुनिर्णीतिःसम्यग्ज्ञानं प्रदीपवत्।
तत्स्वार्थव्यवसायात्मा कथंचित्प्रमितेः पृथक्॥

अर्थ— ज्यों का त्यों वस्तु का निर्णयात्मक ज्ञान सम्यग्ज्ञान कहलाता है, वह (सम्यग्ज्ञान) दीपक के समान, अपने एवं श्रेयभूत पदार्थ के निश्चयात्मक ज्ञानरूप होता है, प्रमिति से, कथंचित् भिन्न भी होता है।

उपर्युक्त श्लोक में यद्यपि आचार्य अकलंक देव ने भूताविष्ट एवं मोहाविष्ट शब्द का प्रयोग नहीं किया है। परन्तु पूज्य आचार्य श्री को ‘समयसार’ ग्रन्थराज अत्यन्त प्रिय हैं और प्रिय हो भी क्यों नहीं, क्योंकि द्रव्यानुयोग में यह ‘समयसार’ नाम का ग्रन्थ अनुपम है। पूज्य आचार्य श्री कुन्दकुन्द महाराज ने अपने जीवन में जो कुछ महान् शास्त्राभ्यास से प्राप्त किया, जो कुछ अपने गुरुदेव से उपदेश रूप से प्राप्त किया तथा अन्य विभिन्न दर्शन वालों को वाद-विवादों द्वारा जीत कर निज आत्म वैभव का जो अनुभव प्राप्त किया, उस आनन्दामृत को इस ग्रन्थराज में उड़ेल दिया है। सच तो यह है कि आत्मस्वरूप का जो अद्भुत विवेचन इस ग्रन्थ में है वैसा किसी अन्य ग्रंथ में है ही नहीं। इसलिए तो प० पन्नालाल जी साहित्याचार्य सागर वाले कहा करते थे कि मैं इस ग्रन्थ को पढ़ने के बाद दावे से कह सकता हूँ कि जिसने इस ग्रन्थराज समयसार का अध्ययान्त स्वाध्याय, चिंतन और अवधारण न किया हो उसे कभी भी सम्यक्त्व की निर्मलता हो ही नहीं सकती है।

पूज्य आचार्य श्री को समयसार ग्रन्थराज अत्यन्त प्रिय है। जिसके कारण ‘स्वरूप सम्बोधन’ ग्रंथ के श्लोक नं० 12 में भूताविष्ट और मोहाविष्ट शब्द का प्रयोग न होते हुए भी, इन श्लोक के प्रवचन में उन्होंने इन दोनों शब्दों का तथा इसी प्रकार के ही अन्य शब्दों का प्रयोग ग्रन्थराज समयसार के आधार पर किया है। इन सभी शब्दों पर हमको दृष्टिपात करना है।

पूज्य आचार्य श्री ने 'स्वरूप देशना' टीका में चार शब्दों का प्रयोग किया है। भूताविष्ट, मोहाविष्ट, भैसाविष्ट तथा भेषाविष्ट, आविष्ट शब्द का अर्थ यदि हम आष्टे संस्कृत हिन्दी कोश में देखते हैं तो वहाँ लिखा है 'आविष्ट' - प्रभावित, अर्थात् जिस व्यक्ति के ऊपर मोह सवार है अर्थात् जो मोह के द्वारा प्रभावित है। उसे मोहाविष्ट कहते हैं तथा जिसके ऊपर भूत सवार हो गया है अर्थात् जो भूत से प्रभावित है उसे भूताविष्ट कहते हैं इसी प्रकार चारों शब्दों का हिन्दी अर्थ समझना चाहिए। अब इन शब्दों पर विशेष रूप से विचार किया जाता है।

1. **भेषाविष्ट**- आचार्य भद्रबाहु स्वामी के द्वारा, दुर्भिक्ष पड़ने पर, दक्षिण की ओर प्रस्थान कर देने पर जो मुनि संघ उज्जैनी में रह गया था, उसने दुर्भिक्ष के कारण अपना भेष भी बदल दिया था। परिस्थितियों के अनुसार उन्होंने वस्त्र तथा लाठी आदि को स्वीकार कर लिया था और फिर भी वे अपने आपको भगवान् महावीर की आज्ञानुसार चलने वाला मानते थे। ऐसे साधुओं को आचार्य जी ने भेषाविष्ट कहा है। वर्तमान में भी यह परम्परा खूब विकसित देखने में आ रही है। यह भेषाविष्ट मोहाविष्ट ही है।

2. **भैसाविष्ट**- इस शब्द का वर्णन आचार्य कुन्दकुन्द महाराज द्वारा रचित 'समयसार' ग्रन्थ की 96वीं गाथा की टीका करते हुए आचार्य अमृतचन्द स्वामी तथा आचार्य जयसेन महाराज दोनों ने ही इस शब्द का प्रयोग किया है। उनकी टीका के अनुसार जिस प्रकार भैसा आदि का ध्यान करने वाला जीव, भैसा आदि में और अपने आप में भेद को नहीं जानता हुआ, उसे भुलाकर भैसा का ध्यान करते समय, "मैं भैसा हूँ" इत्यादि आत्म-विकल्पों को करता हुआ अपने को उसी रूप में मानने लगता है। ध्यान करते हुए वह सोचने लगता है कि मैं भैसा हूँ मेरे सींग बादल को स्पर्श करने वाले बड़े-बड़े हैं, जबकि इस कुटी का द्वार छोटा है, अतः मैं यहाँ से कैसे निकल सकूँगा। वह उसकी दृष्टि में भैसा है। यह स्पष्ट आभास होने लगता है और अपने आत्म स्वरूप से च्युत हुआ भैसाविष्ट कहलाता है।

3. **भूताविष्ट**- समयसार ग्रंथराज की गाथा नं० 96 की टीकाओं में जिस व्यक्ति को भूत आदि ग्रह लग गया हो उसे भूताविष्ट कहा है। ऐसा जीव भूत में और अपने आप में भेद को नहीं जानता हुआ मनुष्य से न करने योग्य ऐसी बड़ी भारी शिला उठाना आदि आश्चर्यजनक व्यापार को करता हुआ दिखाई देता है। उसे अपने स्वरूप का परिचय नहीं रहता है।

4. **मोहाविष्ट**- इस शब्द के बारे में पूज्य आचार्य श्री ने श्लोक नं० 12 की टीका में बहुत कुछ लिखा है। पूज्य आचार्य श्री के अनुसार जो मोह से प्रभावित है वे मोहाविष्ट

कहलाते हैं। मोह के दो भेद हैं— मिथ्यात्व और कषाय। जो जीव मिथ्यात्व से प्रभावित होकर निज और पर के स्वरूप में भेद नहीं करते, शरीर को ही अपना स्वरूप मानते हैं। वे मिथ्यात्व रूप से मोह से प्रभावित हैं। इसके अतिरिक्त जो राग द्वेष से प्रभावित हैं अर्थात् कषायों में डूबे हुए हैं वे कषायाविष्ट हैं और उनको भी मोहाविष्ट ही कहा जाता है।

उपरोक्त चारों प्रकार के व्यक्तियों में से हमको मुख्य रूप से भूताविष्ट तथा मोहाविष्ट पर विचार करना है। पूज्य आचार्यश्री ने 'स्वरूप देशना' टीका में कहा है कि भूताविष्ट का भूत तो उतारा जा सकता है, उसको उतारने के बहुत से साधन तथा मंत्र आदि का प्रयोग वर्तमान में होते हुए हम सब देखते हैं। और उनसे भूतों का प्रभाव समाप्त भी हो जाता है, परन्तु जो मोहाविष्ट है उनके मोह को उतारना अत्यन्त कठिन है। यह अज्ञानी जीव जिनसे मोक्ष मिलता है तथा जिनसे मोक्ष—मार्ग मिलता है, उनमें मोह कर लेता है जबकि मोह मोक्ष का कारण न होकर संसार का कारण है। पूज्य आचार्य श्री ने स्पष्ट कथन किया है कि पंच परमेश्वी की भक्ति तो परम्परा से मोक्ष का साधन है, लेकिन पंचपरमेश्वी का मोह परम्परा से भी मोक्ष का कारण नहीं है। सम्यक्दृष्टि जीव परमेश्वी के पाद्मूल में अनुराग रखता है जबकि रागी जीव मोह रखता है राग में और वात्सल्य में अन्तर है। जो निरपेक्ष भाव से भक्ति के परिणाम हैं उनका नाम वात्सल्य है जबकि अपेक्षा सहित जो राग वृत्ति है उसका नाम राग है।

धर्मात्मा में राग नहीं होता उसमें तो वात्सल्य होता है। वह भगवान की पूजा आराधना तो करता है, परन्तु उसके चित्त में कोई मनोकामना या कुछ माँगने का भाव नहीं होता। हम सभी मोहाविष्ट हैं। कितनी ही धार्मिक चर्चा सुनें, हमारे गुरुदेव हमें समझाने के लिए कितना ही परिश्रम क्यों न करें, परन्तु फिर भी हम इतने मोहाविष्ट हैं, हम पर इतना मोह का प्रभाव है कि अपने शुद्ध आत्मस्वरूप एवं काम—क्रोध आदि विभाव परिणामों में जो भेद हैं उस पर पूरी श्रद्धा रखते हुए जीवन में नहीं उतारते। यदि इसी प्रकार हमारी वृत्ति रही तो हमारा इस पर्याय को प्राप्त करना व्यर्थ हो जायेगा।

पूज्य आचार्य श्री ने मोहाविष्ट आत्मा के गुणस्थानों की चर्चा भी, श्लोक नं० 12 के प्रवचन में की है जिसके अनुसार मोहाविष्ट के गुणस्थान 1 से 10 तक हैं, क्योंकि 11वें गुणस्थान में मोहनीय का सम्पूर्ण उपशम हो जाता है, 12वें गुणस्थान में वे ही मुनिराज प्रवेश करते हैं जिनका मोहनीय नष्ट हो चुका होता है। अतः इन दोनों गुणस्थानों में विराजमान आत्मा मोहाविष्ट नहीं है। 13वें 14वें गुणस्थान वर्ती अरहन्त भगवान तो 4 घातिया कर्म रहित होने से मोह रहित हैं ही।

उपर्युक्त सभी चर्चा का निष्कर्ष यह है कि हम सभी जीव अनादिकाल से मोहाविष्ट होने के कारण धन-मकान-स्त्री-पुत्र आदि को अपना मानते हैं। शरीर और आत्मा का सच्चा स्वरूप न जानने के कारण इनमें भेद न जानते हुए शरीर को ही अपना स्वरूप मानते हैं। आत्मा के काम-क्रोध आदि विकारी भावों को अपना स्वरूप मानते हुए हम इन्हीं परिणामों में सदा-लिप्त रहते हैं जिसके कारण निरन्तर कर्म बन्ध होता रहता है तथा अनादि काल से जो हमारे ऊपर मोह का प्रभाव है वह कम नहीं हो पाता जिसके कारण हम न तो सम्यक् दृष्टि बन पाते हैं और न व्रत आदि को धारण कर मोक्ष-मार्ग में अग्रसर होते हैं।

हमारा कर्तव्य तो यह है कि हम पूज्य आचार्य श्री द्वारा 'स्वरूप देशना' में दिये गये प्रवचनों को अच्छी प्रकार पढ़ें, उनका बार-बार चिंतन करें और उनको परम उपकारी जानकर अपने हृदय में धारण करते हुए मोक्ष-मार्गी बनें। तब ही हमारा अनन्त काल से निरन्तर चलता आ रहा मोहाविष्टपना नष्ट हो सकता है। यदि वर्तमान में सारी अनुकूल परिस्थितियाँ मिलने के बावजूद भी हमने मोक्ष-मार्ग के लिए पुरुषार्थ नहीं किया, मोहाविष्टपने का त्याग नहीं किया तो हमारा मनुष्य पर्याय पाना व्यर्थ हो जायेगा। सब तो यह है कि इस स्वरूप देशना टीका का भली प्रकार मन लगाकर अध्ययन किया जाए तो हम अपने ऊपर अनादि कालीन मोह के प्रभाव को नष्ट करने में समर्थ हो सकते हैं।

स्वरूप संबोधन में जिनशासन/नमोस्तु शासन

—ब्र० निहाल चंद्र"चंद्रेश"

स्वरूप संबोधन आचार्य भद्र अकलंक देव की लघुकृति है जो न्याय दर्शन पर आधारित है। इस कृति पर परम पूज्य आचार्य श्री विशुद्ध सागर जी ने देशना की। इन्हीं प्रवचन रूप देशना का संग्रह स्वरूप संबोधन देशना है। देशनाकार परमपूज्य आचार्य श्री ने मंगलाचरण करते हुए कहा। (पृ० संख्या 2)

श्रमण परम्परा में निर्ग्रन्थों के दस कल्पों की चर्चा की है। जैन योगी वात रसायण हैं, अलौकिक। जैसे वायु प्रवाहमान रहती है, ऐसे ही निर्ग्रन्थ श्रमण प्रवाहमान रहते हैं। पानी का रूकना, पानी के अन्दर दुर्गन्ध को उत्पन्न करता है। पानी जितना बहता है, उतना निर्मल रहता है। यही कारण है कि तीर्थंकर महावीर स्वामी के उपरान्त भी अनेकानेक तूफानों को झेलते हुए वीतराग श्रमण संस्कृति आज भी जयवन्त है। विश्वास रखना, जब तक पंचमकाल की श्वासें हैं, तब तक भारत की भूमि पर नमोऽस्तु ऐसे ही गूँजता रहेगा जैसे ज्ञान गूँज रहा है। जब तक अग्नि और अम्बर हैं, जब से अग्नि और अम्बर है तब से दिगम्बर है और तब तक दिगम्बर है।

तीर्थंकर महावीर स्वामी के निर्वाणोपरान्त यह जिन नमोऽस्तु शासन 683 वर्षों तक अविरल गति से चला, क्योंकि केवली, श्रुतकेवली, अंगधारी मुनि होते रहे। इसके बाद भी अन्यान्य एक अंगधारी मुनि 275 वर्ष तक होते रहे, तब भी नमोऽस्तु शासन गूँजता रहा। कल्कि राजा के काल में इस जिन नमोऽस्तु शासन का बहुत हास हुआ। इसके उपरान्त बड़े-बड़े आचार्य हुए। जिनमें भद्र अकलंक देव एक प्रमुख आचार्य हुए। इनके काल में बौद्ध धर्म को राजाश्रय प्राप्त था जिसके कारण कोई भी अन्य धर्म पनप नहीं सका। ऐसे वक्त में अकलंक, निकलंक नामक दो सहोदर राजपुत्र हुए। जिन्होंने छद्मभेष में विद्याध्ययन किया। राजगुरु के लिए यह रहस्य ज्ञात होने पर दोनों भाई पाठशाला से भाग निकले पर होनहार को कौन ढाल सकता है? विधि का विधान एक भाई निकलंक का बलिदान हो गया। अकलंक देव ने जैनश्वरी दीक्षा धारण कर ली। दीक्षा लेते ही स्मरण आ गया कि जिसके कारण भाई गंवाया है उस कार्य को पूरा करना है।

अकलंक स्वामी के काल में भूमण्डल पर ऐसा कोई मुन्य ही नहीं था, जो उनसे विजयश्री प्राप्त करके चला जाये। बौद्धों ने मटके के अन्दर तारा देवी को विस्थापित किया था और पर्दे के अन्दर शास्त्रार्थ चल रहा था। छः मास के पश्चात्

भी कोई निर्णय नहीं हो पा रहा था। अकलंक स्वामी ध्यानस्थ होकर चिन्तन करने लगे, बात क्या है? जिन शासन देवी ने कहा हे निर्ग्रन्थ योगी! जिससे तुम शास्त्रार्थ कर रहे हो, वह कोई मनुष्य नहीं है, देवी है। ऐसा? हाँ! क्या करूँ? देव एक बार बोलता है, दुबारा वही नहीं बोलता। अगले दिन शास्त्रार्थ फिर प्रारम्भ हुआ। दुबारा प्रश्न करने पर देवी भाग गयी और निर्णय हो गया।

आचार्य श्री कह रहे हैं कि हर मन्दिरों में और 10-12 लोगों के बीच एक देवता आ गये, क्योंकि पंचमकाल में भगवान् बनने और देवता लाने में कोई देर नहीं लगती। लेकिन ये झूठे देवता होते हैं। प्रश्न करना, उत्तर दे तो पुनः प्रश्न करना। पुनः वही उत्तर दे तो समझ लेना झूठा आदमी यही है। लोग तत्त्व से इतने भ्रमित हो चुके हैं, देवी देवता के नाम पर जादू-टोने के नाम पर तीर्थकर के शासन की शक्ति भी महसूस नहीं हो रही।

विघ्नौघा प्रलयं यान्ति, शाकिनी भूत पन्नगा।

विषं निर्विषतां याति, स्तूयमाने जिनेश्वरे॥

मंदिर में पूजा करेंगे और वहाँ जाकर चबूतरे पर न जाने क्या करेंगे। ज्ञानियो यह जिनशासन, नमोऽस्तु शासन भूतों का शासन नहीं भूतनाथ का शासन है। उन्हीं को नमोऽस्तु करो। ऐसे ही सच्ची जिनवाणी जिनको मिल जाए उसको शक्ति का संचार होता है, जो कभी नहीं होता। नमोऽस्तु शासन के प्रति श्रद्धा लाओ।

यह स्वरूप संबोधन ग्रन्थ वास्तव में चारों अनुयोगों की कुंजी है। इस ग्रन्थ को बार-बार पढ़ने पर भी मन नहीं भरता। हमारे अनादिकाल के अविद्या संस्कार पर तीव्र चोट लगती है। सोचते हैं कि क्या हमारी आत्मा भी सच्चिंतन मनन एवं आधरण करके परमात्मा बन सकती है।

नमोऽस्तु शासन, जिन शासन का ही पर्यायवाची शब्द दृष्टव्य है (पृ० 399) निर्दोष श्री जिनवीर चन्द्र शासन, सर्वज्ञ शासन, जिनेन्द्र शासन, निकलंक शासन, अकलंक शासन, स्याद्वाद शासन, अनेकान्त शासन, अरहन्त शासन, जिनशासन, नमोऽस्तु शासन, पूत शासन, सिद्धशासन, सत्य शासन, अमित शासन, वीतराग शासन, क्षेमकृत शासन, पुण्य शासन, व्यक्त शासन।

मूलाचार की संस्कृत टीका में आचार्य वसुनन्दी महाराज ने जिनेन्द्र के शासन को नमोऽस्तु शासन कहा (टीका- 151वीं गाथा)। जब हम अंधकार से प्रकाश में आते हैं तब कुछ समय तक आँखें चौंधिया जाती हैं। शायद वे आँखें प्रकाश को अस्वीकार करती हैं, किन्तु कुछ ही समय बाद प्रकाश में इष्ट के दर्शन कर एक टक

भी होती हैं। आचार्य परम्परा से आये नमोऽस्तु शासन शब्द को अबोध प्राणियों ने प्रथमबार सुना तो ऐसा ही हुआ। जब काव्यनायक के ज्ञान प्रकाश में आये, स्थित हुए तब समझा नमोऽस्तु शासन तो जिनशासन का ही पर्यायवाची शब्द है। नमोऽस्तु शासन है क्या?

**अनेकान्तौषध शास्त्रं तव नमोऽस्तु शासने।
संसार ताप शान्तये, मिथ्यात्ववादी विनाशनाये ॥ 1 ॥**

अनेकान्त है परम औषधि, नमोऽस्तु शासन में।
मिथ्यात्व का होता है विघटन, इस नमोऽस्तु शासन में।?
शांति दिलाती अनेकान्त दृष्टि इस शासन में।
हे भगवन्! हो शांति मुझे, तब नमोऽस्तु शासन में ॥ 1 ॥

जैनेन्द्र व्याकरण पूज्यपाद, स्वामी हैं सूत्र रखते।
"सिद्धिरनेकांतात" सूत्र से, निज दृष्टि रखते।
जिन शासन में जो भी सिद्धि, हो उसको कहते।
अनेकान्तात्मक होती, जिन ऐसा कहते ॥ 2 ॥

लोकोपचाराद ग्रहण सिद्धि, कातन्त्र सूत्र है यह।
लोक प्रसिद्धि अनुसारिणी, दृष्टि रखता यह।
जैसी प्रसिद्धि जिसकी हो जाती, वैसी ग्रहण करो।
निक्षेप है उपचार अहो, इसको स्वीकार करो ॥ 3 ॥

मूलाचार की गाथा है जो, एक सौ इक्यावन।
उस गाथा की टीका का कर लो, तुम अवलोकन।
स्पष्ट लिखा नमोऽस्तु शासन, जयवंत रहे प्यारा।
नमोऽस्तु प्रणाली जिन शासन, की मौलिक अवधारा ॥ 4 ॥

अन्य धर्म अन्यान्य तरह से, अभिवादन करते।
नमोऽस्तु दिगम्बर मुनि को केवल जिनधर्मी कहते।
अतः नमोऽस्तु शासन, जिनशासन अर्थान्तर है।
इसमें नवीन पंथ जैसा, न कोई लांछन है ॥ 5 ॥

कहते तुम नमोऽस्तु शासन, जो मरण हो गया क्या?
जिन शासन जयवन्त से, जिनशासन का मरण है क्या?
पूज्य पुरुष जो वर्तमान, व भूत भविष्यत के।
नामों को ले ले कर हम, जयवंत रहें कहते ॥ 6 ॥

तो क्या? उनका मरण हो गया, हम तुमसे कहते।
 इसका उत्तर आप हमें दो, हम तुमसे कहते।
 "आचारसार" में "वीरनंदि", सिद्धान्त चक्रवर्ति।
 "जिनशासन" जयवंत रहे, जिनशासन अनुवर्ति ॥7॥

"सर्वज्ञ का शासन" "अर्हत् का", है समयसार टीका।
 "अमृतचंद्राचार्य" ने जिसकी, कि अनुपम टीका।
 "आचारसार" की अनुक्रमणिका, सुपाश्वर्यमती माता।
 "परीषह शतक" "आचार्य विमद" की है मंगल गीता ॥ 8 ॥

जयवंत रहे "नमोऽस्तु शासन" उल्लेख किया उनने।
 "तात्पर्य वृत्ति" "भगवत शासन" को कहा है "जयसेन" ने।
 "आचार्य समन्तभद्र स्वामी", "युक्तानुशासन" कहते।
 आचार्य श्री "जिनसेन" "सिद्धशासन" है जिसे कहते ॥9॥

आचार्य श्री "जिनसेन", "पूत शासन" "दिव्यादिशतक"।
 और "पुण्य शासन" कहते हैं देख "महादि शतक"।
 "शासन, व्यक्त" वृक्षादिशतक में वह हमको कहते।
 "महामुन्यादिशतक" में "क्षेमशासन" है शब्द देते ॥10॥

"शासन अमित" व "सत्य" असंस्कृतादि शतक में है।
 "शासन अमोघ" वृहदादि शतक में हमको देते हैं।
 "गम्भीर शासन" आदीपुराण में लिखा है गुरुवर ने।
 विशुद्ध शासन लिखा है, आदिपुराण जी में ॥ 11 ॥

"आचार्य भक्ति" में "पूज्यपाद" ने "जिनशासन" लिखा।
 गौतम स्वामी "प्रतिक्रमण" में "जिनशासन" लिखा।
 शिलालेख "बेलगोला" में, वर्द्धमान शासन।
 एलाचार्य "वसुनंदी" जी ने, लिखा नमोऽस्तु शासन ॥ 12 ॥

उपाचार भेद है नौ बतलाये, आलाप पद्धति में।
 द्रव्य में गुण उपचार कहा आलाप पद्धति में।
 इस उपचार के तहत, नमोऽस्तु शासन जिन शासन।
 अर्थांतर हैं मीन मेख मत, करो अमनभावन ॥ 13 ॥

यह सब अर्थांतर जानो, मन भ्रांति मत लाओ।
 देकर के उपदेश अनर्गल, भ्रम न फैलाओ।

परनिंदा गहो आलोचन का, फल क्या होता ।

समझदार को एक इशारा ही, काफी होता ॥ 14 ॥

अन्यान्य धर्मवालों का अपना-अपना अभिवादन है यथा— हिन्दुधर्मी दंडवत, पाँयलागूँ, प्रणाम, मुस्लिम धर्मी सलाम, ईसाई गुड मॉर्निंग कहते हैं। इसी प्रकार जिन शासन में चतुर्विध संघ को अभिवादन करते समय आचार्य, उपाध्याय, मुनियों को नमोऽस्तु, आर्यिकाओं को वंदामि, ऐलक, क्षुल्लक, क्षुल्लिका को इच्छामि, श्राविकों को जय जिनेन्द्र कहते हैं। अतः नमोऽस्तु केवल निर्ग्रन्थ दिगम्बर मुनिराज को ही कहा जाता है। अतः नमोऽस्तु शासन जिनशासन ही है।

जयवन्त रहे, जयवन्त रहे, जयवन्त रहे नमोऽस्तु शासन।

जयवन्त रहे अरिहन्त सिद्ध आचार्य जयवन्त रहे।

जयवन्त रहे उपाध्याय साधु श्रमण संस्कृति जयवन्त रहे।

स्वरूप देशना ग्रन्थ की जीवन में उपयोगिता एवं महत्व

—पी. के. जैन, कल्याण (मुम्बई)

ओम नमः सिद्धेभ्यः। ओम नमः सिद्धेभ्यः॥ ओम नमः सिद्धेभ्यः॥

वीतरागता की पोषक ही, जिनवाणी कहलाती है।

यह है मुक्ति का मार्ग निरन्तर, हमको जो दिखलाती है॥

उस वाणी के अंतर्तम को, जिन गुरुओं ने पहचाना है।

उन गुरुवर्यों के चरणों में मस्तक बस हमें झुकाना है॥

जगत् में वस्तु स्वरूप की बहुत सी व्यवहारिक व्याख्यायें मिल जायेंगी, परन्तु अध्यात्मिक व्याख्या स्व एवं पर के कल्याण की भावना से ओतप्रोत यदि है, तो वह है 'स्वरूप संबोधन'। इस महान् ग्रंथ के रचयिता या यों कहें कि श्री जिनदेव की वाणी को हमारे समक्ष रखने वाले 7वीं सदी के प्रसिद्ध आचार्य भट्ट अकलंक देव स्वामी जो न्यायविज्ञ भी हैं और दर्शनविज्ञ भी हैं ऐसे आचार्य का यह महान् ग्रंथ है। इस महान् ग्रंथ पर परम पूज्य अध्यात्मयोगी चर्याशिरोमणी श्रमणाचार्य श्री 108 विशुद्ध सागर जी महाराज की पावन देशना को ही स्वरूप देशना कहते हैं। कहा भी है—

निर्ग्रन्थ गुरु के ग्रन्थ ये, नित्य प्रेरणाएँ दे रहे।

निजभाव अरु पर भाव का, शुभ भेद ज्ञान जगा रहे॥

आचार्य श्री के शब्दों के अर्थों पर ध्यान देना— "अमद्र भी जहाँ समन्तभद्र हो जाते हैं ऐसा है जिनदेव प्रणीत नमोऽस्तु शासन" मेरा यह सौभाग्य है कि मैं जिनदेव प्रणीत नमोऽस्तु शासन में जन्मा हूँ। मैं ऐसे दादाजी पंडित श्री उल्फतरायजी संघई भिंडवाले का पौत्र हूँ जिन्होंने कभी जिन शासन को नहीं छोड़ा। यह मेरा पुण्य था कि ऐसे घर में जन्मा और यह भी पुण्य है कि आचार्य श्री विशुद्ध सागर जी महाराज का शिष्य बनने का सौभाग्य प्राप्त हुआ। मेरा यह लेखन सूर्य के सामने प्रदीप / दीये के समान है। परन्तु यह हमारा सौभाग्य है कि धरती के देवता निर्ग्रन्थ तपोधन गुरु के मुखारविंद से श्री जिनवाणी सुनने एवं समझने के लिए तथा आत्मसात करने हेतु हमें मिल रही है, गुरु के पाद मूल में रह कर जो मिलता है वह अन्यत्र नहीं मिलता है। गुरु के प्रकाश के बिना ग्रन्थ नहीं पढ़े जाते हैं।

मूल ग्रन्थ के श्लोक संस्कृत भाषा में हैं, परन्तु बहुत से लोग इसे समझ नहीं पाते, परन्तु आचार्य श्री का यह कथन है कि यदि समझ में नहीं आये तो भी पढ़ना। क्योंकि एक-एक वर्ण मंत्र होता है। आचार्य श्री ने अपनी देशना में समझाया है कि कठिन कोई विषय नहीं होता और कठिन कह कर मार्ग नहीं रोका जा सकता है।

आगे आचार्य श्री समझाते हैं कि जिन वचन का श्रद्धान ही प्रवचन का श्रद्धान है। जैसे तीर्थंकर भगवान् के समवसरण में जिन देशना सभी जीवों की समझ में आ जाती थी वैसे ही सरल और रोचक भाषा में स्वरूप देशना सभी के अन्तःस्थल पर एक अमिट छाप अंकित कर देती है। आचार्य श्री कहते हैं जिनालय में भगवान् की भक्ति करने आना और शमशान में वस्तु स्वरूप को समझने जाना। उद्योगपति तो जगत् के बहुत से लोग बन गए, अब उस उद्योग का पति बनना है जिससे उद्योग ही नहीं करना पड़े अर्थात् जन्म-मरण को छेद कर सिद्ध-शिला पर विराजमान हो सके।

“आपको स्वरूप संबोधन ग्रन्थ पर श्रद्धान न हो तो विश्वास रखना, सुनने पढ़ने में कोई आनन्द नहीं आएगा। सम्यक्-दर्शन का पहला अंग भी तो श्रद्धान ही है। आचार्य भगवंत लिखने बैठे तो लिख गया, क्या गजब का चिन्तवन है। आगे आचार्य श्री कहते हैं— “जो निज रूप हैं वही जिन रूप हैं। जो निज रूप लख लेगा वो जिन रूप को प्राप्त कर लेगा।” यह ग्रन्थ कितना गहन है, परन्तु आचार्य श्री की देशना सर्व सामान्य के समझ में आ जाती है।

ग्रंथ के प्रारम्भ में ही आचार्य श्री भट्ट अकलंक देव स्वामी ने अनेकान्त और स्याद्वाद का श्लोक लिखा है जिसमें भगवान् को, सिद्ध भगवान् को, मुक्त और अमुक्त भी कहा है। इस न्यायिक, अनेकान्त और सिद्धांत का उदाहरण और सबसे हटकर मौलिक बातों पर जोर देने वाला यह अन्य सभी ग्रंथों से भिन्न है।

देशना में एक सूत्र दिया है— “यो ग्राह्यो ग्राह्य नाद्यंत” इसे और अधिक सरल बनाते हुए आचार्य श्री समझाते हैं कि स्फटिक मणि के सामने जैसा पुष्प आये तो वैसी ही मणि दिखाई देती है, परन्तु पुष्प रूप नहीं होती। ऐसी ही आत्मा है। आत्मा को देखा नहीं जा सकता यह तो अनुभव का विषय है। स्वानुभूति का विषय है।

1400-1500 वर्ष पूर्व यह ग्रन्थ न्यायिक, दार्शनिक और सिद्धांत से परिपूर्ण अध्यात्म के सृजेता भट्ट अकलंक देव स्वामी द्वारा रचा गया। आचार्य श्री अमृत चंद्र स्वामी द्वारा रचित “लघु तत्त्व स्फोट” को पहले रशिया के लोगों ने याने रशियन लोगों ने ट्रांसलेट किया और फिर हमें पता चला। ऐसी बहुत सी बातों का जिक्र भी है इस महान् देशना में, इस बात पर गर्व होता है कि आज के वैज्ञानिक जो भी वस्तु को प्रमाणित कर रहे हैं वह उनका विषय नहीं है। यह तो जैन दर्शन का ही विषय है। इस बात का प्रमाण तो आपको वैज्ञानिकों के कमरे के बाहर ही मिल जायेगा। वे क्या लिखते हैं? रिसर्च रूम। जो वस्तु पहले सही सर्च कर ली गयी है उसे ही पुनः सर्च करना याने रिसर्च करना।

स्वरूप संबोधन ग्रंथ में जैसी वस्तु व्यवस्था है उस व्यवस्था का आचार्य श्री ने कथन किया है। श्लोक में दूसरे आत्मा के बारे में कहते हैं, अपने भावों के परिणमन स्वरूप देशना विमर्श

के बारे में कहते हैं— “हे ज्ञानी! तू अपने भावों को अशुभ नहीं कर रहा है, बल्कि तू अपने भव को अशुभ कर रहा है। कषाय के समय तेरे परिणामों की जो दशा होगी अगली पर्याय की वही दशा होगी”। इस महान् ग्रंथ में आत्मा की परम सत्ता का कथन है, अपने स्वरूप को मानव ही नहीं तिर्यच भी समझते हैं। इसका सटीक उदाहरण आचार्य श्री विशुद्ध सागर जी महाराज ने आचार्य श्री महावीर कीर्तिजी महाराज जी के साथ हुयी घटना से प्रतिपादित किया है। एक काला नाग आचार्य भगवान् श्री महावीर कीर्तिजी की उंगली को जब अपने मुख में लिए हुए था तो उन्होंने कहा— भैया यदि बैर है तो देर क्यों? और बैर नहीं है तो अंधेर क्यों? यह सुनते ही नाग उंगली को छोड़ कर चला गया। इस बात के कई प्रत्यक्षदर्शी आपको मिल जायेंगे। एक और घटना याद आ रही है जब एक सिंह भी सम्बोधन होने पर अपने को संयमित करके तिर्यच से भगवान् महावीर बन सकता है तो हम क्यों नहीं? अर्थात् यह स्वरूप सम्बोधन स्वयं भी प्रतिपादित हो रहा है। आचार्य श्री विशुद्ध सागर जी ने यही कहा है कि असिद्ध को सिद्ध करना पड़ता है, सिद्ध को सिद्ध नहीं करना पड़ता है।

राग-द्वेष को आचार्य श्री ने कितनी सरल भाषा में समझा दिया है— “किम् सुन्दरम् किम् असुन्दरम्” जहाँ राग है वह सुन्दर है और जहाँ द्वेष है वह असुन्दर है। इस सूत्र के द्वारा आचार्य श्री ने राग-द्वेष को पहचानने का, मापने का थर्मामीटर ही दे दिया। जब भी इस तरह की भाषा का प्रयोग होता है तो प्रत्येक जीव को लगता है कि यहीं बैठा रहूँ और आनन्द, घनानन्द का रसपान करूँ और लगे भी क्यों नहीं? जब जीव अपने में आ जाता है, अपने में उतरने लगता है, तो स्वभाविक ही है कि वह वस्तु स्वरूप को समझने लगता है। यही तो भद्र अकलंक देव समझाना चाहते हैं और आचार्य श्री की वाणी से और अधिक सरल होता जा रहा है। आचार्य श्री इसे अपने शब्दों में कहते हैं— “हम परोक्ष वाणी तो सुन रहे हैं यह भाग्य है, परन्तु प्रत्यक्ष वाणी नहीं सुन रहे हैं, इसलिए अभागे हैं” क्या अवभुत चिन्तवन है। आगे कहते हैं कि “वस्तु को मत बिगाड़िये, वस्तु को मत बदलिए, अपनी दृष्टि को फेर लीजिए। ध्यान दें कि आचार्य श्री क्या समझाना चाहते हैं? हर विषय में तर्क, तर्क का अर्थ आगम को तोड़ना नहीं है, तर्क से तो वस्तु स्वरूप का निर्णय होता है। स्वभाव पर तर्क नहीं चलता।

आचार्य श्री के प्रवचनों में यह सुनने के लिए तो मिलता ही है— “सबके साथ रहो, सबसे मिलकर रहो पर सबसे मिले न रहो।” यहाँ पर आचार्य श्री अखण्ड जैन शासन की बात कर रहे हैं। सभी से दया भाव, वात्सल्य भाव और सबके कल्याण की भावना रखने के लिए कहते हैं। सम्पूर्ण अखण्ड जैन समाज की बात पर आचार्य श्री कहते हैं— “न दिगम्बर, न श्वेताम्बर, न तारणतरन, न बीस पंथी और न तेरा

पंथी, न सोनगढ़ी, न मौनगढ़ी एक मात्र अखण्ड श्रमण संस्कृति एक ही है।

आठवीं गाथा में आचार्य भट्ट अकलंक देव स्वामी ने मूल सिद्धान्त स्यादवाद पर जो कहा है उस पर आचार्य श्री का चिन्तवन, कथन हमें ग्रहण करने योग्य है। आगे समझाते हुए कहते हैं— एक गुरु के दो शिष्य, एक की पूजा और दूसरे की आलोचना हो रही है। गुरु का क्या दोष? सब कर्मों का ही विपाक है। किसी को भी दोष नहीं दिया जा सकता है। दोष देंगे तो विकल्प आयेगा और विकल्प से नवीन कर्मों का बंध होगा। अतः साम्यभाव को अपने अंतर में विराजमान कर लो, ज्ञानी स्वतः ही निर्दोष परमात्मा को प्राप्त कर लेगा।

इस महान ग्रन्थ की नौवीं और दसवीं गाथा में सिद्धान्त सूत्रों का वर्णन है। दसवीं गाथा में जीवन की सफल साधना का फल अर्थात् समाधिमरण पर बहुत सरल भाषा में आचार्य श्री समझाते हैं। 'हे स्वामी! आपने भी साधु समाधि की थी, तभी तो आप तीर्थेश पद को प्राप्त हुए। तीर्थकर—प्रकृति की बंधक सोलहकारण भावना में साधु समाधि भी एक भावना है और पूजा में कहा भी है—

**गुरु आचारज उपझाय साधु, तन नगन रत्नत्रय निधि अगाध।
संसार देह वैराग्य धार, निर्वाञ्छी तपे शिव पद निहार॥**

ग्यारहवीं गाथा में कर्म सिद्धान्त पर जोर दिया है। शिक्षा ग्रन्थ मात्र से नहीं होती, निर्ग्रन्थों को देखने से अधिक होती है, क्योंकि ग्रन्थों की शिक्षा प्रैक्टिकल नहीं है और निर्ग्रन्थों की शिक्षा प्रैक्टिकल होती है जैसा कि कहा भी है—

**समयसार जिन देव हैं, जिन प्रवचन जिनवाणी।
नियमसार निर्ग्रन्थ गुरु, करें सब कर्म की हानि॥**

समयसार व स्वरूप संबोधन ग्रन्थ में कोई अन्तर ही नहीं दिखाई दे रहा है। अंतर होगा भी क्या? जो आत्मा जैसी है वैसी ही है। आचार्य भगवन अकलंक स्वामी ने जैसा आत्मा के सत्यार्थ स्वरूप को समझाया है वैसा ही आचार्य श्री ने हमको समझाया है। जो तत्त्व है वह वस्तु का स्वभाव है। स्वभाव को भीतर जाकर ही प्राप्त करना पड़ता है, बाहर से नहीं मिलता स्वभाव।

जीवन को सफल बनाने का मंत्र भी देते हैं। जीवन है तो सुख—दुःख, रोग—शोक तो रहते ही हैं। आचार्य श्री कहते हैं— 'जिनेन्द्र के वचन ही परम औषधि है। वो जन्म—मरण का क्षय करने वाले हैं। सम्पूर्ण व्याधियों को हरने वाले हैं। कर्म सिद्धान्त को छोड़कर ज्योतिषी की बातों में आने वाले लोगों के लिए आचार्य श्री कहते हैं— हे ज्ञानी! तेरा शनि उतरे या न उतरे, पर शनि उतारने वाले का अवश्य उतर जाता है। जिन शासन लाग—लपेट वाला नहीं है, यही वस्तु स्वरूप है।

आचार्य श्री कि भाषा में कितनी सूक्ष्मता होती है देखें— “हे ज्ञानी! भगवान तुझे भगवान नहीं बनायेगें, तेरे निज के भाव ही तुम्हें भगवान बनायेगें। जो निज के भावों का भी नाश कर लेता है, वही भगवान बनता है।”

आगामी गाथाओं में आचार्य भगवन ने सम्यक् चरित्र के स्वरूप को बताया है। संयम के सामने सब झुक जाते हैं, वस्तु स्वरूप तो त्रैकालिक है। दृष्टि पवित्र है तो वस्तु सहज पवित्र है और दृष्टि में विकार है तो वस्तु विपरीत दिखाई देती है। वस्तु में न विकार है न अविकार है, वस्तु तो जैसी है, वैसी ही है।

आचार्य श्री भट्ट अकलंक देव स्वामी वस्तु व्यवस्था को बहुत ही सहज सुन्दर शैली में समझाते हैं। आचार्य श्री कहते हैं— ज्ञानी जीवन में धर्म की बहुत बड़ी-बड़ी प्रभावनायें भले ही न कर पायें, परन्तु हमारे द्वारा कभी भी धर्म की अप्रभावना न हो।

आचार्य श्री की बातें नोट करने लायक होती हैं— “जिसका पुण्य क्षीण होता है उसका चिन्तन पवित्र होता ही नहीं। विशुद्धि और उत्साह शक्ति पारमार्थिक और लौकिक दोनों कार्यों में सफल बनाती है।”

“ज्ञानियो! स्वरूप सम्बोधन का तात्पर्य निज आत्मा को निज आत्मा से समझाना है। निज आत्मा से निज आत्मा को सम्हालना ही स्वरूप सम्बोधन है। इसलिए ध्यान दो। गुरु का उपदेश भी तभी कार्यकारी होता है जब स्वरूप सम्बोधन हो, प्रभु का उपदेश भी तभी कार्यकारी होता है जब स्वरूप - संबोधन हो, प्रभु का उपदेश भी तभी कार्यकारी होता है जब स्वरूप सम्बोधन हो। स्वरूप सम्बोधन नहीं है तो न गुरु का उपदेश कार्यकारी होता है, न प्रभु का उपदेश कार्यकारी होता है। आचार्य श्री विशुद्ध सागर जी महाराज कहते हैं अपनों में राग नहीं करो और गैरों में द्वेष मत करो, यही तो स्वरूप सम्बोधन है।

स्वाध्याय कभी पूरा नहीं होता, स्वाध्याय तो सतत् होता रहता है, अतः हमें स्वाध्याय करते रहना चाहिए क्योंकि—

“आत्म स्वभावं पर भाव भिन्नं”

ग्रंथ के पूर्ण होने से पहले ही यह लगने लगता है कि बस अब बहुत हो गया। अपने स्वरूप को पाकर सिद्ध शिला पर ही विराजमान होने हेतु पुरुषार्थ करूँ।

‘चरणों में आया हूँ प्रभुवर! शीतलता मुझको मिल जावे।
 मुझझाई ज्ञान लता मेरी, निज अंतर्बल से खिल जावे॥
 हे विशुद्ध देव! तुम्हें प्रणाम, हे ज्ञानदीप! आगम प्रणाम।
 हे शांति त्याग के मूर्तिमान, शिव पथ पंथी गुरुवर प्रणाम॥

स्वरूप देशना में- मंगलाचरण वैशिष्ट्य

-३० जयकुमार 'निशान्त'

आचार्य श्री भट्ट अकलंक देव विरचित स्वरूप संबोधन ग्रंथराज मात्र 25 (26) श्लोकों का अमृत कलश है। जिसके गूढ़ ज्ञानामृत रहस्य का आचार्य विशुद्ध सागर जी महाराज ने चिंतन व मंथन करके सरस, सुपाच्य, मिष्ठ हृदयंगम योग्य 'स्वरूपदेशना नवनीत' सुधी श्रावकों के लिए इतनी सरलता से दिया है। जिसे मूढ़ से मूढ़ श्रोता भी पान करके सांसारिक क्षणभंगुरता, विषमता, रागद्वेष के दुश्चक्र एवं माया के मायाजाल से परिचित हो, क्षणांश के लिए किंकर्तव्यमूढ़ हो चिंतन करने पर विवश हो जाता है। जीवन की नश्वरता, भोगों की लालसा, कामना की ज्वाला से बचने का मानस बना लेता है, भले ही वह उससे अलग न हो सके। इसे हम उसकी कमजोरी कहें, कर्मोदय कहें, काललब्धि कहें, कुछ भी हो, आचार्य श्री के वचनामृत का अचिंत्य प्रभाव आज दृष्टिगोचर हो रहा है।

यह मंच जो युवा बाल मुनिराजों से शोभायमान है, इतने त्यागीव्रती इतने श्रावक श्राविकाएँ एवं नवयुवक अपने भोगोपभोग, दूरदर्शन का आकर्षण, व्यापार एवं परिवार का व्यामोह छोड़कर, एकटक एकाग्रता पूर्वक एक-एक शब्द पीयूष को चातक की भांति हृदयंगम को लालायित हैं। जीवन को मंगलमय बनाकर मंगल आचरण की ओर प्रवृत्त होने का संकल्प कर सम्यक् पुरुषार्थ करना चाहते हैं, यह सब माँ जिनवाणी के जिनसूत्रों का ही प्रभाव है जो आचार्य विशुद्ध सागर जी के श्रीमुख से देशनारूप प्रसारित हो रहा है।

स्वरूप संबोधन की देशना में आचार्य भगवान् मंगलाचरण में आत्म संबोधन की नहीं न्याय की भाषा का प्रयोग कर रहे हैं, आचार्य विशुद्ध सागर जी भी कहते हैं लिखने बैठे 'स्वरूप संबोधन' लेकिन लिखते-लिखते न्याय शास्त्र लिख गये, क्योंकि अकलंक स्वामी का मूल विषय न्याय ही था।

मुक्तामुक्तैकरूपो यः कर्मभिः संविदादिना।

अक्षयं परमात्मानं, ज्ञानमूर्तिनमामि तम्॥'

अन्वयार्थ- यः = जो, कर्मभिः संविदादिना = कर्मों से तथा सम्यक् ज्ञान आदि से क्रमशः मुक्तामुक्तैकरूपः = मुक्त और अमुक्त होता हुआ एक रूप है।

तम = उस, अक्षयं = अविनाशी, ज्ञानमूर्ति = ज्ञानमूर्ति, परमात्मानं = परमात्मा को, नमामि -- (मैं भट्ट अकलंक) नमस्कार करता हूँ।

मुक्तामुक्तैकरूपो यः— आचार्य भद्र अकलंक स्वामी ने अनेकांत— स्याद्वाद शैली में विरोधाभास अलंकार के साथ मंगलाचरण किया है। परमात्मा को मुक्त एवं अमुक्त कहा है। सामान्य अवधारणा तो मुक्त होने की ही है, परन्तु सैद्धान्तिक रूप से देखें तो मुक्त ही मानने पर गुणों का अभाव मानना पड़ेगा और गुणों का अभाव गुणी का अभाव है, फिर आत्मा अभाव ही मोक्ष कहलायेगा, फिर अनंत सुख का भोक्ता कौन होगा? यदि अमुक्त मानेंगे तो आत्मा सदा कर्म कलंक से मुक्त ही रहेगा तो मोक्ष का अभाव हो जायेगा। यहाँ आचार्य श्री ने 'मुक्तामुक्तैकरूपो यः' एक ही जीव को एक ही समय मुक्त एवं अमुक्त दोनों हैं, कैसे? "कर्मभिः संविदादिना" कर्मों से मुक्त हैं, पर ज्ञानादि गुणों से मुक्त नहीं अमुक्त हैं अर्थात् मोक्ष का अर्थ अभाव नहीं, मोक्ष का अर्थ छूटना है, अर्थात् सिद्ध आत्मा जिन पुद्गलीय कर्मों (स्पर्श, रस, गंध वाले) से बंधा था उनसे पृथक् हो गये, परन्तु अनंत ज्ञान, दर्शन से सहित ही रहेंगे। ऐसे सिद्ध परमेष्ठी को आचार्य श्री ने नमस्कार करके मंगलाचरण किया है।

अक्षय परमात्मानं— जिसका भूतकाल में क्षय नहीं हुआ, वर्तमान में क्षय नहीं हो रहा है और न ही भविष्य में क्षय होगा ऐसे त्रैकालिक ध्रुव अक्षय परमात्मा है। आचार्य श्री कहते हैं न वह किसी से प्रसन्न होते हैं न नाराज होते हैं, न पालनहार हैं और न मारणहार हैं वह तो अक्षय ही हैं। अक्षय अविनाशी परमात्मा पुनः संसार में नहीं आते। एक बार जीवद्रव्य शुद्ध होने के बाद पुनः अशुद्ध नहीं होता है। जो तीर्थंकर एक बार मुक्त हो गये वह पुनः जन्म नहीं लेते, अन्य तीर्थंकर का जन्म होता है, पहले का अवतार नहीं—

आचाराणां विघातेन कुट्टिनांच संपदा।

धर्म—ग्लानि परिप्राप्त मुच्छ्रयंते जिनोत्तमा ॥²

जब आचार के विघात और मिथ्यादृष्टियों के वैभव से सभीचीन धर्म ग्लानि को प्राप्त हो जाता है, प्रभावहीन होने लगता है, तब तीर्थंकर उत्पन्न होकर उसका उद्योत करते हैं, न कि अवतार लेते हैं। अन्य मतियों में यह मान्यता है कि भगवान् ही दुखीजनों की रक्षा के लिए अवतरित होते हैं, परन्तु यह मान्यता जिनशासन में स्वीकार नहीं की गयी, पर हम इसे गीतों में, भक्ति में स्वीकार कर, अपने मिथ्यात्व का ही पोषण करते हैं।

परमात्मानं— अर्थात् परं उत्कृष्ट आत्मानं अर्थात् उत्कृष्ट पद को प्राप्त आत्मा जो केवलज्ञानादि रूप अंतरंग लक्ष्मी और समवसरणादि विभूतियुक्त बाह्य लक्ष्मी

जिनके पास है ऐसे अर्हत भगवान् ही हैं, जिन्होंने चार घटिया कर्मों का क्षय किया है एवं अघातिया कर्मों का क्षय करके सिद्धत्व को प्राप्त करेंगे ऐसे ही परमात्मा हैं।

आचार्य भद्र अकलंक स्वामी ऐसे ही परमात्मा को नमस्कार कर रहे हैं, वह आत्मा को नमस्कार नहीं कर रहे हैं, आत्मा, आत्मा तो है पर परमात्मा नहीं, इसलिए वह आत्मा को नहीं परमात्मा को नमस्कार कर रहे हैं।³

ध्यान रखना पाषाण प्रतिमा जब तक अर्हत गुणों से संस्कारित नहीं होती पाषाणवत् ही होती है, आराध्य नहीं, प्रतिष्ठा ग्रंथ भी अप्रतिष्ठित प्रतिमा को अपूज्य ही मानते हैं, फिर फोटो, चित्राम पूज्य कैसे हुए? दूसरों की देखा देखी भगवान्, आचार्य, मुनियों की तस्वीरों की पूजा होने लगी है, यहाँ तक कि वेदी पर भी विराजमान करने लगे हैं, इसे आगामी पीढ़ी किस रूप में स्वीकार करेगी, विचार करके सम्यक् क्रिया करो, मिथ्यात्व का पोषण नहीं।

कुछ लोग आत्मा को सदा शुद्ध मानते हैं, कुछ लोग सदा अशुद्ध ही मानते हैं, आचार्य श्री कहते हैं बद्ध का ही मोक्ष है, मोक्ष का मोक्ष नहीं⁴, पंचास्तिकाय ग्रंथराज के माध्यम से आचार्य श्री ने बताया, इस संसारी जीव के द्वारा ज्ञानावरणादि आठ प्रकार के कर्म की अवस्थाएँ गाँठ रूप में बाँधी हुयी है, उन सबका नाश करके यह जीव अभूतपूर्व, जो कभी नहीं हुआ ऐसा सिद्ध हो जाता है। ईश्वर भी अनादि से मुक्त नहीं है, संसारावस्था में वह कर्म सहित था तभी संसार और मोक्ष अर्थात् आत्मा और परमात्मा की सिद्धि हो सकेगी।

‘ज्ञानमूर्तिम्’ जो ज्ञान की मूर्ति हैं, अर्थात् जो ज्ञानाकार है, पुरुषाकार हैं, जिस आसन से सिद्धत्व को प्राप्त किया है, किंचित् न्यून होकर उसी (कायोत्सर्ग या पदमासन) रूप में सिद्ध क्षेत्र में विराजमान हैं। जिनशासन में निर्गुण की वंदना नहीं है, आत्मा तो सगुण है, इसलिए कहते हैं, ‘वंदे तद्गुण लब्धये’⁵ इसलिए हमेशा ध्यान रखना हमारे सिद्ध भगवान् अशरीरी होकर भी ज्ञानमूर्ति हैं, अनंत ज्ञानादि गुणों से सहित हैं, उनके जैसा बनने के लिए ही हम उनकी आराधना करते हैं।

यह मंगलाचरण मंगल है, मंगलमय है, मंगल करने वाला है, मंगल आचरण कराने वाला, संसार से पार उतारने का निर्देशक एवं अरहंत-सिद्ध परमात्मा के प्रति श्रद्धा भक्ति भाव पूर्वक समर्पण कराने वाला है।

जिनशासन में मंगलाचरण की अनिवार्यता, मंगल आचरण का सूत्रपात, मंगल क्या, क्यों, कैसे एवं कौन तथा मंगल आचरण किसका, क्यों, कैसे पर विचार करेंगे?

मंगलाचरण की अनिवार्यता—

जिनशासन के अनुसार किसी भी पुनीत, शुभ कार्य का शुभारम्भ मंगलाचरण के साथ ही किया जाता है। इसके चार प्रयोजन कहे हैं—

नास्तिकत्वपरिहारः शिष्टाचारप्रपालनम्।

पुण्यातास्तिश्च निर्विघ्नं शास्त्रादावाप्त संस्तवात्।⁶

चार हेतु मंगलकरण, नास्तिकता परिहार।

विघ्न हरन गुण चिंतवन, पालन शिष्टाचार॥

आचार्य विशुद्ध सागर जी महाराज भी स्वरूप संबोधन परिशीलन में कहते हैं अहो! सिद्धान्तशास्त्रों की उद्घोषिका वीतराग वाणी! मैंने आपसे ही सीखा है कि आराधना करने वाले की नास्तिकता का परिहार होता है और उसके द्वारा शिष्टाचार का परिपालन, पुण्य का लाभ निर्विघ्न कार्य की समाप्ति एवं श्रेयोमार्ग की प्राप्ति भी होती है।⁷

प्रत्येक मंगल कार्य करने से पूर्व मंगलाचरण अनिवार्य रूप से करना चाहिए, बिना मंगलाचरण किए किसी भी कार्य को प्रारम्भ नहीं करना चाहिए। मंगलाचरण करने से विद्या एवं विद्याफल की प्राप्ति होती है। शिष्य शीघ्र श्रुतपारगामी होते हैं, यह आगम वचन है—

पढमे मंगलकरणे सिस्सा सत्थस्स पारगा होंति।

मज्झिम्मे णीविघ्नं विज्जा विज्जाफलं चरिमे॥⁸

शास्त्र के आदि में मंगल पढ़ने से शिष्यजन शास्त्र के पारगामी होते हैं, मध्य में मंगल करने पर निर्विघ्न विद्या की प्राप्ति होती है और अंत में मंगल करने पर विद्या का फल प्राप्त होता है।

पुण्णं पूदपवित्ता पसत्थ—सिव—भद्द खेमकल्लाणा।

सुह—सोक्खादी सब्बे णिदिट्ठा मंगलस्स पज्जाया॥⁹

पुण्य पूत, पवित्र, प्रशस्त, शिव, भद्र, क्षेम, कल्याण, शुभ और सौख्य इत्यादि सब मंगल के ही पर्यायवाची शब्द हैं।

मंगल ¹⁰ - (मङ्ग + अलच्)

1. शुभ, भाग्यशाली, कल्याणीकारी, हितकाम
2. कल्याण, शुभप्रद, शुभत्व
3. शुभशकुन, कोई भी शुभ घटना
4. आशीर्वाद, नांदा, शुभकामना
5. शुभ या मंगलकारी पदार्थ
6. शुभ अवसर, उत्सव, शुभ संस्कार

मंगलाचरण- किसी भी ग्रंथ के आरम्भ में पढ़ी जाने वाली प्रार्थना के रूप में प्रस्तावना।

- मंगल ¹¹** 1. गालयदि विणास यदे धारेदि दहेदि हंति सोद्ययदे।
विद्धसेदि मलाइं जम्हा तम्हा य मंगलं भणिदं॥
2. जं गालयते पावं मं लाइव कहममंगलं तं ते।
जा य अणुण्णा सत्त्वा कहमिच्छति मंगलं तं तु॥

मंगल ¹² भावमलं णादव्वं अण्णाणादंसणादि परिणामो।

इस प्रकार मंगल का विवेचन विभिन्न ग्रंथों में मिलता है।

मंगल क्या?— 'मं' नाम मल का है। जो पाप रूप मल को नष्ट करता है, जो द्रव्यमल (ज्ञानावरणादि आठ प्रकार के कर्म) तथा भावमल (अज्ञान और अदर्शन आदि परिणाम) को गलाता है, नष्ट करता है, मंगल कहते हैं।

'मंग' नाम सुख का है। उसको जो लाता है, प्राप्त कराता है, मंगल कहते हैं।

जिसके द्वारा हित जाना जाता है या सिद्ध किया जाता है, मंगल कहलाता है।

मंगल कौन?— चत्तारि मंगलं, अरहंता मंगलं, सिद्धा मंगलं, साहू मंगलं, केवलिपण्णत्तो धम्मो मंगलं।

जिनका जीवन तारण-तरण अर्थात् स्वयं संसार से तरते हैं, पार होते हैं, साथ ही अनुकरण (आचरण) करने वालों को भी तारते हैं। वह सभी मंगल हैं—

अर्हत्— जिन ने अर्हत् सत्ता को पाकर भव्य जीवों के लिए उसे पाने का मार्ग प्रशस्त किया है।

सिद्ध— जिन्होंने संसार में भटकाने वाले समस्त कर्मों का क्षय करके संसार में पुनः न आने वाले सिद्धत्व पद को प्राप्त कर लिया है।

साधु— आचार्य, उपाध्याय एवं साधु जो अर्हत के बताये मार्ग का आचरण करते हुए सिद्धत्व प्राप्ति में निरन्तर साधनारत हैं।

यह स्वयं मंगलमय हैं तथा जगत् का मंगल करने वाले हैं।

सिद्धचक्र महामंडल विधान एवं पंचपरमेष्ठी विधान में पंच परमेष्ठी मंगल कैसे हैं, क्यों हैं? का विस्तृत विवेचन मिलता है। मंगल आचरण करने की प्रेरणा से जीवन मंगलमय बनाने का निर्देशन मिलता है।

त्रिजगदवल्लभोऽभ्यर्च्यस् त्रिजगन्मंगलोदयः।¹⁹

साधक इन मंगलमय आराध्यों का मंगल आराधन एवं मंगल आचरण व्रतानुष्ठान संयमाचरण, तपश्चरण, यम एवं नियम द्वारा अपने जीवन को पवित्र करने सम्यक् पुरुषार्थ करते हैं। इसमें अलग-अलग अपेक्षाएँ हैं, जहाँ संसारी जीव संसार के उद्यम को मंगलरूप आचरित कर अपना कर्तव्य करते हुए मंगल की ओर अग्रेसित होना चाहता है। वहीं हमारे श्रमण स्वयं को संसार के कीचड़ में लिप्त होने से पहले ऊपर उठकर मंगल बनकर मंगल आचरण से जन-जन के लिए प्रकाश स्तम्भ बन गये हैं।

आचार्य विशुद्ध सागर जी महाराज इसका साक्षात् उदाहरण हैं, आज ब्र. राजेन्द्र लला आचरण की सीढ़ियाँ चढ़ते हुए क्षुल्लक यशोधर सागर, मुनि विशुद्ध सागर, आचार्य विशुद्ध सागर के रूप में विराजमान हैं। आज वह मंगलरूप में, मंगलस्वरूप में, मंगल कामना, मंगल आराधना, मंगल देशना, मंगलचर्या द्वारा मंगल आचरण द्वारा जन-जन को आकर्षित कर जिनशासन की मंगलमय प्रभावना कर रहे हैं।

आचार्य श्री के शब्दों में मनुष्य का जन्म भोग की शैया पर होता है, कुछ भोग शैया पर ही भोग भोगकर मरण को प्राप्त हो जाते हैं तथा कुछ भोग शैया को छोड़कर योग धारण कर जीवन में संयम साधना, तपश्चरण का मंगलाचरण कर लेते हैं। यथा पंक का कीड़ा जन्म से मरण तक उसी पंक में लिप्त रहता है और पंकज उसमें जन्म लेकर भी उससे ऊपर उठकर जीवन पावन कर लेता है।

मंगल क्यों और कैसे?

जिन्होंने मंगल आचरण करके अपने जीवन से पापरूप मल का प्रक्षालन कर लिया है, पावन पवित्र हो गये हैं। जिनका नाम ही मंगलमय है, संसारी जीव को इनके निर्देशित पथ का मंगल आचरण करते हैं। मंगल को उपलब्ध हो जाते हैं। भले ही उनका वर्तमान में साक्षात्कार नहीं हो रहा हो।

मंगल जिनवर पद नमो मंगल अर्हंत देव।¹⁴

मंगलकारी सिद्ध पद सो वंदौ स्वमेव॥

मंगल आचारज मुनि मंगल गुरु उवझाय।

सर्व साधु मंगल करो वंदौ मन वच काय॥¹⁵

उदक-चंदन-तंडुल-पुष्पकैः चरुसुदीप-सुधूप-फलार्घ्य कैः

धवल मंगल गान रवाकुले जिनगृहे जिननाथ महं यजे।¹⁶

आचार्यों ने मंगल के विविध भेद किये हैं, जिनका जीवन में पारायण करने से जीवन दोषमुक्त, व्यसनमुक्त, अधि-व्याधि रहित हो उत्कृष्टता को प्राप्त कर मंगल आचरण को धारण कर लेता है।

मंगल के भेद¹⁷-

1. सामान्य की अपेक्षा से एक प्रकार का है।
2. मुख्य और गौण की अपेक्षा से दो प्रकार है।
निबद्धमंगल और अनिबद्ध मंगल के रूप में दो प्रकार का है।
3. सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्र की अपेक्षा तीन प्रकार है।
4. धर्म, सिद्ध, साधु और अर्हंत के भेद से चार प्रकार का है।
5. ज्ञान, दर्शन और तीनगुप्ति की अपेक्षा पाँच प्रकार का है।
6. द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव, नाम और स्थापना की अपेक्षा छः प्रकार का है।
7. जिनेन्द्र देव को नमस्कार हो इत्यादि रूप अनेक प्रकार का है।

मंगल के विषय में छः अधिकारों द्वारा दंडकों का कथन कहा गया है।¹⁸

1. मंगल- पापों को गलाये तथा सुख को लाये वह मंगल है।
2. मंगलकर्ता-चौदह विद्यास्थानों के पारगामी आचार्य परमेषी।

3. मंगलकरणीय— भव्यजन मंगल करने योग्य हैं।
4. मंगल उपाय— रत्नत्रय की साधक सामग्री।
5. मंगल भेद— सभी प्रकार के उपलिखित भेद।
6. मंगल फल— अभ्युदय और मोक्ष सुख मंगल का फल है।

इस प्रकार जहाँ जिनेन्द्रगुण स्तवन मुख्य मंगल है वहीं सिद्धार्थ (सरसों), पूर्णकुंभ, वंदनमाला, श्वेतछत्र, आदर्शदर्पण, नाथ, स्वामी, कन्या, अश्व एवं हस्ति गौण मंगल हैं।

इस प्रकार यह सब मांगलिक हैं, मंगल आचरण क्रिया में सहयोगी है जिनसे पाषाण प्रतिमा भी परमात्म सत्ता को प्राप्तकर मंगलमय हो जाती है।

मंगल मूर्ति परम पद पंच धरौं नित ध्यान।
हरो अमंगल विश्व का मंगलमय भगवान॥¹⁹
मंगल सरस्वती मात का मंगल जिनवरधर्म।
मंगलमय मंगल करो हरो असाता कर्म॥²⁰

मंगल में अमंगल—

इन आदर्श मंगलों का जीवन में सदुपयोग कौन किस तरह करेगा? कैसे जीवन में उतारेगा? पारायण करके परिणाम विशुद्ध बनायेगा, संयमित जीवन का मंगलाचरण करेगा, यह उसकी स्थिति, क्षमता, ज्ञान, विवेक, निमित्त, पुरुषार्थ एवं भाग्य पर निर्भर करता है।

आज ऐसे भी दुर्भागी हैं, जो मंगलमय आचरण वाल संतों, माँ जिनवाणी एवं आराध्यों का सत्संग प्राप्त करके भी स्वयं का अमंगल कर रहे हैं, क्योंकि उनकी सोच, चिंतन एवं दृष्टि अमंगल रूप ही है। वह उस जौक के समान है जो दुग्धामृत के स्तन को पाकर भी मिष्ठ दुग्धामृत का पान न करके उसके दुर्गंधित एवं विकृत रक्त को चूसते हैं। अन्य की मंगलकीर्ति, यश एवं प्रभाव से ईर्ष्याभाव करके स्वयं अमंगल की धधकती अग्नि में दग्ध हो जीवन को पतन के असाता रूप गर्त में ढकेल रहे हैं।

कुछ भक्त साधु मंगल महाराज को दूर से ही नमस्कार करके पुण्यार्जन कर लेते हैं क्योंकि महाराज स्वाध्याय—लेखन में लीन हैं, मेरे कारण उन्हें किसी प्रकार

का विघ्न अंतराय न हो जाये। पर कुछ दुराग्राही भक्त 'नमोऽस्तु महाराज' इतनी तीव्रता से बोलेंगे कि चार महाराज और सुन लें और तब तक बोलते रहेंगे जब तक महाराज कार्य को विराम देकर आशीर्वाद न दे दें। आचार्य विशुद्ध सागर जी कहते हैं, ज्ञानी तू महाराज को सुनाने आया था कि वंदना करने आया था। तेरी वंदना तो उसी समय हो चुकी थी। अब बंध न कर, उनकी एकाग्रता को भंग मतकर। वंदना तो करना पर बंध न करना।

कुछ परम्परा ऐसी हैं, साधु की चर्या में, वैयावृत्ति में, स्वाध्याय में, प्रवचन में कभी नहीं आयेंगे, यहाँ तक समाधिकाल में भी दर्शनकर धर्मसंचय नहीं करते, परन्तु जैसे ही समाधिमरण होगा, हंस निकलकर चला गया, तो पूरी समाज आबालवृद्ध पुद्गल को श्रीफल भेंट करने दौड़े चले आ रहे हैं। यह पर्याय का राग धर्म नहीं है। परम्पराधर्म के राग में धर्म को मत खो देना।

आचार्य श्री कहते हैं, देव, शास्त्र, गुरु की पूजा न करे वह जैन कहलाने का पात्र नहीं है, परन्तु ज्ञानी देव, शास्त्र, गुरु की पूजा करते-करते तुझे वेदी से विशेष राग हो गया कि मैं इसी वेदी पर पूजा करूंगा, दूसरी पर नहीं, तो तेरे पास भी धर्म नहीं है। तू पुजारी तो है पर पूज्यता के लिए नहीं। सम्यक् दृष्टि को कहीं भी जगह मिल जाये उसे पूजा करके पूज्यता प्राप्त करनी है।

'अक्षयं परमात्मानं' हमारा परमात्मा एक बार हो गया तो हो गया वह पुनः वापिस लौटकर नहीं आयेगा। परन्तु हम तो भक्ति में उसे बुलायेंगे। कभी महावीर बनके, पारसनाथ बनके, ज्ञानी जैन दर्शन में अवतार वाद नहीं है और न ही हमारे भगवान पालन हारे हैं, और न ही निर्गुण हैं, परन्तु हम सिद्धांत को ताक में रखकर अन्य के भजनों की नकल करके जो भक्ति करते हैं वह शुभ में नहीं, मिथ्यात्व में ही लेकर जायेगी। जन्म-जन्म विभिन्न पर्याय में भटकायेगी।

मुनिराज का रात्रिकालीन सांस्कृतिक कार्यों में बैठना कितना शोभायमान होता है और तू उन्हें बैठने का आग्रह करके कौन सा पुण्य कर रहा है? यंत्रों से महाराज को नमोऽस्तु? ज्ञानी नमोऽस्तु का पुण्य नहीं मिलेगा, यंत्र के उपयोग का पाप अवश्य मिलेगा, कब चेतोगे, भो ज्ञानी! अब संभल जाओ।

आचार्य विशुद्ध सागर जी सभी को आगाह करते हुए लिखते हैं, लोग तत्त्व से इतने भ्रमित हो चुके हैं कि देवता के नाम पर और जादू टोना के नाम पर तीर्थंकर के शासन की शक्ति भी महसूस नहीं कर पा रहे हैं।

विघ्नौघा प्रलयं याति, शाकिनीभूत पन्नगाः।
विषं निर्दिषतां याति, स्तूयमाने जिनेश्वरे॥ 21

मंदिर में भगवान का अभिषेक पूजा करेंगे और वहाँ चबूतरे पर जाकर क्या करेंगे? गंडा ताबीजों का युग चल रहा है। तंत्र-मंत्र की क्रियायें मुख्य हो गयी हैं, काल सर्प और ग्रह शांति के माध्यम से भय एवं भ्रम की स्थिति पैदा करके अर्थोपार्जन जारी है। आचार्य विशुद्ध सागर जी कहते हैं, ध्यान रखना, कौन किस को लक्ष्मी दे सकता है? कौन लक्ष्मी छीन सकता है? तेरा भाग्य है जो तुझे सब उपलब्ध हो रहा है। विश्वास रखना नारियल के फल में कोई जल भरने नहीं जाता, अपने आप आता है। जब तक पुण्य उदय है, संपत्ति अपने आप आती है।

ध्यान रखना ये भूतों का नहीं, ये तो जिनशासन है, भूतनाथों का शासन है, उसकी शरण से भटकना नहीं।

आचार्य विशुद्ध सागर जी ऐसे दुर्भागी अमंगलजनों के प्रति मंगलमय भावना करके उनके मंगल आचरण की भावना हर क्षण रखते हैं।

मैं यही कहना चाहता हूँ कि जितना पुरुषार्थ एवं मन, वचन, काय की एकाग्रता दूसरों के जीवन में अमंगल करने में लगाते हैं, यदि वही पुरुषार्थ स्वयं के मंगल में लगायें तो काषायिक भावों के अभाव से परिणाम विशुद्धि की सुगंध हमारे जीवन को महका कर संयम एवं तपश्चरण की वृद्धि कर सम्यक् पथ निर्देशित करेगी।

इस प्रकार आचार्य भट्ट अकलंक स्वामी ने स्वरूप देशना ग्रंथराज के मंगलाचरण में अष्टकर्म से मुक्त तथा ज्ञानादिगुणों से अमुक्त इस कथन द्वारा बुद्धि और विशेष गुणों का अभाव हो जाना पुरुष का मोक्ष है, यह नैयायिक-वैशेषिक की मान्यता है तथा आत्मज्ञान से भिन्न ही है वैशेषिक मान्यताओं का निराकरण हो जाता है। 'अक्षय' विशेषण से शून्यवादिता, नैरात्म्यवादिता और क्षण क्षयिकवादिता रूप मान्यताएँ खंडित हुयीं। 'ज्ञानमूर्ति' विशेषण द्वारा ज्ञान से आत्मा का हीनाधिक प्रमाणपना निराकृत हुआ। 'परम' विशेषण द्वारा आत्मा की बहिरात्मा, अन्तरात्मा एवं परमात्मा इन तीनों दशाओं का कथन पूर्वक जिसप्रकार बहिरात्मा को अन्तरात्मा दशा आराध्य है, उसी प्रकार अन्तरात्माओं को परमात्मा दशा की आराध्यता का मार्ग प्रतिपादित करके संसारी जीव को सिद्धत्व का मार्ग प्रशस्त किया है।

इस प्रकार मंगलाचरण के माध्यम से शुभ कार्यों द्वारा जीवन को भी मंगलमय बनाने का मंगल संकल्प कर स्वयं को कृतार्थ करें।

संदर्भ ग्रंथ सूची—

1. स्वरूप देशना, पृष्ठ - 7
2. पद्मपुराण, 5/206
3. स्वरूप देशना, पृष्ठ-20
4. स्वरूप संबोधन परिशीलन, पृष्ठ- 19
5. स्वरूप देशना, पृष्ठ-21
6. अनगार धर्माभूत, 1/1
7. स्वरूप संबोधन परिशीलन, पृष्ठ-13
8. तिलोपपण्णत्ती, 1/29, षट्खण्डागम, 1/4
9. तिलोपपण्णत्ती, 1/8
10. संस्कृत हिन्दी शब्द कोश, पृष्ठ- 759
11. जैन लक्षणावली, 3/902, तिलोपपण्णत्ती, 1/14, बृहत्क.भा., 809
12. षट्खण्डागम, 1/34
13. सहस्रनाम, 8/12
14. विनय पाठ- 24
15. विनय पाठ- 25
16. प्रतिष्ठा पराग, पृष्ठ- 31
17. षट्खण्डागम, पुस्तक प्रथम, पृष्ठ- 40
18. षट्खण्डागम, पुस्तक प्रथम, पृष्ठ- 40
19. विनय पाठ- 23
20. विनय पाठ- 24
21. प्रतिष्ठा पराग, पृष्ठ- 31

विषय- स्वरूप देशना- मेरी दृष्टि में

—प्रतिष्ठाचार्य पं० पवन कुमार जैन
शास्त्री दीवान, मुरैना (म० प्र०)

श्रीमत् दिगम्बर जैन श्रमण संस्कृति में आत्मा ही परमात्म पद को प्राप्त होती है। संसारी जीवात्मा अनादिकालीन कर्मों के संयोग सम्बन्ध से जन्म जरा मृत्यु की श्रृंखला में निबद्ध है। यह सम्बन्ध विभाव रूप संयोग सम्बन्ध है। अतः अशाश्वत है। जीव जब स्वभावोन्मुखी होने का सम्यक दिशा में सम्यक पुरुषार्थ करता है तो निश्चित ही अपने शुद्धात्म स्वरूप को प्राप्त कर लेता है। ऐसे ही स्वभाव/निजरूप/स्वरूप को पाने के लिए जैन संस्कृति के महान दार्शनिक/तात्विक/न्यायज्ञाता/अध्यात्मयोगी आचार्य श्री भट्टाकलंक देव ने स्वरूप सम्बोधन कृति का प्रणयन किया। मूलरूप से 25 कारिका/श्लोक प्रमाण यह लघुकृति अद्वितीय-अनुपम है ऐसी बेजोड़ सारभूत ज्ञानोदधि ग्रंथ पर इक्कीसवीं सदी के विलक्षण प्रतिभाधारी आचार्य परमेश्विन श्री विशुद्ध सागर जी ने अपनी चिन्तन धारा को "गागर में सागर" की सूक्ति को चरितार्थ करते हुए इस अमृत तत्व को 400 पृष्ठों में उड़ेला है। कृति का अक्षरशः आलोढन करने के अनन्तर अपनी लघु प्रज्ञानुसार निम्न बिन्दुओं से 'स्वरूप देशना- मेरी दृष्टि में' एक लाघव प्रयास प्रस्तुत है- आइये जानें श्री जिनदेशना के अमृत तत्व स्वरूप देशना को.....

1. कारिकाओं की शीर्षकावली
2. भव्यजीवों को सम्बोधन शब्दावली
3. सैद्धान्तिक विशिष्ट शब्द एवं जैन शासन के 18 पर्यायवाची
4. विषय विवेचनार्थ संदर्भ - ग्रंथों की नामावली
5. कारिका विवेचनान्त- एक अमृत सूत्र व समागत सूत्रावली
6. स्वरूप देशना के सारभूत संदर्भ
7. उपसंहार

1. कारिकाओं की शीर्षकावली- स्वरूपदेशना ग्रंथगत 26 कारिकाओं की शीर्षक अनुक्रमणिका निम्न प्रकार है-

कारिका क्रमांक-1 मंगलाचरण- "मुक्तामुक्तैकरुणो नमामितम् ॥

मुक्त के साथ अमुक्त की वंदना क्यों? यदि अमुक्त है तो सिद्ध कैसे है और सिद्ध है अमुक्त कैसे?

विरोधाभास अलंकार—

कारिका-2 "सोऽस्त्या सोपयोगोऽयं - काव्यात्मक ॥

ज्ञायक स्वभावी परम तत्त्व का स्वरूप

कारिका-3 "प्रमेयत्वादि चेतनात्मक ॥

आत्म द्रव्य एक ही काल में चेतन अचेतन दोनों रूप कैसे?

कारिका-4 "ज्ञानादिभिन्नोन सोऽयमात्मेति कीर्तितः ॥

निर्विकार- चिदानंद एक स्वभाव पदरूप वह ज्ञान आत्मा से भिन्न है या अभिन्न?

कारिका-5 "स्वदेह प्रमिताश्चायं न सर्वथा ॥

द्रव्य व ज्ञानापेक्षया आत्मा का स्वरूप।

कारिका-6 "नाना ज्ञानस्वभाव अनेकात्मको भवेत् ॥

एक ही आत्मा एक व अनेक कैसे है?

कारिका-7 "नावकतव्यः स्वरूपाद्यैः वाचामगोचरः ॥

आत्मा सर्वथा अवक्तव्य है या वक्तव्य?

कारिका-8 "स स्याद्विधिनिषेधात्मा विपर्ययात् ॥

सर्वथा भाववादी एवं अभाववादियों की अपेक्षा आत्मस्वरूप (स्याद्वाद सिद्धान्त की विशेष व्याख्या)

कारिका-9 "इत्याद्यनेक धर्मत्वं स्वयमेव तु ॥"

अनेक धर्मात्मक आत्मा से उन धर्मों का सद्भावपना कैसे?

कारिका-10 "कर्ता यः कर्मणा मुक्तत्वमेव हि ॥

त्रैकालिक ध्रुवता, कर्तृत्वपना, भोक्तृत्वपना आदि रूप आत्मा की विभिन्न दशायें)

कारिका-11 "सददृष्टि ज्ञान चरित्रमुपायः दर्शनमतम् ॥

शुद्धात्मोपलब्धि के उपाय कथन।

कारिका-12 "यथावद्वस्तुनिर्णितिः कथञ्चित्प्रमितेः पृथक् ॥

सम्यग्ज्ञान का स्वरूप कथन।

कारिका-13-14 दर्शन ज्ञानपर्यायेषुत्तरोत्तर चारित्रमथवा परम ॥

सम्यक् चारित्र स्वरूप कथन।

कारिका-15 "तदेतन्मूलहेतोः स्यात्कारणं..... बहिरंगकम् ॥

अन्तरंग साधनसिद्धि में बाह्य साधन भी अनिवार्य है।

कारिका-16 "इतीदं सर्वमालोच्य..... रागद्वेषविवर्जितम् ॥

निजात्म भावना को आत्मसात् करने की प्रेरणा।

कारिका-17-18 "कषायैः रंजितं..... तत्त्वचिन्तापरो भव ॥

रागद्वेष के साथ आत्मस्वरूप का चिन्तन करने से दोष व तत्त्वज्ञानी की प्रवृत्ति।

कारिका- 19-20 "हेयोपादेय तत्त्वस्य..... शिवमाप्नुहि ॥

स्वरूप निष्ठा कैसी हो एवं शिव प्राप्ति का सहज उपाय।

कारिका-21-22 "तथाप्यति तृष्णावान.... न क्वापि योजयेत् ॥

निजात्म प्राप्ति की मात्र तृष्णा नहीं, भावना मात्र नहीं, क्रियान्वयन करें।

कारिका-23-24 "सापि च.... तिष्ठ केवले ॥

मध्यस्थ भाव स्वाधीन या पराधीन तथा शीघ्र शिवगामी बनने के उपाय।

कारिका-25-26 "स्वः स्वं स्वेन. पदम् ॥25 ॥ इति स्वतत्त्वं...पञ्चविंशतिः ॥ 26 ॥

अभिव्यक्तरूप सात विभक्तियों के ध्यान से परमानंद प्राप्ति एवं अंत मंगल भावना॥

2. भव्यजीवों को सम्बोधन शब्दावली- मूलग्रंथ स्वरूप सम्बोधन पर स्वरूप देशना के टीकाकार आचार्य श्री विशुद्ध सागर जी विवेचना काल में भव्य जीवों के लिए आत्मीयता पूर्ण जिन सम्बोधनों की प्रस्तुति की है वह अनुपमेय है वह कही व्यंग्मात्मक अथवा कटु प्रतीत होती हुयी भी कल्याणकारी है यथा-

- | | |
|--------------------|---------------------|
| (1) "ज्ञानी" | पृष्ठ 3- पंक्ति-3 |
| (2) "अरे भैया" | पृष्ठ 4- पंक्ति-5 |
| (3) 'उद्योगपति' | पृष्ठ 8- पंक्ति-20 |
| (4) 'मनीषियों' | पृष्ठ 9- पंक्ति-01 |
| (5) 'मुमुक्षु' | पृष्ठ 11- पंक्ति-24 |
| (6) 'रागियो' | पृष्ठ 12- पंक्ति-01 |
| (7) 'लालो | पृष्ठ 3- पंक्ति-3 |
| (8) 'चिडि-चिडियाओ' | पृष्ठ 26- पंक्ति-01 |
| (9) 'भूतादिष्ठ' | पृष्ठ 32- पंक्ति-15 |

(10) 'मोहाविष्ट'	पृष्ठ 32- पंक्ति-21
(11) 'ज्ञानियो'	पृष्ठ 36- पंक्ति-13
(12) 'माताओ'	पृष्ठ 48- पंक्ति-18
(13) 'युवाओ'	पृष्ठ 83- पंक्ति-12
(14) 'अहोश्रावको'	पृष्ठ 132- पंक्ति-16
(15) 'भेषाविष्ट'	पृष्ठ 286- पंक्ति-3
(16) 'मैसाविष्ट'	पृष्ठ 286- पंक्ति-13

3. सैद्धान्तिक विशिष्ट शब्द एवं श्रीमत् जैन शासन के 18 पर्यायवाची-

आचार्य श्री ने स्वरूप देशना ग्रंथ में कुछ सैद्धान्तिक शब्दों का भी उद्घाटन करते हुए श्रीमत् जैन शासन के नमोऽस्तु शासन सहित 18 पर्यायवाची प्रस्तुत किये हैं। जो कि निम्नप्रकार ध्यातव्य हैं। यथा-

पीयूष देशना- पृ० 01, सर्वज्ञ शासन- पृ० 09, नमोऽस्तु शासन-पृ० 09, वीतराग श्रमण संस्कृति- पृ० 09, अक्षय परमात्म- पृ० 17, ज्ञानमूर्ति-पृ० 20, जगत कल्याणी- पृ० 60, स्याद्वाद वाणी-पृ० 137

पर्यायवाची- निर्दोष श्री जिनवीर चन्द्रशासन, 1 सर्वज्ञ शासन, 2 जितेन्द्र शासन, 3 निष्कलंक शासन, 4 अकलंक शासन, 5 स्याद्वाद शासन, 6 अनेकान्त शासन, 7 अर्हन्त शासन, 8 जिनशासन, 9 नमोऽस्तु शासन, 10 पूत शासन, 11 सिद्ध शासन, 12 सत्य शासन, 13 अमित शासन, 14 वीतराग शासन, 15 क्षेमकृत शासन, 16 पुण्य शासन, 17 व्यक्त शासन, 18 - पृष्ठ 399

'मूलाचार' ग्रंथ की संस्कृत टीका में आचार्य श्री वसुनन्दि जी ने श्री जिनेन्द्र के शासन को नमोस्तु शासन कहा है-यथा- "नमोऽस्तूनां शासने" गाथा 151, (संस्कृत टीका) अर्थात् शासन का जो कथन है वही नमोऽस्तु शासन है यह जिनशासन का पर्यायवाची है।

4. विषय विवेचनार्थ संदर्भग्रंथों की नामावली- आचार्य श्री विशुद्ध सागर जी ने स्वरूप देशना ग्रंथ को बतौर प्रमाणीकरण के रूप में विषय पुष्टि हेतु लगभग 60 ग्रंथों के नामोल्लेख किये हैं। वह निम्न प्रकार हैं-

- (1) श्लोक- 'कालेकल्पशतेऽपि.....संभ्रान्तिकरणपटुः ॥133 ॥ रत्नकरण्ड श्रावकाचार- आचार्य समन्तभद्रजी, स्वरूपदेशना पृ० 17, उपसर्गं तुभिक्षे..... सल्लेखनामार्याः ॥ 122 ॥ २० क० श्रावकाचार, आचार्य समन्तभद्रजी- स्व० दे० पृ० 295

- (2) स्वयंभूस्तोत्र- (क) तथापि ते पुण्य.....दुरिताञ्जनेभ्यः ॥57 ॥
समन्तभद्राचार्यजी, स्वदेशना पृ० 19,
स्वयंभूस्तोत्र- (ख) अहिंसा भूतानां.....यत्राश्रमविधौ ॥9 ॥
समन्तभद्राचार्यजी, स्वदेशना पृ० 86,
स्वयंभूस्तोत्र- (ग) तव वागमृतं.....व्यापि संसदिः ॥97 ॥ समन्तभद्राचार्यजी,
स्वदेशना पृ० 170,
स्वयंभूस्तोत्र- (घ) लक्ष्मी विभव.....जस्तृणमिवाऽवभत् ॥88 ॥
समन्तभद्राचार्यजी, स्वदेशना पृ० 387,
- (3) पंचास्तिकाय कुन्दकुन्दाचार्यजी (क) समण मुहुग्गदमट्टु.....वोच्छामि ॥
स्वरूप देशना पृष्ठ 32,
पंचास्तिकाय कुन्दकुन्दाचार्यजी (ख) अण्णोण्णं पविसंता.....विजहति ॥ 7 ॥
स्वरूप देशना पृष्ठ 211;
- (4) वारसाणुपेक्खा कुन्दकुन्दाचार्यजी (क) मणिमंतो सहरक्खा.....
मरणसमयमिह ॥ 8 ॥ स्वरूप देशना पृष्ठ 39, कुन्दकुन्दाचार्यजी
(ख) सव्वमिह लोयरवेत्ते.....खेत्तसंसारे ॥ 26 ॥ स्वरूप देशना पृष्ठ 244,
- (5) नियमसार- कुन्दकुन्दाचार्यजी (क) मग्गोमग्गफल.....होई णिव्वाण ॥2 ॥
स्वरूप देशना पृष्ठ 49,
- (6) दर्शन पाहुड- कुन्दकुन्दाचार्यजी (क) दंसण भट्ठा भट्ठा.....सिज्झन्ति ॥3 ॥
स्वरूप देशना पृष्ठ 55,
- (7) समय सार- कुन्दकुन्दाचार्यजी (क) सुदपरिचिदाण भूया.....विहत्तास्स ॥ 4 ॥
स्वरूप देशना पृष्ठ 109,
समय सार- कुन्दकुन्दाचार्यजी (ख) ण मुयइपयडिमभव्वो.....
णिव्विसा हुंति ॥ 317 ॥ स्वरूप देशना पृष्ठ 164,
समय सार- कुन्दकुन्दाचार्यजी (ग) अरसमरुवमगंधं.....दिट्ठिसंगण ॥49 ॥
स्वरूप देशना पृष्ठ 198,
समय सार (आत्मरव्याति टीका) -कुन्दकुन्दाचार्यजी (घ) जइजिणमथं.....
उणत्तच्चं ॥ स्वरूप देशना पृष्ठ 380,
- (8) रयणसार- कुन्दकुन्दाचार्यजी (क) दाणं पूयामुक्खं.....तहासोवि ॥11 ॥

स्वरूप देशना पृष्ठ 221,

(9) प्रवचनसार— कुन्दकुन्दाचार्यजी (क) परिणमदि जेणदव्वं....मुण्येयव्वो ॥8 ॥
स्वरूप देशना पृष्ठ 350,

(10) दोहा पाहुड— कुन्दकुन्दाचार्यजी (क) अंतोणत्थि सुदीणं....स्वयं कुणइ ॥ 146 ॥
स्वरूप देशना पृष्ठ 304,

(11) सुत्त पाहुड— कुन्दकुन्दाचार्यजी (क) णवि सिज्झई....उमग्गयासव्वे ॥23 ॥
स्वरूप देशना पृष्ठ 355,

(12) अष्ट पाहुड— कुन्दकुन्दाचार्यजी (क) अज्ज वित्तिरणसुद्धा.....
णिव्वुदिंजति ॥77 ॥ स्वरूप देशना पृष्ठ 399,

(13) परीक्षामुख—माणिक्यनंदिजी (क) प्रतिनियतमर्थं व्यवस्थापयति ॥ सूत्र 9 ॥
स्वरूप देशना 33,

परीक्षामुख—माणिक्यनंदिजी (ख) हिताहित प्राप्ति..... ज्ञानमेव तत् ॥ सूत्र 2 ॥
स्वरूप देशना 120,

परीक्षामुख— माणिक्यनंदिजी (ग) स्वावरण क्षयोपशम.....व्यवस्थापयति
॥ सूत्र 9 ॥ स्वरूप देशना 142,

परीक्षामुख— माणिक्यनंदिजी (घ) उपलम्भानुपलम्भ.....ज्ञानमूहं ॥ सूत्र 7 ॥
स्वरूप देशना 216,

परीक्षामुख— माणिक्यनंदिजी (ङ) आप्त वचनानि.....ज्ञानमागमः ॥ सूत्र 7 ॥
स्वरूप देशना 220,

परीक्षामुख— माणिक्यनंदिजी (च) साधनात्साध्य..... मनुमानम् ॥ सूत्र 90 ॥
स्वरूप देशना 366,

(14) जिनेन्द्र व्याकरण — पूज्यपादाचार्य (क) "स्वतंत्रतः कर्ता" स्वरूप देशना 43,

(15) इष्टोपदेश— पूज्यपादाचार्य (क) भवन्तिप्राप्य....प्रार्थनावृथा ॥18 ॥
स्वरूप देशना 164,

इष्टोपदेश— पूज्यपादाचार्य (ख) विराधककथं.... दंडेन पात्यते
स्वरूप देशना 234,

इष्टोपदेश— पूज्यपादाचार्य (ग) यो यत्रनिवसन्नास्ते.... गच्छति ॥43 ॥
स्वरूप देशना 335,

- (16) आलाप पद्धति - श्रीदेवसेनाचार्य (क) मुख्याभावे..... चोपचारः प्रवर्तते ॥212 ॥ स्वरूप देशना 54,
- (17) आप्त मीमांसा- समन्तभद्राचार्य जी (क) घटमौलि.....सहेतुकम् ॥59 ॥ स्वरूप देशना 72,
 आप्त मीमांसा- समन्तभद्राचार्य जी (ख) शुद्धयशुद्धीपुनः.....तर्कगोचर 100 ॥ स्वरूप देशना 217,
 आप्त मीमांसा- समन्तभद्राचार्य जी (ग) अबुद्धिपूर्वा.....स्वपौरुषात् ॥91 ॥ स्वरूप देशना 377,
- (18) गो० जीवकांड- श्री नेमिचन्द्राचार्यजी (क) वेदस्सुदीरणाए.....दोषं वा ॥273 ॥ स्वरूप देशना 77,
 गो० जीवकांड- श्री नेमिचन्द्राचार्यजी (ख) पुरुगुणभोगे.....पुरिसो ॥273 ॥ स्वरूप देशना 79,
 गो० जीवकांड- श्री नेमिचन्द्राचार्यजी (ग) छादयदि सयः.....वणिण्या इत्थी ॥274 ॥ स्वरूप देशना 83,
 गो० जीवकांड- श्री नेमिचन्द्राचार्यजी (घ) अस्थि अणता.....ण मुंचति ॥197 ॥ स्वरूप देशना 87,
 गो० जीवकांड- श्री नेमिचन्द्राचार्यजी (ङ) एगणिगोदशरीरे.....विनीदकालेण ॥196 ॥ स्वरूप देशना 120,
- (19) श्री अकलंकाचार्य (क) प्रमेयावादिभि चेतनात्मकः ॥3 ॥ स्वरूप देशना 112,
 श्रीराजवार्तिक जी- श्री अकलंकाचार्य (ख) हतं ज्ञानं क्रियाहीनं.....पङ्गुलः ॥1 ॥ स्वरूप देशना 361,
- (20) श्रीमूलाचार जी- श्री वट्टकेराचार्य जी (क) जेणतच्चं.....जिणत्तासणं ॥267 ॥ स्वरूप देशना 116,
 श्रीमूलाचार जी- श्री वट्टकेराचार्य जी (ख) भिक्खंक्कं.....भयवं ॥1006 ॥ स्वरूप देशना 196,
 श्रीमूलाचार जी- श्री वट्टकेराचार्य जी (ग) वीरेण वि.....मरिदव्वं ॥100 ॥ स्वरूप देशना 270,

श्रीमूलाचार जी- श्री वट्टकेराचार्य जी (घ) जिण वयणमोसहमिणं.....
सव्वदुक्खाणं ॥95॥ स्वरूप देशना 279,

(21) श्री तत्त्वसार जी- (क) थक्के मणसंकप्पे.....
जोईणं ॥29॥ स्वरूप देशना 167,

(22) श्रीद्वयसंग्रह जी- श्री नेमिचन्द सिद्धान्तचक्रवर्ती जी (क) सदोबंधो.....
पज्जाया ॥16॥ स्वरूप देशना 191,

(23) श्रीवैराग्य शतक जी- श्री भर्तृहरिजी (क) कदा स्वयंभू.....
दिगम्बरा ॥स्वरूप देशना 191,

(24) श्री पुरुषार्थ सिद्धयुपायजी- श्री अमृतचन्द्र जी (क) निश्चयमिह
सर्वेऽपिसंसारः ॥ स्वरूप देशना 202,

(25) श्री आत्मानुशासन- श्री गुणभद्राचार्य जी (क) पुरागर्भादिन्द्रो.....
हतविधेः ॥ स्वरूप देशना 205,

श्री आत्मानुशासन- श्री गुणभद्राचार्य जी (क) परांकोटि..... यस्तपोविषयाग्या ॥
स्वरूप देशना 387,

(26) श्री रा० प्रतिक्रमण- (क) हादुट्टु कयं हा....वेदन्तो ॥5॥ स्वरूप देशना 208,

(27) श्री तत्त्वार्थ सूत्र जी- श्री उमास्वामी आचार्य (क) जीव भव्या भव्यत्वानि
च ॥2/7॥ स्वरूप देशना 218,

श्री तत्त्वार्थ सूत्र जी- श्री उमास्वामी आचार्य (ख) बंधेऽधिकौ
पारिणामिकौ च ॥ स्वरूप देशना 325,

(28) श्री ज्ञानार्णव- श्री शुभवन्द्राचार्य जी (क) धर्मनाशे....प्रकाशने ॥15॥
स्वरूप देशना 222,

(29) श्री अमित गति श्रावकाचार- श्री अमितगतिजी (क) वाणी मनोरमा.....
मौनमुज्जबलम् ॥4॥ स्वरूप देशना 223,

(30) श्री सागार धर्माभूत- पं० श्री आशाधर जी (क) प्राणान्तेऽपि.....
भवे भवे ॥52॥ स्वरूप देशना 312,

(31) श्री परमात्म प्रकाश जी- श्री योगीन्दु देव जी (क) अन्यथा वेद.....चान्यथा ॥
स्वरूप देशना 376,

(32) श्री कार्तिकेयानुप्रेक्षा- श्री कार्तिकेय जी (क) ण य को वि..... कुण्दि ॥319॥

स्वरूप देशना 377.

अन्य ग्रंथोल्लेख— क्षत्रचूडामणि, 1 (पृष्ठ 40), भक्तामरजी, 2 पृ० 6, राजवार्तिक, 3 पृ० 6, अष्टशती, 5 पृ० 6, युक्त्यनुशासन 5 पृ० 7, पद्यपुराण 6 पृ० 38, विद्यानुवाद पूर्व 7 पृ० 39, क्षपणासार 8 पृ० 50, कल्याणकारक 9 (आयुर्वेद) पृ० 40, भगवती आराधना 10 पृ० 51, मरणकण्डिका 11 पृ० 51, महापुराण 12 पृ० 52; पद्मनंदि पञ्चविंशतिका 12 पृ० 55, सर्वार्थसिद्धि 14 पृ० 81, जैन सिद्धान्त प्रवेशिका 15 पृ० 81, पंचाध्यायी 16 पृ० 81, धवलाजी 17 पृ० 86, श्रीभूवल्लय 18 पृ० 118, तिलोयपण्णति 19 पृ० 118, न्यायदीपिका 20 पृ० 129, कुरलकाव्य 21 पृ० 149, श्लोकवार्तिक 22 पृ० 184, प्रमेयकमलमार्तण्ड 22 पृ० 191; षट्खंडागम 24 पृ० 266, रिष्टसार समुच्चय 25 पृ० 345, लघुतत्त्वविस्फोट 26 पृ० 358, जिनप्रवचन रहस्यकोष 27 पृ० 34, प्रतिक्रमणत्रयी 28 पृ० 392

अन्य काव्यादि ग्रंथ—

1. कवि भूधरदासजी— अन्यत्वअनुप्रेक्षा — आप अकेला ॥ स्वरूपदेशना पृ० 67
2. कवि जौहरीमल जी— आलोचना पाठ— एक ग्रामपति ॥ स्वरूपदेशना पृ० 147
3. कवि दौलतराम जी— छहढाला— पुण्यपापफलमाहि ॥ स्वरूपदेशना पृ० 315

इस प्रकार सिद्ध है कि स्वरूप देशना में $32 + 28 + 3 = 61$ ग्रंथों के संदर्भों के साथ आचार्य श्री ने अपना उत्कृष्ट चिन्तन प्रस्तुत किया है। जो कि एक अनुपम प्रस्तुति है।

5. कारिका विवेचनान्त एक अमृत सूत्र व अन्य समागत सूत्रावली—

आचार्य श्रीविशुद्ध सागर जी ने प्रस्तुत ग्रंथराज पर देशना व्यक्त करते हुए प्रत्येक कारिका विवेचनान्त में एक अमृत सूत्र दिया है— “आत्मस्वभाव परभाव भिन्न” अर्थात् आत्मा का स्वभाव परभावों से अत्यन्त भिन्न है। यह सूत्र आत्म/जीव द्रव्य की सत्ता को अन्य द्रव्यों से भिन्न दर्शाता है। इसी अन्तिम लक्ष्य की प्राप्ति हेतु सम्पूर्ण ग्रंथ की विषय प्रस्तुति है। यह सूत्र समग्र कृति में 32 बार आवृत्त हुआ है। यथा— कारिका क्रमांक/स्वरूप देशना पृ० — 01/21, 02/5, 02/51, 02/73, 03/84, 03/97, 03/114, 04/126, 04/138, 05/149, 06/160, 06/174,

07/187, 08/214, 09/226, 10/236, 10/247, 11/261, 11/275, 12/281, 12/150, 12/302, 13-14/316, 13-14/326, 15/336, 16/345, 17-18/356, 19-20/367, 21-22/378, 23-24/390 एवं 25-26/400 ॥ इसके अतिरिक्त कुछ और भी सूत्र आचार्य श्री इस ग्रंथ में उद्धृत किये हैं जो निम्न प्रकार हैं-

1. "पिय धम्मो, दृढ धम्मो" (वट्टकेरस्वामी) अर्थ- प्रेम हो तो धर्म हो और दृढ़ता से हो। पृ० 03
2. "पटुसिंह नादे"- श्रेष्ठ पटुवक्ता को सिंह का नाद करना चाहिए। पृ० 7
3. "अवाक् विसर्ग वपुसा निरूपण्यं मोक्षमार्गः" - निर्ग्रन्थ मुनि का शरीर बिना बोले ही मोक्ष मार्ग का उपदेश देता है। पृ० 15
4. "जैनीवृत्ति स्वेच्छाचार-विरोधनी" जैनी की वृत्ति में स्वेच्छाचार नहीं होता। पृ० 29
5. "यो ग्राह्यो ग्राह्य नाद्यन्तः" आत्मा ग्राह्य है और अनंत काल तक रहेगा। पृ० 58
6. "नैवाऽसतो जन्म सतो न नाशो" असत् का उत्पाद और सत का विनाश नहीं होता द्रव्य दृष्टि से। पृ० 59
7. "किं सुन्दरं किं असुन्दरम्" इस लोक में कोई वस्तु सुन्दर/असुन्दर नहीं है। पृ० 75
8. "ज्ञानदर्शन तस्तस्मात्" आत्मा ज्ञान दर्शन की अपेक्षा चेतन है। पृ० 112
9. "अनशन स्वरूपोऽहम् चिद्रस रसायन स्वरूपोऽहम्" मैं आत्मा अनशन स्वभावी हूँ। चैतन्य रस रसायन स्वरूप मैं हूँ। पृ० 26
10. "पर्यायदृष्टि नरकेश्वरा, द्रव्यदृष्टि महेश्वरा" पर्याय दृष्टि नरकेश्वर होंगे, द्रव्यदृष्टि वाले महेश्वर/परमात्मा होंगे। पृ० 289
11. "जिना देवा यस्य च असौ जैनाः" जिन जिनके देव हैं वे जैन हैं। पृ० 292
12. "प्रक्षीणपुण्यं विनश्यति विचारणं" जिसका पुण्य क्षीण हो जाता है उसका विचार भी क्षीण हो जाता है। पृ० 348
13. "भवधृयभद्रोऽपि समन्तभद्रः" आपके पादमूल में अभद्र भी समन्तभद्र हो जाता है। पृ० 373
14. "आयरिय पसादो विज्झामतंसिज्झंति" गुरु/आचार्य के प्रसाद से विद्यामंत्र की सिद्धि होती है। पृ० 382

15. "आगम चक्खू साहु" साधु का नेत्र आगम है। पृ० 389

16. "कृतान्तागम- सिद्धान्ता ग्रंथः शास्त्रमतःपरम ॥" कृतान्त, आगम, सिद्धान्त, ग्रंथ और शास्त्र ये 5 शास्त्रों के नाम हैं। पृ० 117

6. स्वरूपदेशना गत सैद्धान्तिकादि/आगमगत व्याख्यायें--

आचार्य श्री विशुद्ध सागर जी ने स्वरूपदेशना ग्रंथ में अनेकानेक सैद्धान्तिक तथा विभिन्न विषयक व्याख्यायें, जिनागमगत चर्चायें भी सारभूत रूपेण सोदाहरण प्रस्तुत की है। कुछेक निम्न प्रकार है। आइये अवलोकन करें--

1. जैन साधु योगी, वातरसायन, अलौकिक हैं-- दिगम्बर साधु वायुवत् प्रवाहमान रहते हैं। यथा पानी प्रवाहमान होने पर निर्मल किन्तु रुकने पर सड़ता है। तथैव साधुगण व्यवहार से ढाईद्वीप में और निश्चय से निजलोक में विहार करते हैं, यही अलौकिक वृत्ति है। इसीलिए इन्हें वातरसायन कहा है। देहलोक में और देही निजलोक में विहार करता है। पृ० 2
2. कैसे उद्योगपति बने-- उद्योगपति तो जगत के बहुत लोग बन गये, अब उस उद्योग का पति बनना है जिसमें उद्योग ही न करना पड़े। जगत का उद्योग बन्द हो जाये। पृ० 8
3. वस्तु स्वातन्त्र्यपना-- जैन संस्कृति में वस्तु स्वातन्त्र्यपना महत्व है। वस्तु व्यवस्था से अनभिज्ञ होता है। जबकि विज्ञ समता भाव के कारण सुखी है। राग-द्वेष के कर्ता आप हैं वस्तु के कर्ता नहीं है। (पृ० 9) वस्तु स्वरूप कैसा वह मिश्र में भी अमिश्र है। कितनी ही अष्टधातु की प्रतिमायें बना लीजिए पर प्रतिमा एक ही दिखेगी, धातुएं स्वतन्त्र हैं। एक में अनेकत्व है। अनेकत्व में एकत्व है यही स्याद्वाद है। पृ० 12
4. जैनीवृत्ति स्वेच्छाचार-- विरोधनी-- जैनी की वृत्ति में स्वेच्छाचार नहीं होता, ये स्वतन्त्रता का मार्ग है स्वच्छन्दता का नहीं। मोक्षमार्ग स्वतन्त्रता का मार्ग है। पृ० 29
5. स्वरूप सादृश्य अस्तित्वपना-- प्रवचनसार द्वितीय अध्यायानुसार स्वरूप व सादृश्य अस्तित्वपना देखें-- स्वरूप अस्तित्व की दृष्टि से हम भिन्न-भिन्न हैं। परन्तु सादृश्य से नहीं क्योंकि जैसा जीवत्व भाव तरे अन्दर है वैसा ही मेरे अन्दर है, निगोदिया, अजगर, शेर के अन्दर भी हैं। यही सादृश्य अस्तित्वपना है। पृ० 47

6. कारण--कार्य समयसार-- बिना कारण समयसार के कार्य समयसार नहीं होता। सम्यक्त्व पर्याय कारण समयसार है, चारित्र पर्याय कार्य समयसार है, चारित्र समयसार कारण पर्याय है तो अशरीरी सिद्ध पर्याय कार्य समयसार है। जिनवाणी में सर्वत्र कारण कार्य व्यवस्था है। पृ० 49
7. वृद्ध--बाल--अतिबाल बनना-- संयम के लिए वृद्ध बनना, सहजता के लिए बालक और ज्ञान के लिए बिल्कुल ही बालक अर्थात् अति बाल बनना। पृ० 58
8. पुण्य पुरुषों के स्मरण से पापों का क्षय-- पुण्य पुरुषों के नाम स्मरण से पापों का क्षय होता है। पदमपुराण--समयसार एक दूसरे से बाहर नहीं केवल भाषा शैलियों में अन्तर है द्रव्यगुण पर्याय का कथन सम्पूर्ण द्वादशांग में है रविषेणाचार्य जी के कथनानुसार पुण्य पुरुषों के पुराण पाठ से पुण्य की वृद्धि एवं कर्म की निर्जरा भी होती है। पृ० 61
9. वस्तु स्वरूप नयातीत है-- वस्तु न निश्चय नय है न व्यवहार नय है वस्तु तो वस्तु है व्यवहार और निश्चय तो वस्तु को कहने की 2 भाषायें हैं। एक अभेद भाषा है एक भेद भाषा है। वस्तु में भाषा नहीं है वस्तु को समझने के लिए भाषा है। (पृ० 64)
10. स्त्री की परिभाषा जो दोषों से आच्छादित हो और पर को भी आच्छादित करे, दोषों से अच्छादित होना ही जिसका गुण बन चुका हो वह स्त्री है। चाहे वे पुरुषवेद में या स्त्री वेद में हो। विषय कषाय में रत जीव स्त्री वेदी है। पृ० 83
11. आश्रम व्यवस्था का निषेध-- स्वयंभू स्तोत्र में आचार्यश्री समन्तभद्रजी ने आश्रम व्यवस्था का निषेध किया है। वे दिगम्बरों के आश्रम/मठों का निषेध कर रहे हैं क्योंकि आश्रम/मठों में रहकर नाना प्रकार के सुखों की अनुभूति लेते हुए जो यह कह रहे हैं कि मैं ब्रह्म में लीन हो रहा हूँ। वे मठ में निवास करना आश्रम नहीं, ब्रह्मचर्य में लीन होने का नाम आश्रम है।
यथा-- अहिंसा भूतानां जगति विदितं ब्रह्म परमं।
न सा तत्रारम्योऽस्त्यणुरपि च यत्राश्रमविद्यौ ॥ 9 ॥ स्वयंभूस्तोत्र ॥
12. पुण्योदय की प्रबलता/माहात्म्य-- पुण्य द्रव्य के अभाव में हाथ पैर का पुरुषार्थ भी कार्यकारी नहीं होता। पूर्व पुण्य के नियोग पर व्यक्ति असत्य भी बोले तब भी उसे सत्य समझा जाता है और पुण्य क्षीण होने पर सत्य भी बोलने पर वह असत्य समझा जाता है। सोमा और उसकी सासु से पूछ लो ॥ पृ० 103, 104

13. दान कैसे देना— कभी ऋण लेकर दान मत देना, शक्ति से अधिक दान मत देना, अन्यथा संक्लेशता हो जायेगी। इच्छाओं को कम करते हुए अपनी द्रव्य में से दान दो। अपनी शक्ति सामर्थ्यनुसार दान दें। — मूलाचार — श्रीवट्टकेरस्वामी ॥ स्वरूपदेशना पृ० 105
14. ज्ञान की परिभाषा— 'जेणतच्चं बिबुज्झेज्ज, जेणचित्तणिरुज्झदि । जेण अत्ता विसुज्झेज्ज, तं णाणं जिणसासणे ॥ 267 ॥ मूलाचार
- जिससे तत्त्व का बोध हो, चित्र का निरोध हो, आत्मा का शोध हो, उसे जिन शासन में ज्ञान कहा है। भेद से अभेद की ओर ले जाये, खण्ड से अखण्ड की ओर ले जाये, वह सम्यग्ज्ञान है। ज्ञान जोड़ता है तोड़ता नहीं, ज्ञान से ध्यान और ध्यान से निर्वाण होता है। पृ० 116
15. भारत भूमि यंत्रों की नहीं, मंत्रों की/निर्ग्रन्थों की प्रचारक है—
- कम्प्यूटरों से मस्तिष्क नहीं बना, मस्तिष्क ने कम्प्यूटर बनाया है। भारत भूमि यंत्रों की नहीं निर्ग्रन्थों की, मंत्रों की प्रचारक है। मूल तंत्रकर्ता सर्वज्ञ देव, उत्तरतंत्र कर्ता गणधर देव और प्रत्युत्तर तंत्रकर्ता आचार्य परमेशी है। तंत्र अर्थात् अरिहंतों की वाणी, अरिहंत के तंत्र में नकुल और सर्प एक साथ बैठ जायें, सिंह—गाय एक साथ बैठ जावे, अनेक—अनेक परिणामों को एक कर दे यह वीतराग वाणी का तंत्र है, जैनागम में ग्रंथ को भी तंत्र कहा है। समाधि तंत्र बिना प्रमाण के नहीं बोलता ॥ पृ० 117
16. रोटी—योगी और पूड़ी—भोगी में अन्तर— रोटी योगी और पूड़ी भोगी है। पूड़ी दर्पण पर फेरने से वह धुंधला होकर चेहरा नहीं दिखा सकता और रोटी योगी की प्रवृत्ति अर्थात् फेरने से चेहरा दिखेगा। भोग स्निग्धपना है भोगी को धुवात्मा दिखाई नहीं देती, रोटी कभी पेट खराब नहीं करती जबकि पूड़ी चार दिन में ही पेट खराब कर देगी। इसलिए भोगी नहीं योगी बने ॥ पृ० 119 ॥
17. साधु/असाधु की परिभाषा— जीवन्त जीवन जिये वह साधु है और जो जीते जी मरे उसका नाम असाधु है। कुछ लोग जन्म लेकर मर जाते हैं और कुछ मर कर भी अमर हो जाते हैं। "धण्णा ते भयवंता" ॥ पृ० 131
18. वृद्धों का माहात्म्य— (श्री ज्ञानार्णव ग्रन्थानुसार) वृद्धों के साथ रहने से अनुभव मिलता, साधना बढ़ती है। इनका अपमान नहीं करना, सेवा करना, पके बाल वालों से पकी सामग्री मांग लेना, सच्चा साधु आचार्यों से स्पर्धा करेगा नहीं, वंदना करेगा। अपने से बड़े परमेशी की वंदना करने से कोटि—कोटि कर्म क्षय

होते हैं। बाल्टी टॉटी के नीचे रखने से ही भरती है। ऊपर रखने से नहीं ॥ पृ० 133

19. "जिनगुण सम्पत्ति होऊ मज्झं" ही श्रेष्ठ है— सम्यग्दृष्टि जीव भगवान के पास भिखारी नहीं भक्त बनकर आता है। वह दुकान चलने, मकान बनने आदि की लौकिक कामनायें नहीं मांगता, त्रिलोकीनाथ से अलौकिक मांगना जो कहीं नहीं मिलता। वह तो कहता है कि 'हे भगवन जिनेन्द्र गुण सम्पत्ति मुझे प्राप्त हो।' यही श्रेष्ठ है। पृ० 134-135
20. चतुर्विध कथायें एवं आत्मानुशासन— आक्षेपिणी, विक्षेपिणी, संवेगिनी व निर्वेगिनी ये 4 कथायें हैं। स्वमत का मंडन, परमत का खंडन ये आक्षेपिणी-विक्षेपिणी तथा बोधि-समाधि सिद्धि कराने वाली संवेदनी-निर्वेदनी कथायें हैं। समाधिस्थ जीव के लिए संवेगिनी - निर्वेगिनी कथायें करना चाहिए। मध्यकाल में जिन जिनेन्द्र भगवान ने आत्मानुशासन किया। वही आज विश्व पर शासन कर रहे हैं। सदाचारी ही समाज द्वारा स्वीकार किया जाता है। पृ० 135
21. लाभान्तराय कर्म के क्षयोपशमानुसार ही प्राप्ति होती है— जीव के अपने लाभान्तराय क्षयोपशम के अनुसार ही प्राप्ति होती है क्योंकि यदि कोई अधिक दे भी दे तो ठहरता नहीं है। अकृत पुण्य को उसके भाईयों ने मजदूरी के बदले पोटली भर चने दिये किन्तु घर पहुँचते-पहुँचते मुट्ठी भर बचे शेष पोटली के छेद से निकल गये। साधु/अतिथि/ मेहमान के लिए यथायोग्य सत्कार पूर्वक खिलाता है और दरवाजे के भिखारी को मुट्ठी भर देकर ही टरकाता है। इसलिए जो प्राप्ति हो उसमें ही संतोष धारण करो। पृ० 143
22. वस्तु व्यवस्था में निमित्त-नैमित्तक सम्बन्ध— वस्तु व्यवस्था में नानत्व-एकत्वपना भी है। इन्हीं दृष्टियों से विसंवाद समाप्त होते हैं— निमित्त ही सर्वस्व नहीं, माना कि बादाम से बुद्धिवृद्धिगंत होती है लेकिन यदि पागल पुरुष को खिलाओ तो बन्ध होगा, बादाम बिगड़ेगी, अपच होगा। बल्ब विद्युत से जलता है किन्तु फ्यूज बल्ब नहीं, हलुआ-दूध वृद्ध के लिए कार्यकारी नहीं। अतः सिद्ध है कि स्वस्थ नैमित्तक के लिए निमित्त सहकारी है। सर्वत्र नहीं ॥ पृ० 152
23. आठ अंगुल पर विजय से विश्व विजय— चार अंगुल रूप कामेन्द्रिय एवं चार अंगुलरूप रसनानेन्द्रिय पर नियन्त्रण करने पर अष्टम वसुधा प्राप्त हो जायेगी। गुप्तियों में मनोगुप्ति, इन्द्रियों में रसना, व्रतों में ब्रह्मचर्य व्रत, कर्मों में मोहनीय कर्म ही प्रधान है। पृ० 165

24. आराध्य के प्रति ऐक्य दृष्टि— आचार्यश्री का चिन्तन है कि अपने आराध्य के प्रति ऐक्यपना लाते हुए स्वयं में भी एक्यपना लावें, उदाहरण— जब पिता के नाम पर उनके दो बेटे लड़ने लग जावे तब उनके पिताओं को थोड़ा गौण करके दादाजी के नाम से ऐक्यपना लावे। यदि विराग— विद्या — विशुद्धादि के नाम पर विकल्प उठें तो इन सबको गौण करके इनके दादा—परदादा को तीर्थकर महावीर के नाम से ऐक्यपना लावे। समाज की अखंडता आवश्यक है। आचार्यों की परम्परा पृथक—पृथक सही, नदि संघ, सेनसंघ, सिंहसंघ आदि किन्तु भगवान महावीर तो सबके हैं। पिताजी संभाग है और दादा पूरा राष्ट्र है। पृ० 173

25. पर उपदेश कुशल बहुतेरे— आचार्यश्री ने यह सूक्ति निम्न प्रकार स्पष्ट की है। दूसरे को समझाने वाले अनेक मिल जाते हैं उनके इन्हें ज्ञान से समझाना होता है किन्तु स्वयं के घर घटना घटित होने पर समझने के लिए विवेक और धैर्य की आवश्यकता होती है। जीव जब भी समझेगा स्वयं की समझ से समझेगा न कि दूसरे की समझ से ॥ शोकाकुल परिवार के घर भी किसी दिन विशेष समय विशेष पर ही जाना सदैव असाता का आश्रव मत कराना। पृ० 170?

26. मंदिर के चित्र सच्चरित्र वालों के हैं— मंदिरों में चित्र उनके होते हैं जिनके सच्चरित्र होते हैं अथवा जिनके चरित्र विशाल होते हैं। भोगियों के, रागियों के चित्र घर में भी उतार देने चाहिए। तस्वीरें ऐसी देखो जिनसे तकदीर सुधर जाये न कि फूट जाये। जिन्हें देवाधिदेव मिल जाते हैं वे अन्य देवों को भूल जाते हैं। जिन्हें सुन्दर रूप व विद्या चाहिये उन्हें श्रीजिन भक्ति अवश्य करनी चाहिए क्योंकि "भक्ते सुन्दररूपं" आचार्य श्री समन्तभद्राचार्य जी का कथन है। पृ० 181-182

27. मुनियों के छह काल/समय— दीक्षा—शिक्षा—गणपोषण, आत्मसंस्कार, सन्यास एवं उत्तमार्थकाल। इन छः कालों में आत्मसंस्कार काल आत्मा को संस्कारित करते हैं। फिर गण को भी छोड़ देते हैं। निर्विकल्प होकर निजानुभव का वेदन करो। सबसे विराम लेकर आत्मानंद लें। मुनियों की वृत्ति आगम में आलोक्य/एकांत वृत्ति होती है। वीतराग वाणी के श्रवण से ही वीतरागपने की प्राप्ति होगी। (इन छः कालों की परिभाषायें पृ० 256-260 से देखें)

28. जिनशासन में साधु को भगवान कहा है— जिस योगी की भिक्षावृत्ति, वचन प्रवृत्ति हितकारी है और शोध कर चलते हैं। अर्थात् चाल, चलन और बोलचाल, भोजन प्रवृत्ति, बोलने की शैली और चलने की प्रवृत्ति अच्छी है। ऐसे

साधु को जिन शासन में भगवान कहा है— “भिक्षुं वक्कं हियं सोधियं जो चरदि णिच्च सो साहू।

एसो सादिद्ध साहू भणिओ जिणसासणे भयवं ॥ 1006 ॥ मूलाचार

29. श्रमणों का वात्सल्य— लोकापवाद— श्रमणों के अवर्णवाद विषयगत आचार्यश्री विद्यासागर जी ने मेरे से (आचार्य विशुद्ध सागर जी) भोजपुर में कहा कि ये लोक जिनदेव का नहीं हुआ, अपना क्या होगा, समय परिवर्तनशील है, स्वर्ण—रजत—कांसा—तांबा—लोहा धातुयें क्रमानुसार श्रेष्ठ/त्याज्य हैं आज स्टील रूप/लौह धातु में भगवान का न्हवन, पूजन, श्रमणों का आहार हो रहा है। इसलिए निकृष्टता आ रही है। पाप की डिबिया मोबाईल त्याज्य है। पृ० 199—200
30. वैय्यावृत्ति कैसे— पदमपुराण रविषेणाचार्य से, आभूषण कैसे— महापुराण जिनसेन से— प्रसंगवश स्वरूपदेशना में उक्त दोनों संदर्भों का उल्लेख है कि वैय्यावृत्ति/मालिशदि कैसे करना, कैकई की तरह तथा हार—मुकुटादि आभूषण कैसे पहिनना चाहिए यह प्रसंग महापुराण— जिनसेनाचार्य से समझें। पृ० 201
31. वस्तु व्यवस्था में स्याद्वाद — नयविवक्षा— एक निश्चय को भूतार्थ, दूसरा अभूतार्थ कहता है। इसी प्रकार व्यवहार को भूतार्थ—अभूतार्थ कहता है संसारी जीव “भूतार्थ—बोधविमुखः” भूतार्थ के बोध से ही विमुख है। संसार को सत्यार्थ जानने वाले गिने चुने लोग ही हैं। विषय को बोलना और समझना भिन्न—भिन्न है। स्वस्थ व्यक्ति के लिए घृत पसन्द होने से भूतार्थ है अस्वस्थ/पाचन शक्ति कमजोर वाले के घी अभूतार्थ है। बहि प्रमेय की दृष्टि से पदार्थ सम्यक्—मिथ्या है भाव प्रमेय से पदार्थ जैसा है वैसा ही है। अर्थात् मात्र जानने योग्य है। पृ० 203
32. कर्म सिद्धान्त प्रबल है— कनकोदरी रानी ने जिन प्रतिमा को ईर्ष्या के आवेग में 22 घड़ी तक छिपाया फल भोगना पड़ा, तीर्थकरों को भी कर्मों ने नहीं छोड़ा, देखो— जिनका पुत्र चक्रवर्ती हो, वे स्वयं सृष्टि के सृष्टा हों, गर्भागम से छः माह पूर्व रत्नवृष्टि प्रारम्भ हुयी, इन्द्र किंकर बनकर सेवा में रहा षट् कर्म व्यवस्था के जनक, आदीश्वर को भी बैलों को मुसिका लगवाने से सात माह तक क्षुधा से पीड़ित होना पड़ा। राष्ट्रपति, प्रधानमंत्री उच्चपदासीन हैं किन्तु न्यायालयगत व्यवस्था उनसे भी सर्वोच्च है। पृ० 204—205

33. स्वयं का पुण्य—पाप फल ही भोक्तव्य होता है— परिवार के लिए कर्मों का परिवार पुण्योदय में ही सुख से जी सकता है या जिला सकता है, पापोदय में न जी सकता है न जिला सकता है। संरक्षित भी चला जाता है। चक्रवर्ती का पुण्य स्वयं के लिए चक्ररत्न का उपयोग उसके बेटे के लिए नहीं। पुण्य—पाप की व्याख्या मोक्ष प्राप्ति के प्रवर्तक हैं। अरिहंत अवस्था तक कर्मोदय रूप ॥ परीषह होते हैं। ये कर्म किसी को नहीं छोड़ते हैं। पृ० 207
34. पाप को पाप मान लें तो पाप से छूट जायेंगे— प्रायश्चित्त सहित पाप को पाप मानने से पाप से छूट सकते हैं। पाप और पर्याय में संतुष्ट नहीं होना, नींद दर्शन मोहनीय कर्मोदय में आती है किन्तु साता का उदय हो, असाता में नींद नहीं आती, नींद न आने पर स्वाध्याय/चिन्तन प्रारम्भ कर दें अर्थात् पापोदय में पुण्य कार्य कर लें। आनंद से सोने के लिए चिन्ताकारी 'सोना' छोड़ दें। निष्परिग्रही बनें। पुण्योदय में मुनि बिना कमाये दो हाथ से खाते हैं। पापोदय में कमाने वाले को पत्नी एक हाथ से भी नहीं खिलाती है। पृ० 211—213
35. प्रमाद की परिभाषा— "कुशलेषु अनादराः प्रमादः" जो कुशल क्रिया में अनादर भाव है वह प्रमाद है। कुशल क्रिया अर्थात् आत्मा को पवित्र करने वाली पुण्य क्रिया उसमें आलस्य ही प्रमाद है। शुद्धि विधि पूर्वक दातादि देना वही पुण्य सम्यग्दृष्टियों में उत्पन्न करेगा अन्यथा अशुद्धि पूर्वक की गयी दान पूजादि भवनत्रिक में ही ले जायेगा। पृ० 216
36. भव्य—अभव्य—दूरानदूर भव्य का सोदाहरण स्वरूप— सम्यग्दर्शनादि प्राप्त होने की सामर्थ्य वाले को भव्य और इससे परे को अभव्य तथा जिसमें योग्यता तो है किन्तु उसे निमित्त नहीं मिलेंगे उसे दूरानदूर भव्य कहते हैं। तीनों के क्रमशः उदाहरण यह है: पति व पुत्रत्व शक्ति युक्त, वन्ध्या स्त्री, विधवा स्त्री अथवा ठर्रा मूंग जो कभी नहीं पकेगी। पृ० 219
37. वक्ता के 3 भेद व आगम क्या— सर्वज्ञ देव, गणधर देव और आचार्य देव, ये 3 ही वक्ता हैं। शेष उपदेशक जो भी कहे इन्हीं के अनुसार कहें। उपदेश देने वाला 28 मूलगुणधारी तथा उपदेश सुनने वाला अष्ट मूलगुणधारी हो। उत्तम वस्तु को उत्तम पात्र की आवश्यकता है। दूध को रखने हेतु योग्य पात्र की आवश्यकता है अन्यथा विकृत हो जायेगी। "आप्त वचनानिदिकन्धनमर्थ—ज्ञानमागमः।" जो आप्त 18 दोषों से रहित, सर्वज्ञ, वीतरागी, हितोपदेशी है उनका वचन ही आगम है। पृ० 220

38. श्रावक कर्तव्य तथा अभिषेक के भेद तथा मौन कहाँ नहीं?

दान-पूजा करना श्रावक का मुख्य कर्तव्य है। निष्प्रयोजनी इसका निषेध करते हैं। श्रावकों के साथ विद्वानों को भी ये षटक्रियायें करणीय हैं। कोरा ज्ञान कार्यकारी नहीं है। दान-पूजादि सम्यक्त्व की क्रिया है। आगमोक्त त्रिविध अभिषेक हैं- जन्माभिषेक- जन्म पश्चात्- बाल तीर्थकर का, दूसरा- तीसरा राज्याभिषेक व दीक्षाभिषेक भी तीर्थकरादि की किन्तु चौथा प्रतिमाभिषेक- जिनबिम्बों का होता है एवं जहाँ धर्म-क्रिया का नाश होता है वहाँ मौन रहने वाले मुनि को भी मौन छोड़कर बिना पूछे ही बोलना चाहिए। धर्म रक्षा करना चाहिए यथा- "धर्मनाशे क्रिया ध्वसे सुसिद्धान्तार्थ विप्लवे/अपुष्टैरपि वक्तव्यं तत्स्वरूप प्रकाशने ॥" ज्ञानार्णव-15 (पृ० 221-222)

39. परमसत्यार्थ दशा प्ररूपणा- वस्तुतः जगत में कोई सुख-दुख दाता नहीं है। निमित्ताधीन दृष्टि से संक्लेशता व हास्यादि काषायिक भाव उद्भव होते हैं। 9 कषाय संक्लेशता रूप ही हैं। साम्यभाव के अभाव में ही संक्लेशता है। (पृ० 227-228)

40. आचार्य शांतिसागर जी के संरक्षण में आचार्य आदि सागर की जी समाधि- पूर्वाचार्यों में परस्पर वात्सल्य था किन्तु आज काषायिक भाव दृष्टिगोचर हो रहा है। ऊदगांव में जब आदि सागर जी की समाधि चल रही थी तो निर्यपकाचार्य आचार्य शांतिसागर जी थे एक और आचार्य थे गोरेगांव के वे इनकी समाधि मरण को देखने आये थे, किन्तु परिणामों की ऐसी विशुद्धि बनी कि एक साथ दो हंस आत्मायें देवलोक को प्राप्त हो गयी इनकी दो समाधियाँ वहाँ बनी हैं। वह इन आत्माओं की परस्पर परिणामों की पवित्रता अनुकरणीय है। पृ० 242

41. मुक्ति प्राप्ति का अंतरंग - बहिरंग उपाय- मुक्ति प्राप्ति का अन्तरंग उपाय कषाय की मंदता और परिणामों की विशुद्धि है तथा बहिरंग उपाय निर्ग्रन्थ मुद्रा-पिच्छि कमण्डल है। इनके बिना मुक्ति प्राप्ति असंभव है। ज्ञान मात्र कार्यकारी नहीं चरित्र भी अंगीकार करना पड़ेगा। पृ० 247

42. यथामति तथा गति/यथा गति तथा मति- दोनों एक दूसरे के पूरक हैं। दुर्गति जाने वाली की मति भी विपरीत रूप हो जाती है और जिसकी सुगति होने वाली है उसकी मति विपुलमति, विमलमति, विशुद्धमति होती है। जीव मात्र के

कल्याण की भावना होनी चाहिए क्योंकि धर्म का मूल दया है।
 "धम्मस्यमूलं दया" हमारी सोच समीचीन होना चाहिए।

43. घरों में सुख-शांति चाहिए तो सदाचरण – धर्माचरण अपनायें— घरों में सुख शांति हेतु— श्री भक्तामर जी/णमोकार मंत्र का पाठ होना चाहिए। मारपीट नहीं माता-पिता के चरण स्पर्श, सद्वाणी, सम्मान की भावना होना चाहिए। वात्सल्य होना चाहिए। परिवारजनों का साथ त्रैकालिक नहीं, तात्कालिक (उसी पर्याय का) है। दूसरे को भी पर मत समझो, संभव है कि वही सहायक बनकर संभाल देगा। पृ० 255
44. शिष्य-सेवक में अन्तर- शिष्य बनाना साधुता का एवं सेवक बनाना परिग्रह का कार्य है। वीतरागी श्रमण सेवक नहीं शिष्य बनाता है। सेवा करना शिष्य का धर्म/कर्तव्य है। किन्तु सेवा चाहना किंचित् मात्र भी धर्म नहीं है। वह तो परिग्रह है। इसलिए जैन दर्शन में साधु सेवा का नहीं वैय्यावृत्ति शब्द प्रयुक्त हुआ है। स्वामी या सेवकाना तो रागद्वेष रूप परिणमन है और वैय्यावृत्ति अंतरंग तप है। स्वामी – सेवक भाव छोटे-बड़ों में हो सकता है ये अर्हन्तमुद्रायें / मुनिमुद्रायें किसी के सेवक नहीं होते। शिष्य होते हैं। पृ० 258
45. जीने को खाने वाला योगी— खाने को जीने वाला भोगी— आचार्य सन्मति सागर जी के उदाहरण से आचार्य श्री विशुद्ध सागर जी ने योगी-भोगी की वृत्ति स्पष्ट की है वे मासोपवासी होकर खड़े होकर सामायिक करते थे क्योंकि योगी जीने के लिए खाता है जबकि भोगी खाने के लिए जीता है। स्वात्मोपलब्धि का उपाय रत्नत्रय की एकता ही मोक्षमार्ग है। पृथक-पृथक नहीं ॥ पृ० 260
46. योगत्रय की शुद्धि कैसे?— बारसाणुपेक्खा— आचार्य श्रीकुन्द कुन्द जी के अनुसार काय की शुद्धि परमेष्ठी के नमस्कार पूजा, वंदना से, वचन योग की शुद्धि अरिहंतादि की स्तुति करने तथा मनयोग की शुद्धि प्रभुगुण चिन्तन से होती है। घर के फर्श को थोड़ा सा भी गंदा होने पर तुरन्त पानी से साफ कर लेते हैं उसी प्रकार अन्तस के हृदयफर्श पर रागद्वेष क्रोध कषायादिरूप साधिक कचरा पड़ा है उसे वीतराग वाणी के नीर से प्रक्षालित कर लें। हम तत्वज्ञानार्जन के नाम पर प्रभु पूजा नहीं छोड़ें, चक्रवर्ती पूजनोपरान्त समवशरण में बैठकर देशना श्रवण करता है हम भी स्वाध्याय करें। वाचना-पृच्छना आम्नाय अनुप्रेक्षा—उपदेशरूप जिनाज्ञा है। पृ० 265

47. पुण्य—पापात्मन् जीव के गर्भागम से लक्षण— जिस जीव (माँ) को स्वप्न में निरग्रन्थ दिखाई देते हैं समझ लें गर्भ में पुण्यात्मन् जीव है। माताओं को अच्छी भावनायें अच्छे दोह लें/इच्छायें होती हैं तथा पापात्मन् के गर्भ में आने पर मिट्टी, खटाई, मिर्ची आदि मांगती है। प्रथमानुयोग श्रेणिक चरित्रानुसार अभय कुमार जैसा पुण्य जीव गर्भ में आने पर समस्त कैदीगणों को मुक्त कराने का दयालुता का भाव आता है और कुणिक जैसा पापात्मन् गर्भ में आने पर अपने पति का भी रक्त पीने का क्रूर भाव आता है। ये पुण्य—पापात्मन् के आगमन की सूचना है। (पृ० 268)
48. धर्म प्रभावना— ढोल धमाके से नहीं धर्माचरण/सम्यक्त्वाचरण से करें— पंचपरमेष्ठी को खोकर चक्रवर्ती पद इष्ट नहीं है। पुद्गल/भौतिक कणों के पीछे धर्माचरण मत छोड़ना, जिनशासन की प्रभावना, ढोल—धमाके मात्र से नहीं, सम्यक्त्व आचरण से होगी, जब में कंधी रखकर चलने से नहीं, पानी का छाना रखकर चलें। पानी छानकर पियेगा तो देखने वाला तुम्हारे आचरण से जैनत्व की पहिचान कर लेगा। पृ० 269
49. जैनागम के 5 विध अर्थ समझें चार्वाक वृत्ति छोड़े— जैनागम में वस्तु स्वरूप को समझने हेतु 5 विध अर्थ होते हैं नयार्थ, मतार्थ, शब्दार्थ, आगमार्थ एवं भावार्थ। आज लोगों में केवल खाओ—पियो— मौज करो जैसी चार्वाक मतीय प्रवृत्तियाँ पनप रही हैं। वे स्वर्ग—नरक को कल्पना मात्र मानकर केवल वर्तमान के आनंद को ही भोगने की बात करते हैं अतः मिथ्यात्वरूप परिणतियाँ छोड़ जैन दर्शन की ओर आवें। पृ० 270—71
50. ज्ञानी बनें— गुरु को समर्पण करें तर्क नहीं आज्ञा स्वीकारें— जिनागम में पहला आज्ञा— सम्यक्त्व है, परीक्षा सम्यक्त्व नहीं, क्यों करना नहीं— हाँ करना सीखें क्योंकि — क्यों में तर्क/उत्तेजना/अहंकार/अज्ञानता है जबकि 'हाँ' में समर्पण/वात्सल्य — प्रीति विद्यमान है। व्याकरणानुसार ज्ञानी को 'ज्ञ' अक्षर स्वतन्त्र नहीं संयुक्ताक्षर है। "ज्ज्योर्ज्ञ" ज् व्यञ्जन, हलन्त ज् व्यञ्जन हलन्त इन 2 वर्णों से 'ज्ञ' बना है। अतः गुरु चरणों में बैठकर अहंकार की सत्ता छोड़ दें ज्ञानी बन जायेगा। जैन दर्शन में पुण्य ही वरदान एवं पाप ही श्राप है। इसलिए धर्म की शरण स्वीकारें। पृ० 275—76
51. कर्म सिद्धान्त/समय बलवान है— आचार्य भरतसागर व मुनि क्षमा सागर जी प्रसंग— आचार्य श्री भरत सागर जी व मुनिश्री क्षमासागर जी के प्रति कर्मों ने कैसी निष्चुरता दिखलाई है। पथरिया में आचार्य विद्यासागर जी व आचार्य

विरागसागर जी के संसंघ सान्निध्य में गजरथोत्सव हुआ था। मैं 1990 में क्षुल्लक था, वह हमारी क्षुल्लकावस्था याद करने लगे मैंने कहा कि 'नमोऽस्तु शासन जयवंत हो' वे भावुक हो गये। आप समय लें समय बलवान है। पृ० 278

52. श्री, श्रीमान, श्रीमती व श्री मति वालों का माहात्म्य— 'श्री' सम्पन्न श्रीमानों की, व श्रीमतीयों की आज पूजा—महत्ता दिखायी पड़ती है। यह तो विषय—कषाय वालों की पूजा है सही पूजा तो उनकी है जो श्री—मती (श्रेष्ठ बुद्धि) वाले हैं वे कोटि—कोटि जीवों पर/दुनियां वालों पर राज्य करते हैं। भुक्तिवधु रूपी श्रीमती को लेने जाओ तो शिव राज्य मिलेगा ही। पृ० 279
53. जिनवचन परमौषधि एवं जिन भारती गौ का अमृततत्व पय— मूलाचार ग्रंथानुसार कथन है—

जिणवयणमोसहमिणं विसयसुह विरेयणं अमिदभूदं।

जर मरण वाहि वेयण खयकरणं सव्व दुक्खाणं॥ 95॥

जिन वचन परम औषधि रूप जन्म मरण का क्षय करने वाले हैं। व्याधिहर्ता, दुःखनाशक व विषय सुख विरेचक हैं। हम आज स्वार्थवश मुनिसुव्रत नाथ जी को शनिग्रह की शांति हेतु मात्र पूज रहे हैं। हमारे 3 देवता ही इष्ट हैं— इष्ट, अबाधित व अभिमत रूप 24 तीर्थकर ॥ इष्ट — वीतरागी सर्वज्ञ देव, अबाधित जो किसी से खण्डित नहीं हो, अभिमत— त्रिलोक पूज्य ॥ जैसे गाय के शुद्ध घृत में स्वर्ण तत्व होता है। पैर के तलवे में लगाने से नेत्र ज्योति बढ़ती है उसी प्रकार 'प्रमेयकमल मार्तण्ड' अनुसार जिन भारती रूपी गौ के 4 अनुयोग रूप थनों से मंथित तत्त्व अमृत रूप से कैवल्य ज्योति प्राप्त होती है। (पृ० 279—80—81)

54. कर्म के पर्यायवाची— जैन आयुर्वेद शास्त्र कल्याणकारकानुसार विधि/ब्रह्मा/ अर्थात् भाग्य अर्थात् कर्म और कृतान्त ये कर्म के पर्यायवाची हैं। हम अपने पूज्य परमेश्वरी, जिनवाणी के प्रति दृढ़ श्रद्धान रखें जहाँ घना आनंद है। पृ० 284
55. मंत्र और तंत्र का माहात्म्य— ललितपुर की घटनानुसार किसी श्रोता ने आचार्य श्री से कहा कि आप प्रवचन के समय श्रोताओं को मंत्रमुग्ध कर देते हो वह मंत्र कौन सा है। मैंने कहा कि हे मुमुक्षु मैं छोटे-छोटे मंत्र नहीं करता मैं तो तंत्र भी करता हूँ वह भी छोटा नहीं समाधि तंत्र हमारे यहाँ श्रेष्ठ तंत्र है। जब बाहर के

यंत्र-मंत्रादि फेल हो जाते हैं तब वीतराग वाणी का तंत्र प्रारम्भ होता है और प्रतिफल स्वरूप सिंह-गाय एक घाट पर पानी पीते हैं। समवशरण में तिर्यन्च - मनुष्य - देवगति के एक साथ जिनदेशना श्रवण करते हैं। पृ० 287

56. हम विद्याजीवी बने न कि श्रुतजीवी- श्रुत से आजीविका वालों को आचार्यश्री ने आगाह किया है कि हम विद्यार्जन करे किन्तु श्रुतजीवी नहीं बने। जिनवाणी भाग्यवती-भोगवती नहीं योगवती है। सरस्वती/जिनवाणी को कंठ में धारण करना- किन्तु संसार के भोग में उपयोग मत करना। अर्थात् जिनवाणी बेचना नहीं। गणधर की गद्दी का महत्व समझना, हाँ समाज भी विद्वानों का समुचित सत्कार- संरक्षण करे। पृ० 290
57. श्री बाहुबली मस्तकाभिषेक और 250 पिच्छियों का मिलन- सन् 2006 के मस्तकाभिषेक श्री बाहुबली के पादमूल में 250 पिच्छियाँ देखकर भाव-विभोर हो गया यह रागियों की नहीं वीतरागियों की भीड़ थी, जिसे देखकर भद्रबाहु आचार्य के 12000 हजार 24000 साधुओं के मिलन का स्मरण आया है। वीतरागियों को वंदन करने से चारित्र मोहनीय कर्म का क्षय होता है। उन्होंने क्षेत्र में नहीं संयम में रति की है। पृ० 294
58. भट्टारकों द्वारा श्रुत संरक्षण-श्लाघनीय कार्य- श्रमण संस्कृति के संरक्षण में दक्षिण भारत स्थित भट्टारक परम्परा का योगदान श्लाघनीय है। यद्यपि उत्तर भारत तीर्थकरों की जन्मभूमि है निर्वाण भूमि भी है तथापि आचार्य भगवन्तों को जन्म देने वाला, जिनवाणी का संरक्षण देने वाला, बहुमूल्य रत्नमयी जिनबिम्बों का संरक्षण दक्षिण भारत में ही हुआ है। भद्रबाहु आचार्य सहित 24000 साधुओं का संरक्षण दक्षिण में ही हुआ है। श्रवणबेलगोला चन्द्रगिरी पर्वत पर अन्तिम श्रुतकेवली भद्रबाहु आचार्य की सल्लेखना हुयी, शिष्य चन्द्रगुप्त ने कर्तव्य पालन करते हुए संरक्षण किया जो कि स्तुत्य है॥ पृ० 295-297
59. श्रुत क्या-पूर्व मनीषियों का स्मरण - श्री के सदुपयोग की प्रेरणा- श्री जिनेन्द्र देशना परम्परा से प्राप्त है। व्यक्ति का निजी विचार श्रुत नहीं है, श्रुतानुसार विचार/ सोच होना चाहिए। पं० श्री टोडरमल जी, पं० श्री बनारसी दास जी आदि मनीषियों का भी क्षयोपशम श्रेष्ठ था, उन्होंने निर्ग्रन्थों का दर्शन नहीं किया तथापि वे अभाव में भी सद्भाव देखते थे। श्रुत/जिनदेशना के अवर्णवाद में अपनी श्री का दुरुपयोग मत करना। केवली, श्रुत, संघ, धर्म और देव का

अवर्णवाद करने से दर्शन मोहनीय कर्माश्रव होता है। अपनी पुण्योदय से प्राप्त की। लक्ष्मी को श्रीदेव, शास्त्र गुरु, जिनालय, जिनबिम्ब धर्मशाला-पाठशालादि 7 परम क्षेत्रों में लगाये। श्रुत में प्राप्त 2 प्रमाणों को भी आचार्यों की वाणी के रूप में श्रद्धा से स्वीकार करना। पृ० 304-306

60. धर्मध्वंस के काल में अवश्य मुखर हों- जहाँ धर्म का विनाश, क्रियाओं का हनन हो रहा है सिद्धान्त का विप्लव होता हो वहाँ वस्तु तत्त्व के प्रतिपादन यथार्थता के प्रकाशनार्थ स्वयं ही वक्तव्य देना चाहिए। विद्वानगण भी पहले लखें फिर लिखें।
61. समसामयिक शंका समाधान (क) मयूर पिच्छिका- प्रतिबंध निवारण- अहिंसा महाव्रत की प्रतीक मयूर पिच्छिका संयम की अनिवार्य प्रतीक है और अहिंसात्मक पद्धति से ही पंखग्रहण स्वीकार करना चाहिए। (ख) संस्कृति में विकृति पर रोक- मयूर पिच्छिका वर्ष में एक बार ही बदलना चाहिए, न कि अनेक बार। (ग) मयूर पंख निर्दोष है न कि सदोष- सोदाहरण आचार्यश्री ने स्पष्ट किया है कि जिस प्रकार नाखून बढ़ने पर आप सहज रूप में स्वयं निकाल देते हो कष्ट नहीं होता उसी प्रकार मयूर सहज रूप से चोंच से निकालकर पंख छोड़ता है। पृ० 309
62. सापेक्षतया गजरथ से ज्ञानरथ बेहतर है- पूर्व के विद्वान हस्तलेखन से एक ग्रन्थ की कई प्रतियां कर देते थे। आज प्रकाशन की सुव्यवस्था है। करें-करावें। विदिशा के सेंट सिताबलाल -लक्ष्मीचन्द्र जी गजरथ चलाने वाले थे। तभी वहीं के दूसरे सज्जन तख्तमल जी के प्रेरणा से उन्होंने गजरथ नहीं चलवाकर षटखंडागम का प्रथमबार प्रकाशन कर ज्ञानरथ चलवाया जो कि श्रेष्ठ कार्य है। पृ० 310
63. सोदाहरण व्रतपालनार्थ प्रेरणा-
 'प्राणान्तेऽपि न भक्तव्यं गुरुसाक्षि श्रितं व्रतम।
 प्राणान्ततत्क्षणे दुःखं व्रत भंगो भवे-भवे ॥ 52 ॥ सा० धर्मा०
- अर्थ- प्राणों का अन्त होने पर भी गुरु चरणों में की गयी प्रतिज्ञा भंग नहीं करना चाहिए क्योंकि प्राणान्त होने पर एक भव सम्बन्धी ही दुःख होगा किन्तु व्रत भंग करने पर भव-भव में दुःख होगा। धीवर ने निर्ग्रन्थ गुरु से ली प्रतिज्ञानुसार प्रथम मछली को 5 बार जाल में आने पर भी छोड़ दिया था अभय दान दिया और दृढ़तापूर्वक गुरु से ली प्रतिज्ञा का पालन किया ॥ पृ० 312

64. वस्तु व्यवस्था में ज्ञाता-दृष्टा पना नहीं कर्तापना हानिकर है सोदाहरण प्रस्तुति- संयमासंयम वस्तु में नहीं परिणति में है। वस्तु को ज्ञेय बनाकर देखें, रागद्वेष रूप नहीं। मुझी का जहर मृत्यु का कारण नहीं मुख का जहर अनिष्ट है। वसन के साथ वासना अवश्य उतारें। पूजा-पूजा चाहने वाले की नहीं पूज्य की होती है। अच्छा सोचे - बोले और अच्छा ही करें। पृ० 317-18
65. पुण्यात्मन संयम पथिक परिवार धन्यभाग- संयम पथ के पथिक ही धन्यभाग्य हैं, आचार्य श्री विद्यासागर जी के परिवारीजनों की जो संयमपथ के पथिक बने- माता-पिता-भाई-बहिन और स्वयं तो हैं ही ये सभी महापुण्यात्मन् हैं। इसी प्रकार भ० ऋषभदेव जी सहित उनके समस्त परिवारी जीवां का मोक्ष पुरुषार्थ स्तुत्य है। स्वयं तीर्थेश, एक सुपुत्र चक्रवर्ती, दूसरा कामदेव, गणधर और अन्य बेटे मुनिराज यह सभी स्वाधीन भव्यात्मार्ये हैं नौकरी/किंकर से शूकर श्रेष्ठ है क्योंकि वह स्वाधीन है। पृ० 323
66. संस्कृति के संस्कार एवं जिनवाणी का अमृतपान- देवशास्त्र गुरु रूपी विद्युत संग्रह से अपना हृदयरूपी इन्वर्टर चार्ज कर लें। जैन समाज का संस्कारित छोटा बच्चा भी द्रव्य की डिब्बी लेकर नित्य मंदिर जाता है। 45 दिनोंपरान्त ही जिनदर्शन कराने की श्रेष्ठ परम्परा जैन संस्कृति में है। जो बालक अपनी माँ के आंचल से जितना दूध पी लेता है वह उतना ही परिपुष्ट होता है लिहाजा आप भी जिनवाणी माँ के 4 अनुयोग रूपी आंचलों से जिनदेशना रूप अमृत पथ का अधिकाधिक पान करके पुष्ट हो जावें। पृ० 352-326
67. गीतादि-भजनों में भी सैद्धान्तिक कथन हो- द्रव्यचतुष्टय का प्रभाव- आज पारस बनके या वीर बनके चले आना जैसे भजन बोलकर भगवान को ऊपर से नीचे उतारते हुए तथा तेरी कृपा से मेरा सब काम हो रहा है आदि भजनों के द्वारा कर्तापना सिद्ध किया जा रहा है। आत्मकल्याण में द्रव्य क्षेत्रकाल भाव भी प्रभावकारी होता है यथा केशर काश्मीर में ही क्यों होती है। सर्वत्र क्यों नहीं, क्योंकि क्षेत्र, जल वायु सभी योग्य साधन अपेक्षित है तथैव मुक्ति केवल भरतैरावत क्षेत्र से ही क्यों? चतुर्थ काल में ही क्यों अथवा विदेह क्षेत्र से ही क्यों? मालवा के पास होता है किन्तु ग्रीष्मकाल में क्यों नहीं? आदि अतः सिद्ध होता है कि मोक्ष प्राप्ति में द्रव्य चतुष्टय प्रभावशील है। पृ० 330
68. जैन संस्कृति में विहार परम्परा क्यों? भ० ऋषभदेव का समवशरण भी बिहार को प्राप्त हुआ, सर्वत्र जिनदेशना खिरी -भव्य जीवों को धर्म लाभ हुआ तथैव श्रमण संस्कृति के मंगल विहार से संसारी जीवों को सर्वत्र धर्म लाभ मिलता है।

जिनशासन की प्रभावना होती है तथा साधु को भी एक ही स्थान से अथवा कुछ ही भक्तों के प्रति मोह राग भाव जाग्रत नहीं होता है। हम बाह्य जगत में जैनाचार से जैन संस्कृति का अवश्य संरक्षण करते रहें। पृ० 335-336

69. पूर्वाचार्यों का पुनीत स्मरण एवं परनिंदा त्याग की प्रेरणा— आचार्य श्री ने जैन वाङ्मय को विकसित-संरक्षित करने वाले श्री समन्तभद्र, विद्यानंद, वादीभसिंह, वादिभिराज, अकलंक जैसे पूर्वाचार्यों का मंगल स्मरण किया है क्योंकि इन्होंने पहले लखा फिर लिखा है। परनिंदा - आलोचना नहीं की, इसलिए वे स्वयं प्रशंसनीय हैं। हम स्वयं का आत्म प्रक्षालन करें, पर की चिन्ता - निन्दा में नहीं? पृ० 338
70. पुण्य-पाप का परिणमन और प्रतिफल— सीता के पुण्योदय में सीता हरण होने पर राम वियोग में पत्तों-पाषाण-प्रकृति से भी पता पूछ रहे थे और सीता का पापोदय आने पर वही राम अग्निकुंड में जाने को कह रहे थे। यह केवल राम, रावण, सीता का दोष नहीं, कर्मोदय वशात् ऐसे संयोगों का प्रतिफल है। अतः हम प्रयत्नशील हों कि यथाशक्य अशुभ से बचें और शुभ में प्रवृत्त हों। पृ० 339-340
71. शुभाशुभ कर्म के चार साक्षी— प्रत्येक शुभाशुभ कर्म के 5 साक्षी सदैव सर्वत्र हैं। समय, कर्म, सर्वज्ञ और चौथा स्वयं कर्ता। समय-कर्म और सर्वत्र तथा करने वाला इन सबको सब दिखता है, किसी से छिपता नहीं है। कमरा बंद कर पाप किया जा सकता है किन्तु पाप का फल तो खुले में ही भोगना पड़ेगा। पुण्य भले ही एकान्त में करलो पुण्य का फल खुले में भी आयेगा। एक श्रीपाल ने साधु निंदा की, 700 साथियों ने समर्थन किया। अशुभ फल सभी को खुले में भोगना पड़ा। कारण कार्य विधान सुनिश्चित है। जैसे कारण होंगे कार्य वैसा ही होगा। हम केवल घड़ी की सुईयों की ओर नहीं उन सुईयों को चलाने वाली बैटरी को भी अवश्य देखें तथैव केवल कार्य या कार्य के फल को नहीं उन पूर्वकृत/अदृष्ट कारणों को भी समझे जिनसे ऐसा फल मिलता है। पृ० 341-342
72. सर्वप्रथम आत्म कल्याण की सोचें अन्य की नहीं— पापाश्रव गूढगर्भ होता है जिनमें संतान पलती बढ़ती रहती है। बुराई झगड़े का कलंक अमिट होता है। मंथरा, कैकयी, बाहुबली ये सभी स्वर्ग-मोक्षगामी हो गये किन्तु इनके कार्य आज भी यहाँ अमिट हैं। फोड़े के दाग की तरह। इसलिए कषायादि त्याग कर केवल आत्महित की चर्चा करें। वीतराग भाव में आम्नाय-पंथ कुछ नहीं

आत्महित सर्वोपरि है। आचार्य कल्पश्रुत सागरजी श्वेताम्बर थे, दिग्म्बरत्व धारण किया, निमित्त ज्ञानी आचार्य विमल सागर जी से जीवन अल्प जान कर समाधि में संलग्न हो गये। केवल उपदेश— वार्ता नहीं की। इन्द्रियों से धर्म साधन इष्ट है भोग नहीं। 'इष्टसार समुच्चय' से जीवन क्षणिक जानकर आत्महित ही सोचें। पृ० 345

73. पुण्यक्षीणता अनर्थकारी है— 'प्रक्षीण पुण्यं विनश्यति विचारणं' पुण्यक्षीण वाले का विचार भी क्षीण हो जाता है। कर्मोदय ज्ञानी—अज्ञानी सभी के आता है। 'यथागति तथा मति' के अनुसार दुर्गति होने वाले की बुद्धि भी खोटी हो जाती है। मति सुमति हो तो सुगति होती है। परिणामों का संक्लेषित होना पर सापेक्ष नहीं स्वसापेक्ष है। किसी का अहित नहीं सोचे, न करें और न बोलकर पुण्य क्षीण करें। शत्रु के प्रति भी माध्यस्थ भाव रखें। पृ० 348—349
74. प्रवचन सभा— नाट्यसभा का अंतर तथा निमित्तातीत बनें— मोक्षमार्गोपदेष्टा प्रवचन सभा में वस्तु तत्त्व की व्याख्या करें। श्रोताओं को खुश करके ताली नहीं बजवायें। प्रवचन सभा में चेहरा नहीं मन मुस्कराता है। नाट्यशाला में मन नहीं चेहरा मुस्कराता है। प्रवचन सभा मनोरंजन की सभा नहीं है। हम निमित्तों मात्र में संलग्न नहीं हो, निमित्तातीत बनें। निर्माही होने का पुरुषार्थ करें। मोह बढ़ाने वाले हेतुओं से हटते रहें। कुसंगति के संयोग से अहित होता है। इसलिए निमित्तातीत बनें। पृ० 354
75. पराधीनता त्याग स्वाधीनता पहिचानें— पिंजरे में कैद तोता पराधीनता त्याग स्वतंत्र होने के लिए पिंजरे को सजाता नहीं है। मोक्ष पाने के लिए शरीर रूप पिंजरे को सजाना छोड़ दें। खूटी से बंधा बैल स्वतंत्र होना चाहता है। मनुष्य तो बिना रस्सी — बिना खूटे के, बिना पूछ के, बिना सींग के बैल है। पराधीनता के दुःख को त्याग कर स्वाधीनता के सुख प्राप्ति का पुरुषार्थ करें। पृ० 359—360
76. ध्रुव मिथ्यात्व एवं व्यवहार धर्म में अन्तर— परिजन — पुरजनों को अपना मानकर वेह बुद्धि करना, बहिरात्मपना ही ध्रुव मिथ्यात्व है। अथवा परद्रव्य में निजद्रव्यता की अनुभूति मान्यता घोर मिथ्यात्व है। किन्तु आपस में वात्सल्य भाव रखना व्यवहार धर्म है। यथार्थतः रागादि भाव ही तेरे नहीं तब जिनमें रागादि भाव किया जा रहा है वे कैसे तेरे हो सकते हैं। पुण्य—पापोदय भी आत्मद्रव्य नहीं आश्रव है। पृ० 360—361

77. साधु-श्रावक षडावश्यकों का पालन कर्तव्य भावना से करें- सिद्ध बनने तक साधु को जिनवन्दना-पंचपरमेष्ठी की वन्दना षडावश्यकों के अन्तर्गत अनिवार्य है। इसी प्रकार सुधी-श्रावकों को भी श्री जिनाभिषेक - पूजनादि षडावश्यक सुख- समृद्धि प्राप्ति की भावना से नहीं कर्तव्य भावना से करना चाहिए। सकाम नहीं निष्काम भक्ति करें। यथा ताली की आवाज टेंपिंग करने के बाद वही आवाज प्रयोगात्मक रूप में भी आती है। तथैव त्रिलोकीनाथ की पूजाराधनादि करने से पुण्य की आवाज स्वतः अवश्य आयेगी।
78. आत्म कल्याण के दो ही काल- आत्म कल्याण के 2 ही काल हैं सर्वश्रेष्ठ चौथा काल तथा श्रेष्ठकाल पंचम काल। इसमें इतना पुण्य भी सार्थक है कि श्री देवशास्त्रगुरु का समागम मिल रहा है। उसके भी 2500 वर्ष निकल चुके हैं। शेष 18500 वर्ष में भी आत्म कल्याण संभव है इसके बाद नहीं। अथवा आगामी कालचक्र के चौथे काल में पुनः अवसर मिल सकेगा किन्तु तब यह जीव कहाँ किस पर्याय में होगा। अतः विचार कर लें। पृ० 364
79. गर्भपात का निषेध - सूतक पातक का प्रतिषेध- आज घर-घर में गर्भपात प्रारम्भ हो गया है। कसाई के घर का पानी पीना निषिद्ध है तब अपनी ही संतान के टुकड़े-टुकड़े करवाने वाले के घर कैसे आहार-पानी लिया जा सकता है। जब तक वह प्रायश्चित्त नहीं लेता है सूतक का दोष है। आजकल सूतक-पातक व्यवस्था का भी निषेध कतिपय लोग करने लगे हैं यह आगम विरुद्ध है। सूतक पातक केवल चरम शरीरी, तद्भव मोक्षगामी या त्रेसठशलाका पुरुषों को नहीं लगता शेष सभी को लगता है। तिलोप्य पण्णति मूलाचारादि ग्रंथों में यह व्यवस्था है अतः पालनीय है। पृ० 365
80. गुरुपास्ति/साधु सेवा की प्रेरणा- हमने तीर्थंकर महावीर को प्रत्यक्ष नहीं देखा किन्तु उनकी मुद्रा आज भी विद्यमान है। अतः महावीर मुद्राधारी जब नगर-घर-द्वार पर आवे तो अवश्य गुरुपासना - आहारादि दानकर घना आनन्द ले लेना। जड़ रत्नों का घड़ा घर में मिलने पर छिपायेगा और रत्नत्रय 'धारी' के आने पर दूसरे को प्रेरित करेगा। यह अभागापन है। जड़ रत्न तो किसी भी काल में कहीं भी मिल जायेंगे किन्तु रत्नत्रयधारी केवल 2 ही काल (चतुर्थ-पंचम) में ढाईद्वीप में ही मिलेंगे। पृ० 366
81. स्वरूप सम्बोधन की रटना नहीं- घटना घटायें- निज पर पहिचानें- निजात्मा को निजात्म से समझाना/सम्हालना ही स्वरूप सम्बोधन है। निर्वाण स्वरूप सम्बोधन की रटना मात्र से नहीं, अनुभव रूप घटना से ही होगा। श्रेणी-

आरोहण भी स्वरूप सम्बोधन से होगा। जिनशासन की रक्षार्थ आक्षेपिणी-विक्षेपिणी कथा किन्तु समाधि के लिए संवेगिनी-निर्वेगनी कथा अपेक्षित है। हिस्सा मांगे जाने पर अपना बेटा भी पराया प्रतीत होने लगता है। रागद्वेष से परे निजात्म तत्व अवश्य पहिचाने। पृ० 369-371

82. साधु कौन? साधु अर्थात् सज्जन/अच्छ व्यक्ति, किन्तु जो स्वयं सज्जन हो वही दूसरे को सज्जन रूप में पा सकता है। अच्छे मन-वाणी से ही सज्जनता झलकती है। मंगलमय वातावरण बनता है। घर-बाहर यही प्रयोग करें। सज्जनों की संगति में दुर्जन भी सज्जन बन जायेगा। "भवत्यभद्रोऽपि समन्तभद्रः" हे भगवन आपके पादमूल में अभद्र भी आकरसमन्तभद्र बन जाता है। इन्द्रभूति-अग्निभूति- वायुभूति आदि 500 महावीर को समझाने आये थे किन्तु साधु को देखकर सभी असाधु साधु बन गये। अर्थात् मंगलमय योगत्रय से मंगल ही होता है। पृ० 373-74
83. आराध्य की आराधना पुजारी बनकर विश्वास से करो- हम याचक / भिखारी बनकर नहीं पुजारी बनकर सम्यक् भाव-द्रव्य पूर्वक विधि से आराध्य की आराधना करें। हीन द्रव्य-भाव से पुण्यक्षीण होता है। अतः पुण्य क्षीण नहीं करे। पुण्य बढ़ाये, अपने देवशास्त्रगुरु की आराधना विश्वासपूर्वक ही करें तभी कल्याण होगा। वेदों, शास्त्रों व आत्मा का पाण्डित्य भिन्न-भिन्न है। वेदों का ज्ञान मुख तक/मस्तिष्क तक होता है किन्तु आत्मा का पाण्डित्य ध्रुव अखंड ज्ञायक स्वरूप होता है अतः वही विश्वास योग्य है। पृ० 375-376
84. साधु के नाम के साथ 'सागर' विशेषण क्यों- श्रमण संस्कृति दासता की नहीं, स्वाधीनता की संस्कृति है। भक्त और भगवान में केवल राग और वीतराग दशा का अन्तर है - यथा - 'जो मैं हूँ वह है भगवान, मैं वह हूँ जो है भगवान। अन्तर यही ऊपरी जान, वे विराग यहाँ राग वितान'। पुनश्चसागर। समुद्र के समान योगी। साधु गंभीर होता है। यथा समुद्र में मोती होते हैं वह अपनी सीमा का उल्लंघन नहीं करता तथैव साधु में रत्नत्रय के मोती हैं वह भी सीमाओं का उल्लंघन नहीं करते इसीलिए सागर प्रयुक्त है। पृ० 378
85. द्रव्य -भाव तीर्थ - श्रमण संस्कृति के संरक्षण की प्रेरणा- जो जीव व्यवहार को नहीं मानता है वह व्यवहार तीर्थ का और निश्चयनय को नहीं मानने वाला भाव/निश्चय तीर्थ का शत्रु है। निजध्रुव आत्माराधना तीर्थरूप पुण्य भूमि पर ही कर पाओगे। क्योंकि सरागावस्था में सालम्ब ध्यान गृहस्थ की दशा है परोक्ष में भी श्रमण संस्कृति वंदनीय है। सोनागिर प्रवेश होने पर आचार्य श्री विमल

सागर जी शिष्य आचार्य विराग सागर को लेने पहुँच गये। जब विराग गुरु ने प्रश्न किया तो विमल सागर जी ने कहा गुणवंदना हेतु मैं विराग सागर को लेने नहीं मैं तो तीर्थकर मुद्रा की अगवानी करने गया था। यह आदर्श अनुकरणीय है। पृ० 381

86. तीर्थों के भेद व मोक्षमार्ग की एक्यता— पूजन पद्धतियाँ भिन्न— भिन्न हो सकती हैं किन्तु रत्नत्रय रूप मोक्षमार्ग तो एक ही है। श्रमण संस्कृति चेतन तीर्थ है। तीर्थ क्षेत्र अचेतन तीर्थ हैं और तीर्थकर की वाणी/जिनवाणी शाश्वत तीर्थ है। गुरु के शुभाशीष से विद्यामंत्र की सिद्धि होती है। "आयरिय पसादो विज्झा मतं सिज्झति" ॥ गुरुशुभाशीष जयवंत होता है। ऐसे मोक्षमार्गी गुरु के प्रति सदैव आस्था/समर्पण रखना चाहिए। पृ० 383

87. वात्सल्यगुण से ही धर्म—आत्म प्रभावना— बुन्देलखण्डीय संस्कृति में गजरथादि प्रवर्तन कराने पर सिंघई आदि उपाधि प्राप्त होती है। अच्छा है किन्तु कराने वाले को परिजन—पुरजनादि के मध्य वात्सल्य भावपूर्वक ही यह पुनीत कार्य करना चाहिए। देवपत—खेवपत धनहीन थे, धर्महीन नहीं प्रतिफल स्वरूप ज्वार के दाने मोती बन गये और उन्होंने उनका सदुपयोग कर धर्म संस्कृति का संरक्षण, सम्बर्द्धन कर निज पर, प्रभावना की। श्रमण संस्कृति वंदनीय रहेगी— "जब तक होगा अवनी और अम्बर, तब तक भारत भूमि पर विचरण करेगा दिग्म्बर" ॥ पृ० 385

88. श्रमण संस्कृति के संरक्षण की प्रबल प्रेरणा— हम केवल नाम के मुमुक्षु नहीं, कमण्डल वाले मुमुक्षु मंडल बनायें। दीक्षा लेने वाला तो पुण्यात्मन है ही देखने वाला भी पुण्यात्मा है। आत्मानुशासन में ग्रंथकार कहते हैं—

"पराकोटि समारुदौ द्वावेव स्तुतिनिन्दयो, यस्त्यजेत्तपसे चक्रं, यस्तयो विषयाशयाः॥164॥

इस जगत में उत्कृष्ट स्तुति व निन्दा के 2 ही पात्र हैं जो विषय कषाय के लिए तपस्या छोड़ता है वह निन्दा का तथा जो तपस्या के लिए चक्रवर्ती पद छोड़ रहा है वह स्तुति का पात्र है। सच्चा मुमुक्षु ही स्तुत्य है। श्रमण—संघों में चतुर्विध संघ के रूप में विभिन्न प्रान्तों के भव्यजीव साथ बैठते रहते हैं। ये सभी पुण्यात्मन ही हैं। धरती के सभी नव कोटि मुनिराज वंदनीय हैं। भोजपुर में आचार्य विद्यासागर जी ने पास में बिठाकर बहुत सीख दी, पूज्य गुरुदेव आचार्य विराग सागर जी ने 1996 में समस्त संघ को सद सीख दी अपनी अर्थात् आगम की

बात करना, दूसरे की बात को झूठ नहीं करना। क्योंकि "आगम चक्रू साहू" ॥ इसलिए आगमानुसार वाले श्रमण वंदनीय संरक्षणीय हैं। पृ० 388-389

89. विधि का विधान/विधि (भाग्य) होने पर विधियां मिलती हैं— विधि/ भाग्य/ पुण्योदय होने पर सभी विधियाँ/सुयोग मिलते हैं। माँ ने बेटे की भावनापूर्ण करने हेतु खीर बनाई और देने के लिए श्रमण को भोजन कराने का बच्चे को बोलकर पानी भरने चली गयी, सिर पर घड़ा लेकर आई, उधर से आते मुनिराज की विधि यही थी सो विधि मिल गयी – आहार – जयजयकार हुआ। गुरु सेवा का फल सदैव श्रेष्ठ होता है। इसलिए गुरुसेवा का कर्तव्य करना। पृ० 390
90. निषधिका और उसकी वंदना से लाभ— जिस भूमि पर श्रुत का लेखन – वाचन होता है वह भी तीर्थ भूमि है। 17 प्रकार की निषधिकायें— प्रतिक्रमत्रयी ग्रंथ में उल्लिखित है— निर्ग्रन्थ मुनि की समाधि स्थली निषधिका है। यही नसिया जी रूपान्तरित हो गया है। अरिहंत बिम्ब, तीर्थकरादि के 5 कल्याणक स्थल, श्रुताराधना स्थली आदि सभी निषधिकायें हैं। सभी साधु षडावश्यकों के रूप में इनकी वंदना करते हैं। निषधिका वंदना कर्ता के आयुबंध होने पर ऋजुगति में गमन होता है वक्र मज्ज वालों के वक्रगति होती है। पृ० 392-93
91. समाधि और समाधिमरण में अन्तर— समाधि का अर्थ मरण नहीं बल्कि सम + धी अर्थात् प्राणी मात्र के प्रति समान बुद्धि का अथवा निज स्वरूप में लीन होने का, चित्त की निज में लीनता होना समाधि है और ऐसी समाधि सहित मृत्यु होना समाधि मरण है। समाधि रहित मृत्यु का होना मरण है समाधि नहीं। पृ० 394
92. चातुर्मास माहात्म्य— श्रमणगण चातुर्मास में एक जगह ठहर कर धर्म प्रभावना करते हैं। मात्र यह चातुर्मास नहीं। योगी स्वद्रव्य— क्षेत्र— काल — भाव में लीन होता है उसका यही निज चतुष्टय चातुर्मास है। वन— उपवन, ग्रीष्म, वर्षा, शीतकालादि में मूलगुण वही उतने होते हैं। अन्तरंग चातुर्मास यथाशक्य निजलीनता है और बहिरंग चातुर्मास धर्मध्यान पूर्वक धर्मप्रभावना है। पृ० 395
93. श्रमणत्व सदैव पूज्य है— अमरावती चातुर्मास – शुद्धि को जाते समय एक महाराष्ट्रियन 5 वर्षीय बालक की घटना से सिद्ध किया है कि श्रमणत्व सर्वत्र सदैव पूज्य है रहेगा। बालक कहता है कि "आई—आई—लवकर आ....." जैनियों के भगवान जा रहे हैं। अतः श्रद्धालु के लिए मुनिमुद्रा जिन मुद्रा है।

जैसे हम पाषाण प्रतिमा में स्थापना निक्षेप से चतुर्थकालीन अरिहंत-समवशरण की कल्पना कर लेते हैं तथैव पंचमकालीन श्रमणों में चतुर्थकालीन श्रमण स्वरूप देखें। सोनागिर- विपुलाचल पर विराजित चन्द्रप्रभू - महावीर को साक्षात् समवशरण मानकर जिनदेशना का श्रवणकर! शास्त्रों को मात्र कागज नहीं समझें। देवशास्त्रगुरु में श्रद्धान स्थापित करें। पृ० 396

94. वैभव से वे-भव होना सार्थक है- यह जीव वैभव के नाश होने पर बहुत रोता है किन्तु वे-भव होने के लिए नहीं। नेत्रों में स्वास्थ्य लाभ एवं आध्यात्मिक दृष्टि से सजलता सदैव रहना चाहिए। क्योंकि यदि मस्तिष्क का जल सूख जाये तो वह निष्क्रिय हो जाता है उसी प्रकार धर्मायतनों के प्रति धर्मवात्सल्य सूखना नहीं चाहिए। धर्मारोधना केवल ड्यूटी बतौर नहीं रुचिपूर्वक कर्तव्य सहित होना चाहिए। पृ० 397

95. सत्पात्रों को/अतिथियों को दान की प्रेरणा- साधु को चौका लगाने पर - खाली रहने पर विकल्प नहीं करना चाहिए। क्योंकि सत्पात्र उत्तम, मध्यम, जघन्य भेद से 3 हैं। मुनिगणादि महाव्रती, प्रतिमाधारी देशव्रती तथा अविरत सम्यग्दृष्टि/देवशास्त्रगुरु का उपासक। घनानंद पाने के लिए घना-घना पुण्यार्जन आवश्यक है जो त्रिविध पात्र को नहीं मानता है वह प्रथम मिथ्यादृष्टि है। यथा आगमोक्त कथन -

अज्जवि तिरयज सुद्धा, अप्पा झाए विलहइ इंदत्तं।

लोयत्तियदेवत्तं तत्थ चुआणिव्वुदिं जंति ॥ 77 ॥ (मोक्ष पाहुड/अष्ट पाहुड)

कुन्दकुन्दाचार्य - सम्प्रतिकाल / आज भी रत्नत्रय से शुद्धता को प्राप्त मनुष्य आत्मा का ध्यानकर इन्द्र व लौकांतिकादि पद प्राप्त कर वहाँ से च्युत होकर निर्वाण को प्राप्त होते हैं। अतः सत्पात्रों को दानादि देकर अतिथि सत्कार अवश्य करना चाहिए। पृ० 399

7. उपसंहार- इस प्रकार हम देखते हैं कि आचार्य श्री ने स्वरूप देशना के माध्यम से सागर में सागर समाहित किया है। आलेख के इन पृष्ठों में यह संक्षिप्त ही कथन है यदि इसे विस्तार किया जाये तो यह इक भाष्यग्रंथ हो जायेगा। इस 25 कारिका प्रमाण लघुकृति पर एक क्या कई शोध ग्रंथ प्रस्तुत किये जा सकते हैं। आचार्य श्री विशुद्ध सागर जी के सागर समान विशाल चिन्तन को एक पोखर में समेटने का यह अल्प धी कृत प्रयास है। 400 पृष्ठीय देशना को 21 पृष्ठों में समेटना हास्यपूर्ण ही होगा फिर भी किया है।

स्वरूप देशना मेरी दृष्टि में सैद्धान्तिक/व्यवहारिक तौर पर एक ऐसा 'भारती भवन' जहाँ कि वाणी वीणा गुंजन करती हुयी नरभव की सार्थकता सिद्ध करती है। जिनदेशना की ये झंकारे अल्पविवेकी को भी झंकृत किये बिना नहीं रह सकती है। जैनत्व के सिद्धान्तों को अनुभव के यथार्थ धरातल पर प्रस्तुत करना सहज सम्भव नहीं है। फिर भी आचार्य श्री ने किया है जो स्तुत्य कार्य है। तीर्थंकर महावीर के लघुनन्दन आचार्य श्री तीर्थंकर की ही प्रतिकृति प्रतीत होते हैं। उनकी समग्रचर्या मूलाचार/भगवती आराधना की प्रयोगशाला है। उनके मनन-चिन्तन को श्रवणकर गुनना आत्मसात करना जीवन की अपूर्व उपलब्धि है। ऐसे आचार्य श्री और उनकी टीकारूप यह स्वरूप सम्बोधन/देशना कृति वंदनीय है। आत्म सुखदर्शयक है। अधिक क्या कहूँ—

“तजकर सारे वस्त्राभूषण, महावीर की भेषधरा।
 संतजनों के विचरण से ही, धरती तल है हरा भरा।
 चरण स्पर्श करते जिसको वह, कंकर भी शंकर लगते।
 पंचम युग के पूज्य श्री गुरु, हमको तीर्थंकर लगते ॥
 इत्यलम् ॥ सविनय नमोऽस्तु—नमोऽस्तु शासन जयवंत हो ॥

बिन्दु 6 के अन्तर्गत स्वरूपदेशना के सारभूत संदर्भ सूचिका—

1. जैन साधु योगी, वातरसायन अलौकिक हैं।
2. कैसे उद्योगपति बनें हम।
3. वस्तु स्वातन्त्रपना
4. जैनीवृत्ति स्वेच्छाचार विरोधिनी
5. स्वरूप—सादृश्य असितत्वपना
6. कारण कार्य समयसार
7. वृद्ध—बाल—अतिबाल बनना
8. पुण्य पुरुषों के स्मरण से पापों का क्षय
9. वस्तुस्वरूप नयातीत है।
10. स्त्री परिभाषा
11. आश्रम व्यवस्था का निषेध
12. पुण्योदय की प्रबलता/माहात्म्य
13. दान कैसे देना
14. ज्ञान की परिभाषा

15. भारतभूमि यंत्रों की नहीं मंत्रों – निर्ग्रथों की प्रचारक है
16. रोटी-योगी और पूड़ी-भोगी में अन्तर
17. साधु-असाधु की परिभाषा
18. वृद्धों का माहात्म्य
19. जिनगुण सम्पत्ति होदु मज्झं
20. चतुर्विध कथार्ये एवं आत्मानुशासन
21. प्राप्ति – लाभान्तराय कर्म के क्षयोपशमानुसार ही
22. वस्तु व्यवस्था में निमित्त – नैमित्तिक सम्बन्ध
23. आठ अंगुल से विश्व विजय
24. आराध्य के प्रति ऐक्य दृष्टि
25. पर उपदेश कुशल बहुतेरे
26. मुनियों के चित्र सच्चरित्र के हैं
27. मुनियों के छह काल / समय
28. जिनशासन में साधु भगवान है।
29. श्रमणों का वात्सल्य
30. वैद्यावृत्ति कैसे करें।
31. वस्तु व्यवस्था में स्याद्वाद-नयविवक्षा
32. कर्म सिद्धान्त प्रबल-अटल है।
33. स्वयं कृत पुण्य-पाप भोक्तव्य होता है
34. पाप को पाप मान लें तो पाप निवृत्ति
35. प्रमाद परिभाषा
36. भव्य-अभव्य दूरानुदूर भव्य का सोदाहरण स्वरूप
37. वक्ता के 3 भेद व आगम लक्षण
38. श्रावक के कर्तव्य अभिषेक के भेदादि
39. परम सत्यार्थ दशा प्ररूपणा
40. आचार्य शांतिसागर जी के संरक्षण में आ० आदिसागर की समाधि
41. मुक्ति प्राप्ति का अंतरंग – बहिरंग उपाय
42. यथा मति तथा गति/यथागति तथा मति
43. सदाचरण धर्माचरण से गृहों में सुख शांति
44. शिष्य – सेवक में अन्तर

45. खानापेक्षया योगी – भोगी में अन्तर
46. योगत्रय की शुद्धि करें।
47. पुण्य-पापात्मन जीव के गर्भागम से लक्षण
48. धर्मप्रभावना-धर्माचरण –सम्यक्त्वाचरण से करें
49. जैनागम के 5 विध अर्थ/चार्वाक वृत्ति छोड़े
50. ज्ञानी बन गुरु को समर्पण करें न कि तर्क – वितर्क
51. कर्म सिद्धान्त / समय बलवान है।
52. श्री, श्रीमान, श्रीमती एवं श्रीमति वालों का माहात्म्य
53. जिनशासन के वचन परमौषधि- जिनभारती गौ का अमृतपय
54. कर्म के पर्यायवाची
55. मंत्र और तंत्र का माहात्म्य
56. हम विद्याजीवी बनें न कि श्रुतजीवी
57. श्री बाहुबली मस्तकाभिषेक-श्रमण संस्कृति का सम्मिलन
58. भट्टारकों द्वारा श्रुतसंरक्षण – श्लाघनीय कार्य
59. श्रुत क्या, श्रुतधारियों का स्मरण, 'श्री' सदुपयोग प्रेरणा
60. धर्मध्वंस काल में मौन नहीं, मुखर हों
61. समसामायिक शंका समाधान
62. सापेक्षतया गजरथ से ज्ञानरथ बेहतर है।
63. सोदाहरण व्रत पालनार्थ प्रेरणा
64. वस्तु व्यवस्था में ज्ञातादृष्टापना नहीं कर्तापना हानिकर है
65. पुण्यात्मन संयम पथिक परिवार धन्यभाग
66. संस्कृति के संस्कार एवं जिनवाणी का अमृतपान
67. गीत-भजनों में भी सैद्धांतिक कथन हो। द्रव्यचतुष्टय का प्रभाव
68. जैन संस्कृति में बिहार परम्परा क्यों?
69. पूर्वाचार्यों का पुण्यस्मरण – परनिदात्याग की प्रेरणा
70. पुण्य-पाप परिणामन और प्रतिफल
71. शुभाशुभ कर्म के चार साक्षी
72. आत्मकल्याण सर्वोपरि अन्य नहीं
73. पुण्यक्षीणता अनर्थकारी

74. प्रवचन सभा- नाट्यसभा का अन्तर, निमित्तातीत बनें
75. पराधीनता - स्वाधीनता पहिचानें
76. ध्रुव मिथ्यात्व एवं व्यवहार धर्म में अन्तर
77. साधु श्रावक षडावश्यकों का पालन कर्तव्यपूर्वक करें।
78. आत्म कल्याण के 2 ही काल
79. गर्भपात का निषेध सूतक-पातक व्यवस्था का प्रतिषेध
80. गुरुपास्ति /साधु सेवा की प्रेरणा
81. स्वरूप सम्बोधन की रटना नहीं घट में घटना घटायें
82. साधु कौन
83. अराध्य की अराधना पुजारी बनकर करें भिखारी बनकर नहीं
84. साधु के नाम के साथ 'सागर' विशेषण क्यों?
85. द्रव्य भाव तीर्थ श्रमण संस्कृति के संरक्षण की प्रेरणा
86. तीर्थों के भेद व मोक्षमार्ग की एक्यता
87. वात्सल्य गुण से ही धर्म आत्म प्रभावना
88. श्रमण संस्कृति के संरक्षण की प्रबल प्रेरणा
89. विधि का विधान, विधि होने पर विधियां मिलती हैं
90. निषधिका वंदना से लाभ
91. समाधि समाधिमरण में अन्तर
92. चातुर्मास माहात्म्य
93. श्रमणत्व सदैव पूज्य है।
94. वैभव से वे-भव होना सार्थक है।
95. सत्पात्रों को / अतिथियों को दान की प्रेरणा

कृतियाँ

- नियम-देशना
- पुरुषार्थ-देशना
(हिन्दी, अंग्रेजी)
- समय-देशना
(भाग 1 से 11 तक)
- अध्यात्म-देशना
- तत्त्व-देशना
- प्रेक्षा-देशना
- सर्वोदयी-देशना
- स्वरूप-देशना
- श्रावक-धर्म देशना
- सागार अनगार-धर्म देशना
- सामायिक-देशना
- श्रमण धर्म-देशना
- सोलह कारण भावना अनुशीलन
(अप्रकाशित)
- समाधितंत्र-अनुशीलन
(हिन्दी, अंग्रेजी)
- इष्टोपदेश-भाष्य
(हिन्दी, अंग्रेजी)
- स्वरूप सम्बोधन परिशीलन
(हिन्दी, अंग्रेजी)
- पंचशील सिद्धान्त
(हिन्दी, अंग्रेजी)
- शुद्धात्म-तरंगिणी
(हिन्दी, अंग्रेजी, मराठी)
- निजानुभव-तरंगिणी
- आत्म-बोध
- स्वानुभव-तरंगिणी
- निजात्म-तरंगिणी
- शुद्धात्म काव्य-तरंगिणी
- सद-देशना

परम पूज्य प्रातः स्मरणीय आचार्य श्री 108 विशुद्ध सागर जी

॥ जीवन बिन्दु ॥

दिगम्बर जैन श्रमण-संस्कृति के सम्प्रति नामचीन अध्यात्म योगियों की शृंखला में परम पूज्य अध्यात्मयोगी श्रमणाचार्य श्री विशुद्ध सागर जी महाराज की कीर्ति पताका सम्प्रति साहित्य-संसार में सकल रूप से फहरा रही है।

आप श्रमण-संस्कृति के परिचायक निर्लेप, निष्काम, दिगम्बर मुद्राधारी, श्रमण साधना के शुभ्राकाश में अध्यात्म के ध्रुव तारे, पंचाचार-परायण, शुद्धात्म-ध्यानी, शुद्धोपयोगी-श्रमण, स्वाध्यात्म-साधना के सजग प्रहरी, अलौकिक व्यक्तित्व एवं कृतित्व के धनी, आगमोक्त श्रमण-चर्या पालक, समयसार के मूर्तरूप, निस्पृह श्रमण-भवनाओं से ओत-प्रोत, तीव्र आध्यात्मिक अभि-रुचियों, वीतराग परिणतियों एवं वात्सल्य मयी प्रवृत्तियों से पूरित प्रत्यग्-आत्मदर्शी चलते-फिरते चैतन्य-तीर्थ, 18 दिसम्बर 1971 को राजेन्द्र नाम से म.प्र. के भिण्ड जिले के ग्राम रूर में पिता श्री रामनारायण (सम्प्रति मुनि श्री विश्वजीत सागर जी), मातु श्रीमती रत्तीबाई की कुक्षि-कक्ष से उद्भूत, 21 नवम्बर 1991 को श्रमणाचार्य श्री विराग सागर जी से मुनि दीक्षा धारी, 31 मार्च 2007 (महावीर जयंती) औरंगाबाद (महाराष्ट्र) में आचार्य पद से अलंकृत हैं।

